हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला २३२

॥ श्रीः ॥

रत्नावली-नाटिका

'प्रकाश' व्याख्योपेता
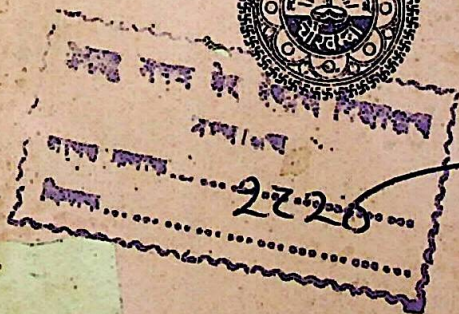
...ा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी-१

॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

२३२

महाकविश्रीहर्षदेवप्रणीता

रत्नावली-नाटिका

'प्रकाश' नामक संस्कृत-हिन्दी-व्याख्याद्वयोपेता

व्याख्याकारः—

व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य—

आचार्यः श्रीरामचन्द्रमिश्रः

मुजफ्फरपुरस्थराजकीयधर्मसमाजसंस्कृतमहाविद्यालयाध्यापकः
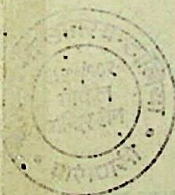
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

१९७६

THE
HARIDAS SANSKRIT SERIES
232

RATNĀVALĪ-NĀTIKĀ

OF

MAHAKAVI S'RI HARSHA

Edited with
The 'PRAKASHA' Sanskrit and Hindi Commentaries

By
Pt. RAMCHANDRA MISHRA

THE
Chowkhamba Sanskrit Series Office
VARANASI-1
1976

प्रस्तावना

आश्लिष्टसन्धिबन्धं सत्पात्रसुवर्णयोजितं सुतराम् ।
निपुणपरीक्षकदृष्टं राजति रत्नावलीरलम् ॥

अनुसन्धानमें निरत महापण्डितोंने 'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः' ऐसा कहकर कवियों का आदर किया है, या उनकी मखौल उड़ाई है, इस बातपर जबतक किसी पुरातत्त्ववेत्ताके द्वारा प्रकाश नहीं डाला गया है, और मम्मट भट्ट की 'नियतिकृतनियमरहिताम्' इस उक्ति को जब तक पक्षपातपूर्ण घोषित करने का प्रस्ताव विद्वत्समितिने नहीं स्वीकार कर लिया है, तब तक हमारे समान साधारण जनको कवियोंके लिए नतमस्तक होने के सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं है। यह तो हुई कविमात्र की बात। किसी निपुण कविके विषयमें तो और सावधानीसे बरतने की जरूरत होगी। उसी तरह के एक कविके विषयमें—उनकी कविता आदिके विषयमें यहाँ कुछ कहने का विचार है।

यह कौनसा मन्वन्तर है? इस समय कौनसी चतुर्युगी का कौन भाग बीत रहा है? ठीक रूपमें इसकी जानकारी नहीं रखने वाला अल्पशिक्षित आदमी भी इतना तो कहेगा ही कि सृष्टि बहुत दिनों से चली आ रही है। सृष्टि पहले पहल कब हुई इस पर भी बहस हो सकती है, परन्तु अन्तमें जो समय निश्चित किया जायगा, उसका मापनदण्ड लक्षाब्दी ही होगी, इसमें मुझे सन्देह नहीं है। सृष्टिके प्रथम प्रहर में मनुष्य थे या नहीं इसमें भी मतभेद की सम्भावना है, परन्तु विकासक्रमवादी भी किसी न किसी रूपमें मानुष्यक बीज को उस समयमें वर्त्तमान मानेंगे ही। उसी समयसे विकासोन्मुखी यह मानवसृष्टि अनजाने ही सभ्यता की ओर अग्रसर होने लगी। क्रमशः इशारे से काम चलाने की जगह वचनप्रयोगने ली, वचन का भी धीरे-धीरे परिष्कार हुआ। व्यवहार द्वारा वचनोंके विषय निर्धारित किये गये। इसी तहमें लिपटी सभ्यता ने जब अपने अनुभवों को–अनुभवों से होने वाले मानसिक सन्तोषों को–दूसरे को देने की प्रेरणा का अनुभव किया, उसी समय काव्य की इस धराधामपर अवतारणा हुई। इस काव्यशिशु को हजारों वर्षों तक उसी तरह पड़े रहना पड़ा होगा, उसके क्रन्दन को भी कोई सुनने वाला उस समय नहीं रहा होगा। किन्तु आरम्भमें चाहे जो हुआ हो, आगे चलकर उसकी बड़ी प्रतिष्ठा हुई, 'सङ्गीतमपि साहित्यं सरस्वत्याः स्तनद्वयम्' इस तरह के अभिनन्दनवाक्य भी उसके लिये लिखे गये। राजशेखरने तो–'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतयश्चेति चतस्रो विद्याः' इति कौटिल्यः। 'पञ्चमी साहित्यविद्ये'ति यायावरीयः। 'सा हि चत-

णामपि विद्यानां निष्यन्दः। शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन साहित्यविद्या' इतना तक कह दिया। 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति' इस कथनमें सुप्रयुक्तत्व का अर्थ यदि काव्यत्वेन प्रयोग माना जाय, तो नितान्त असङ्गत नहीं होगा—तो इसपर भी कुछ श्रद्धा करनी होगी। काव्य की महत्ता में अग्निपुराण भी साक्षी है:-'नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा। कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा'। काव्यकी महत्तामें उसकी लोकप्रियता भी जबरदस्त प्रमाण है और उसकी लोकप्रियता इसीसे सिद्ध होती है कि उसके लक्षण में आचार्यों ने कितना परिश्रम किया है। वामन से लेकर केशवमिश्र तक काव्यके लक्षण में अपना मत देते पाये जाते हैं—

१—गुणालङ्कारयुक्तौ शब्दार्थौ काव्यमिति वामनः।

२—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापीति मम्मटः।

३—एवमेव प्रभाकरोऽपि

४—निर्दोषं गुणालङ्काररसवद्वाक्यं काव्यमिति भोजराजः।

५—गुणालङ्काररीतिरसोपेतः साधुशब्दार्थसन्दर्भः काव्यमिति वाग्भटः।

६—निर्दोषं गुणालङ्काररीतिवृत्तिमद्वाक्यं काव्यमिति पीयूषवर्षः।

७—रसादिमद्वाक्यं काव्यमिति शौद्धोदनिमतम्।

८—वाक्यं रसात्मकं काव्यमिति विश्वनाथः।

९—इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली काव्यमिति दण्डी।

१०—रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्, रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरतेति पण्डितराजजगन्नाथः।

११—ध्वन्यात्मकं वाक्यं काव्यमिति महिमभट्टः।

१२—रसालङ्कारयुक्तं सुखविशेषसाधनं वा काव्यमिति केशवमिश्रः।

आज जिसकी इतनी प्रतिष्ठा की जाती है वह काव्य सर्वप्रथम किस भाषामें हुआ यह निश्चित करना कठिन है, क्योंकि बहुत सम्भव है कालचक्रके प्रभाव से बहुत सी भाषायें उत्पन्न होकर अपने आश्रय समाजके साथ अस्त हो गई हों, किन्तु जो भाषायें किसी न किसी रूपमें इस समय मिलती हैं, उनमें सर्व प्राचीन वैदिक भाषा ही है। इसमें प्रधान कारण यही माना जाता है कि आज दुनिया में जितने ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं, उनमें से सबसे प्राचीनग्रन्थ ऋग्वेद ही है, और उसकी भाषा वैदिक संस्कृत भाषा ही है। ऋग्वेदमें कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं जिन्हें काव्य मानने में किसी को आपत्ति नहीं होगी। इससे सिद्ध हुआ कि उपलब्ध काव्यमें सर्वाधिक प्राचीन काव्य ऋग्वेदके ही हैं, वे यों हैं :—

'अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्त्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः'॥ (ऋक् १.)

'सूर्यस्येव चक्षुषो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः।
वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्येतवेवः' ॥ (ऋक्. ७.)

सर्वप्रथम काव्यने गद्यरूपमें ही आत्मलाभ किया होगा, क्योंकि पद्यसे पहले गद्य का होना स्वाभाविक है। कुछ लोग तो पद्यबद्ध वाक्सन्दर्भ को ही काव्य मानते रहे हैं, किन्तु इसका खण्डन बहुत पुराने समय में ही हो गया है।

गद्यगत चमत्कार जब बहुत परिचित हो गया होगा, जब सभ्यतारूढ मानव समाज को झिल्लीझङ्कार, कोयल की कूक और निर्झरके कण-कणमें एक प्रकार की मादकता का अनुभव हुआ होगा, गतिकृत माधुर्यकी महिमाका ज्ञान हुआ होगा तब संगीतकृत आनन्दधारा और गद्यगत भावाभिव्यक्तिपाटव को मिला-जुला कर पद्यात्मक काव्यकी सृष्टिकी प्रेरणा हुई होगी, ऐसी सम्भावना की जाती है। फिर आगे चलनेपर सहस्राब्दियों तक व्यवहृत होते रहने के कारण जब पद्य काव्य के वर्ण-विन्यास अधिक परिचित होने के कारण अपनी नवीनता खो बैठे होंगे, जब इनके द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले रसोद्बोधमें कुछ फीकापन प्रतीत होने लगा होगा, और सभ्यता की उन्नतिद्वारा समुपस्थापित नृत्य-गीत आदि की मिलावटसे गद्य-पद्य को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने की भावना समाजके मानसपटलपर अङ्कुरित हुई होगी, जब कान के द्वारा सुने जाने वाले शब्दोंसे सम्भवी आनन्दके साथ आँखों द्वारा दीखने वाले दृश्योंके आनन्दको समृद्ध बनाने की भावना जागृत हुई होगी तब उसीसे दृश्यकाव्य का अवतार हुआ होगा, ऐसा हमारा अन्दाज है।

पद्यकाव्यके द्वारा जो आनन्द प्राप्त होता था, जिस तरह चारित्रिक विशेषताओं का बोध होता था, तात्कालिक इतिहासों का ज्ञान होता था, दृश्यकाव्यों ने उसमें चार चाँद लगा दिये। इतिहास जहाँ भूतकालिक समाज का निर्जीव चित्र उपस्थित करते थे, वहाँ नाटकोंने पूर्वकालिक समाजका बोलता चित्र देना प्रारम्भ कर दिया। इतिहास अस्थिपञ्जर थे तो नाटक एक षोडशी सुन्दरी, इतिहास जहाँ मुरझाये हुए फूल थे, नाटक वहाँ एक खिलती नवकलिका बनकर आया।

नाटक साहित्य की प्राचीनता

भारतीय नाटक साहित्य विचारधारा तथा विकासक्रममें मूलतः स्वतन्त्र हैं इस बात को अब सभी आलोचक मानने लग गये हैं। वैदिक साहित्य की समीक्षा से पता चलता है कि वैदिक कालमें नाटकके सभी अङ्गों—संवाद, सङ्गीत, नृत्य, एवं अभिनय—का किसी न किसी रूपमें अस्तित्व था। ऋग्वेदमें यम-यमी, उर्वशी-पुरूरवा, सरमा-पणि के संवादात्मक सूक्तों में नाटकीय संवाद का तत्त्व वर्त्तमान है। सामवेद तो संगीत-प्राण ही है। आलोचकों का अनुमान है कि ऐसे संवाद ही कालान्तरमें परिमार्जित होकर नाटकोंके रूपमें परिणत हुए होंगे। रामायण-महा-

भारत कालमें नाटकका कुछ और स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। विराट पर्वमें रङ्गशालाका नाम आया है। नट शब्द का भी वहाँ प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ श्रीधर स्वामीके अनुसार 'नवरसाभिनयचतुर' है। हरिवंश में रामायण की कथा पर आश्रित एक नाटकके खेले जानेका वर्णन आया है। रामायणमें भी 'नट-नर्त्तक-नाटक-रङ्गमञ्च' आदिका वर्णन कई जगहों पर मिलता है। रामायणमें तो 'कुशी-लव' शब्द का प्रयोग भी नट या अभिनेताके अर्थ में हुआ है। पाणिनिने 'पाराशर्य-शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' इस सूत्र में नटसूत्र अर्थात् नाट्यशास्त्र का स्मरण किया है। इससे स्पष्ट है कि उनके समयमें या उनसे पूर्व ही अनेक नाटक रचे जा चुके होंगे, जिनके आधार पर इन नटसूत्रों की रचना हुई होगी, क्योंकि लक्ष्य-ग्रन्थों को देखकर ही तो लक्षणग्रन्थों का निर्माण किया जाता है। इधर द्वितीय ईस्वी सदी पूर्व की एक प्राचीन नाट्यशाला भी छोटा नागपुर की पहाड़ियों में पाई गई है, जो नाट्यशास्त्रमें वर्णित प्रेक्षागृहोंसे मिलती-जुलती है। इस तरह संस्कृत नाटकों की अपनी परम्परा सिद्ध होती है।

संस्कृत नाटकों के रङ्गमञ्चके पर्दों के लिये कहीं-कहीं यवनिका शब्द का प्रयोग हुआ है, इसीसे कुछ पाश्चात्य विद्वान् यह अनुमान लगाते हैं कि संस्कृत नाटकोंकी उत्पत्ति यवन-अर्थात् ग्रीक नाटकों के प्रभाव से हुई है, किन्तु यह धारणा भ्रान्त है। यवनिका शब्द का प्रयोग तो केवल इसलिए होता था कि पर्दे यवन Lovia देशसे आये हुए वस्त्रों से बनाये जाते थे।

प्राचीन पद्धतिके विचार से भी नाटक साहित्य की प्राचीनता सिद्ध होती है, भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें लिखा है कि :—

महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः ! क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत् ॥
न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु । तस्मात्सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम् ॥
एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराजं विसृज्य च । सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित् ॥
धर्म्यमर्थ्यं यशस्यञ्च सोपदेशं ससङ्ग्रहम् । भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् ॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रदर्शकम् । नाट्यसंज्ञमिमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ॥
एवं सङ्कल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन् । नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ॥
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च । यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥
वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना । एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा ललितात्मकम् ॥
आज्ञापितो विदित्वाहं नाट्यवेदं पितामहात् । पुत्रानध्यापयं योग्यान्प्रयोगं चास्य तत्त्वतः ॥
एवं प्रयोगे प्रारब्धे दैत्यदानवनाशने । अभवन् क्षुभिताः सर्वे दैत्या ये तत्र सङ्गताः ॥
देवतानामृषीणां च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् । कृतानुकरणं लोके नाट्यमित्यभिधीयते ॥

शारदातनय ने भी अपने 'भावप्रकाशन' नामक ग्रंथ में लिखा है :—

'कल्पस्यान्ते कदाचित्तु दग्ध्वा लोकान्महेश्वरः। स्वे महिम्नि स्थितः स्वैरं नृत्यन्नानन्दनिर्भरम्॥
मनसैवासृजद्विष्णुं ब्रह्माणं च महेश्वरः। नियोगाद्देवदेवस्य ब्रह्मा लोकानथासृजत्॥
सृष्ट्वा स देवदेवस्य पुरावृत्तमथास्मरत्। दिव्यं चरित्रमैशं मे कथमध्यक्षतामियात्॥
इति चिन्तापरे तस्मिन्नभ्यगान्नन्दिकेश्वरः। स नाट्यवेदमध्याप्य सप्रयोगं चतुर्मुखम्॥
उवाच वाक्यं भगवान् नन्दी तच्चिन्तितार्थवित्। नाट्यवेदोपदिष्टानि रूपकाणि च यानि तु॥
विधाय तेषामेकं तु रूपकं लक्षणान्वितम्। भरतैषु प्रयोज्यं तत्त्वया सम्यग् विजानता॥
तस्मिन् प्रयुक्ते भरतैर्भावाभिनयकोविदैः। प्राक्तनानि च कर्माणि प्रत्यक्षाणि भवन्ति ते॥
एवं ब्रुवन्नन्तरधान्नन्दी स भगवान् प्रभुः। श्रुत्वैतद्वचनं प्रीतो ब्रह्मा देवैः समन्वितः॥
ततस्त्रिपुरदाहाख्यं रूपकं सम्यगभ्यधात्। अध्याप्य भरतानेतत् प्रयुङ्ध्वमिति चाब्रवीत्॥
ततस्त्रिपुरदाहाख्ये कदाचिद् ब्रह्मसंसदि। प्रयुज्यमाने भरतैर्भावाभिनयकोविदैः॥
तदेतत्प्रेक्षमाणस्य मुखेभ्यो ब्रह्मणः क्रमात्। वृत्तिभिः सह चत्वारः श्रृङ्गाराद्या विनिर्गताः'॥

उपर्युक्त समीक्षा तथा अवतरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृत नाटक ने अपने क्रमबद्ध विकास में वैदिक साहित्य, इतिहास, पुराण तथा लोक-गीतों से प्रेरणा ली। इस प्रकार भारतीय नाटक का पूर्ण विकास कई शताब्दियों-सहस्राब्दियों में हुआ। जिन नाटकों की उपलब्धि अब तक हो सकी है उनमें प्राचीनतम नाटक भास, कालिदास तथा अश्वघोष के हैं।

रत्नावली जिस कोटिकी नाटिका है, उसे संस्कृत नाटकोंके वर्गीकरणमें द्वितीय कोटिका स्थान मिलना चाहिये। कालिदास और भवभूति की नाटकीयकला जिस कोटिमें पहुँच गई है, वहाँ तक इसकी गति नहीं है।

महाकवि हर्षदेव

संस्कृत साहित्यके निर्माताओं में कम ही सज्जन ऐसे हैं जिनकी जीवनकथा अभ्रान्तरूपसें उपस्थित की जा सकती है। हमारे सौभाग्यसे हर्षदेव की कथा उपलब्ध है, और उपलब्धमात्र ही नहीं, प्रामाणिक तथा सरसभाषामें निबद्ध भी है। महाकवि बाणभट्ट ने हर्षचरितमें अगले पाँच उच्छ्वासों में इसका पूरा इतिहास दिया है। उसके अनुसार—सरस्वती नदीके किनारे कुरुक्षेत्रके समीप स्थानेश्वर (थानेसर) नामक एक प्रसिद्ध नगर था। वहाँ पुष्पभूति नामक एक परमशैव राजा राज्य करते थे। उनके वंशमें कालक्रमसे महाप्रतापी महाराज प्रभाकरवर्द्धन—जिनका दूसरा नाम प्रतापशील भी था—हुए। उनको 'यशोमती' नामकी रानी से तीन सन्तानें हुईं। दो पुत्र तथा एक कन्या। क्रमशः पुत्रों का नाम राज्यवर्द्धन तथा हर्षवर्द्धन और कन्याका 'राज्यश्री' था। प्रभाकरवर्द्धनने हूणों को जीतकर

गान्धार, लाट तथा मालवदेश तक अपना प्रभुत्व विस्तृत किया। कान्यकुब्जके राजा अवन्तिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्माके साथ राज्यश्री का विवाह हुआ। इसी समय उत्तर देशमें हूणोंने फिर सिर उठाया और कुछ उपद्रव किया। उन्हें दबानेके लिए महाराज प्रभाकरवर्द्धनने अपने ज्येष्ठ पुत्र पराक्रमी राज्यवर्द्धनको भेजा। अपने बड़े भाई के साथ कुमार हर्षवर्द्धन भी हिमालय तक गये। उनके भाई तो आगे बढ़े, किन्तु कुमार हर्षवर्द्धन वहीं शिकार खेलते रहे। इसी समय राजधानीसे राजाकी अस्वस्थताका समाचार लेकर दूत पहुँचा और कुमार हर्षवर्द्धन अपने भाई को इस बातकी खबर देनेके लिये दूत भेजकर अविलम्ब राजधानी लौट आये। उनके आते ही महाराज प्रभाकरवर्द्धनने अन्तिम सांस ली। इनकी माता तो विधवा होने के भय से पहले ही अग्नि-प्रवेश कर चुकी थीं।

महाराज प्रभाकरवर्द्धनकी मृत्युके समाचारसे उत्साहित होकर दुर्वृत्त मालवाधीशने कान्यकुब्जाधीश्वर ग्रहवर्मापर धावा बोल दिया। युद्धमें ग्रहवर्मा मारे गये, उनकी पत्नी राज्यश्री बन्दिनी हो गई। इस समाचारके मिलने पर नवराज्यारूढ राज्यवर्द्धन तिलमिला उठे। उनकी मानसिक स्थिति असन्तुलित हो उठी। उन्होंने राज्यका प्रबन्ध अपने कनिष्ठ भाई हर्षवर्द्धन पर छोड़कर सेना सजा मालवाधीश पर चढ़ाई कर दी। मालवाधीश उस युद्धमें मारा गया। मालवाधीश के मित्र गौडेश्वर शशाङ्कदेव गुप्तके विश्वासघाती आचरण से मार्गमें ही राज्यवर्द्धनको भी अपने प्राण खोने पड़े।

इस संवादको सुनकर भी हर्षवर्द्धन घबराये नहीं, उन्होंने तत्काल कान्यकुब्ज की यात्रा कर दी। रास्तेमें राज्यवर्द्धनके सहचर ससैन्य भाण्डीसे उनकी भेंट हुई। उसने हर्षवर्द्धनको और बातों के साथ यह बात भी कह दी कि राज्यश्री अब कारागृहमें नहीं है, वह मुक्त होकर विन्ध्यारण्यमें भाग गई है। इस पर हर्षवर्द्धनने भाण्डीको समस्त सेना लेकर आगे बढ़ने को कहा और स्वयं विन्ध्यारण्यमें बहन की खोजमें जाना पसन्द किया। विन्ध्यारण्यमें पहुँचने पर हर्षवर्द्धनको बौद्धभिक्षु दिवाकर मित्रसे भेंट हुई। वहीं उन्होंने सुना कि एक सुन्दरी स्त्री चितामें प्रवेश करने की तैयारी कर रही है। सुनते ही वे वहाँ गये, और राज्यश्रीको प्राणत्याग करनेसे रोका। राज्यश्री प्राणत्याग करनेसे रुकी, किन्तु उसने फिर संसार में आना नहीं चाहा और वह वहीं दिवाकर मित्रके आश्रममें ब्रह्मचारिणी बनकर रहने लगी। इसपर सन्तुष्ट होकर हर्षवर्द्धन वहाँ से लौटकर अपनी सेनामें आ गये जो भाण्डी की देखरेखमें गङ्गातट पर पड़ाव डाले बैठी थी। (इसके बादकी कथा अन्य इतिहास ग्रन्थोंपर आधारित है।) हर्षवर्द्धनने गौडेश्वर शशाङ्कदेव पर चढ़ाई की। अपने बड़े भाई राज्यवर्द्धनके वधका बदला उसे मारकर लिया। उन्होंने बाध्य

होकर सूनी गद्दी पर आरूढ होना स्वीकार किया। उनका राज्य बहुत समृद्ध तथा निरुपद्रव रहा। उन्होंने बलभीमें ध्रुवसेनको परास्त किया।

उनके दरबारमें बाणभट्ट तथा मयूर सदृश कवि थे। उनके समय में ही प्रसिद्ध चीनी पर्यटक ह्वेनसांग आया था, जो कुछ दिनों तक उनका अतिथि रहा। श्रीहर्ष का समसामयिक राजा पुलकेशी था, जिसका दक्षिणमें राज्य था। उसका एक शिलालेख भी मिला है। उसी शिलालेखमें कालिदास और भारविका नाम भी आया है। हर्षवर्द्धनके साथ पुलकेशीका युद्ध भी हुआ था, जिसमें हर्षवर्द्धनकी हार हुई। इन सभी बातों की प्रामाणिकताके लिये महामहोपाध्याय प० रामावतार शर्मा एम्० ए० का 'भारतीयमितिवृत्तम्' नामक ग्रन्थ साक्षी है उसमें लिखा है :—

प्रायोऽस्मिन्समये राजा श्रीप्रभाकरवर्धनः। प्रतापशीलान्वाख्योऽभूत्स्थाण्वीश्वरपुरेश्वरः॥
अथ प्रतापशीलस्य राज्ञो देवी यशोमती। सुषुवे तनयौ राज्यवर्धनं हर्षवर्धनम्॥
पितर्युपरते राज्यवर्धनो मालवैः सह। युध्यमानः शशाङ्केन गौडेशेन हतश्छलात्॥
निहते कान्यकुब्जेशे ग्रहवर्मणि मालवैः। बन्दीकृतास्य राज्यश्रीर्भार्या हर्षस्वसा बलात्॥
पलाय्य बन्धनाद्विन्ध्यकानने भ्रमतिस्म सा। देवतेव वनस्याग्रे दावानलभयद्रुता॥
स्वसारं गहनेऽन्विष्य शात्रवेभ्योऽतिवाह्य च। जित्वा शशाङ्कं गौडेशं हर्षो निर्वृतिमाप्तवान्॥
वलभ्यां ध्रुवसेनं स नेपालाँश्चोग्रविक्रमः। जितवान्नर्मदापारे निरस्तः पुलकेशिना॥
सचित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवनीपतिः। कृतीव मृगयुश्चक्रे योगं बाणमयूरयोः॥
सभायां हर्षदेवस्य तीर्थयात्रार्थमागतः। मतिमान् ह्यशुङ्गाख्यश्चीनश्चक्रे चिरं स्थितिम्॥
रत्नावलीं तथा नागानन्दं च प्रियदर्शिकाम्। रूपकत्रितयं चक्रे श्रीहर्षो निपुणः कविः॥

उनके राजत्वकालमें चीनी यात्री ह्वेनसांग आया था, उसने अपनी आँखों देखी बातें लिखी हैं। उसके अनुसार हर्ष एक महान् वीर तथा बुद्धिमान् राजा थे। उनके राज्यका विस्तार हिमालयसे नर्मदा तथा मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र और कुछ दूर तक वङ्गमें भी था। उनके समयमें राजस्वका जरिया मुख्यतः मालगुजारी ही था, अन्य प्रकारके कर नाममात्रके थे। अपराध कम होते थे, प्रजा सुखी तथा सन्तुष्ट थी। उनका सुशासन राज्यव्यापक था। उसमें शिक्षाका विस्तार किया गया था। राज्यकी ओर से शिक्षाविभागमें काफी व्यय किया जाता था। विद्वानोंको राज्यका आश्रय प्राप्त होता था, महाकवि बाणभट्ट तथा मयूर उनके दरबारके प्रसिद्ध कवि थे। हर्ष स्वयं ग्रन्थ लिखनेके व्यसनी थे। उन्होंने तीन रूपक, उपरूपक तथा एक व्याकरण ग्रन्थ लिखा था।

यद्यपि कुछ लोग इन सभी ग्रन्थोंको एककर्तृक नहीं मानते हैं परन्तु अधिकांश लोगोंकी रायमें यह सभी ग्रन्थ महाराज हर्षके ही बनाये हैं।

महाराज हर्ष अपने शासनके अन्तिम भागमें धर्मप्रवर्त्तक तथा दयालु हो

गये थे, उन्होंने धार्मिक सभायें कीं तथा खुलकर दान दिया। उनके शासनके ३५ वर्ष तो बड़ी शान्तिसे बीते, परन्तु अन्तिम भागमें कुछ परिवर्त्तन हुआ। चालुक्यवंशी राजा पुलकेशीने उन्हें नर्मदा-पारमें प्रभुत्व विस्तार करनेसे रोका।

महाराज हर्षदेवके ऐतिहासिक पुरुष होनेके कारण उनका समय सर्वथा निर्धारित है। म० म० रामावतार शर्मा तथा विदेशी शोध-परायण ऐतहासिकोंके मतमें हर्षका राज्यकाल ६०६ खीष्टाब्दसे ६४६ खीष्टाब्द तक है।

क्या हर्षदेवने किसी पण्डितको द्रव्य देकर ग्रंथ लिखवाये? यह आशङ्का भी कुछ लोगोंकी ओरसे की गई है। इस आशङ्काकी तहमें दो बातें हैं। एक यह कि उस तरहके वीर तथा युद्धरत राजाको साहित्यसर्जनके लिये समय कहाँ से मिलता रहा होगा? दूसरी काव्य-प्रकाशकी यह पङ्क्ति 'श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्' है। इन दोनों विषयों पर यहाँ थोड़ा विचार किया जायगा।

प्रथम बातमें कुछ खास तत्त्व नहीं है। जब किसी महाराजकी साहित्यसृष्टि की रुचि होगी, तो उसे समय मिल जायगा। व्यस्त जीवनमें भी अपने व्यसन का त्याग नहीं कर दिया जाता है। पहले के दिनोंमें शासनका बहुत बड़ा भाग तो मन्त्री निभाते थे। राजा तो केवल निर्देशक भर रहा करते थे। जनक को यदि योग साधनका, अशोकको धर्मप्रचारका और महाराज शिवसिंहको विद्यापतिकी कविता पर अपने विचार व्यक्त करने का समय मिल जाता था तब महाराज हर्ष को इतना समय अवश्य मिलता रहा होगा कि वह अपने शासनके ४० वर्षोंमें तीन-चार छोटे-छोटे ग्रंथ लिख सकें। पुरानी बातको छोड़ दें, तथापि समय मिलने का दृष्टान्त दिया जा सकता है। क्या विंस्टन चर्चिल कम कार्य व्यस्त हैं, फिर भी आज उनकी ख्याति उत्तम अंग्रेजी गद्यलेख के लिये है। क्या पण्डित जवाहरलाल जी का समय कार्यभारसे कम घिरा रहता होगा तथापि उनके पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ निकलते ही हैं।

अब रही 'श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्' वाली बात। काव्यप्रकाशके टीकाकार (१) महेश्वर, नागेशभट्ट, वैद्यनाथ और जयरामने पूर्वोक्त काव्य-प्रकाशकी पङ्क्ति की व्याख्या इस तरह की, 'रत्नावली नाटिका श्रीहर्षके नाम पर लिखकर धावक-

(१) 'श्रीहर्षो राजा धावकेन रत्नावलीं नाटिकां स्वनाम्ना कारयित्वा बहुधनं तस्मै दत्तवान्' इति काव्यप्रकाशादर्शे महेश्वरः। 'धावकः कविः, स हि श्रीहर्षनाम्ना रत्नावलीं कृत्वा बहुधनं लब्धवान्' इत्युद्द्योते नागेशभट्टः। 'श्रीहर्षाख्यस्य राज्ञो नाम्ना रत्नावलीं नाटिकां कृत्वा धावकाख्यकविर्बहुधनं लब्धवानि'ति प्रसिद्धमिति प्रकाशप्रभायां वैद्यनाथः। 'धावकनामा कविः स्वकृतां रत्नावलीं नाम नाटिकां विक्रीय श्रीहर्षनाम्नो नृपाद् बहुधनं प्रापेति पुराणवृत्तम्' इति प्रकाशतिलके जयरामः।

कवि ने श्रीहर्ष से बहुत सा धन प्राप्त किया।' इस उक्ति की सारवत्ता नितान्त सन्दिग्ध है।' कालिदासने जो किसी भी तरह ५ वीं शताब्दीसे इधरके नहीं कहे जा सकते, अपने मालविकाग्निमित्रकी प्रस्तावनामें धावकको स्मरण किया है, अतः श्रीहर्षके समयमें उन्हें किस तरह लाया जा सकता है जो असन्दिग्ध रूपमें ७ वीं शदीके महाराज थे। इसके अतिरिक्त हर्षने किसीको धन दिया इसका अर्थ यही भर नहीं लगाना चाहिये कि उन्होंने उसकी कीर्ति खरीदकर ही दिया। इससे तो उसकी तथा उस क्रेता की निन्दा ही हो जाती है। यह प्रथा उस समय रही भी नहीं होगी। यदि भोजराज किसी कवि को यथेष्ट धन दे सकते हैं, तो क्या हर्ष नहीं दे सकते ?। यदि हर्ष को इस तरह कवि कहलाने की प्यास होती तो उन्होंने अपने आश्रित बाणभट्ट की कादम्बरी ही क्यों न खरीद ली ?

काव्यप्रकाशकी निदर्शना टीकामें उपर्युक्त पङ्क्ति की व्याख्यामें 'धावक'की जगह 'बाण' का नाम लिखा गया है, उसीको अवलम्बन मानकर 'हॉल' नामक एक पाश्चात्य पण्डितने कल्पना कर ली कि रत्नावली बाणभट्टने हर्ष के नाम पर बना दी है। इस कल्पना की पुष्टिमें उनका कहना है कि रत्नावलीमें वर्त्तमान 'द्वीपादन्य-स्मादपि' यह श्लोक बाणरचित हर्षचरित में भी पाया जाता है। इस कथन से सन्देह अवश्य उत्पन्न हो सकता है निर्णय नहीं। बाण श्रीहर्षके आश्रित थे, उन्होंने उनसे धन पाया इससे रत्नावलीका कर्तृत्व तो उन पर जाता नहीं, रही श्लोकसाम्य की बात। इस विषय में यह विचारणीय है कि क्या किसी कवि का एक श्लोक लेने भरसे उस ग्रन्थका कर्तृत्व छोड़ देना पड़ता है ?। यदि ऐसी बात होगी तब तो मनुस्मृतिके श्लोक जिन स्मृतियों में पाये जाते हैं वे सभी स्मृतियाँ मनुजी की मानी जाने लगेंगी, और शिवपुराण के श्लोकका क्रोडीकरण देखकर कुमारसम्भव भी व्यासदेवका ग्रन्थ माना जाने लगेगा। अतः यही मानना न्यायसङ्गत है कि हर्षदेवने प्रसन्न होकर ही धावकको, बाणको या और किसी कवि को धन दिया था, उनका ग्रन्थ खरीदकर नहीं।

इस तरह यह सिद्ध होता है कि हर्षदेवने रत्नावली बनायी। यहाँ एक सन्देह रह जाता है कि ये हर्षदेव कौन थे ? संस्कृत साहित्यमें तीन हर्षका नाम आता है, एक प्रसिद्ध दार्शनिक तथा नैषधीय चरित प्रणेता हर्ष, दूसरे काश्मीराधीश श्रीहर्ष, तीसरे प्रभाकरवर्द्धनके पुत्र हर्षदेव। प्रथम श्रीहर्षको उनकी भाषाशैली तथा प्रौढि ही रत्नावलीके कर्त्ता होनेसे बचा रही है। रह गये काश्मीराधीश श्रीहर्ष उनके विषयमें राजतरङ्गिणीमें एक श्लोक है—

'सोऽशेषदेशभाषाज्ञः सर्वभाषासु सत्कविः। कृत्स्नविद्यानिधिः प्राप ख्यातिं देशान्तरेष्वपि'॥

राजत० ७ त० ६११ श्लो०।

इसी पर कुछ पाश्चात्य पण्डितोंने मान लिया है कि कारमीराधीश ही रत्नावली प्रणेता थे। इसका खण्डन तो इसी से हो जाता है कि महाराज भोजदेवने, जो कारमीराधीश श्रीहर्षदेवके पितामह अनन्तदेवके समसामयिक थे, अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में रत्नावली के श्लोक उद्धृत किये हैं। अनन्तदेव का समय ईस्वी सन् १०६५ के आसपास माना जाता है, इस स्थितिमें ७ वीं सदी में बनकर प्रख्यात हो जाने वाली रत्नावली उनकी रचना कैसे हुई ? एक बात और, दशरूपक-प्रणेता धनञ्जय या धनिक, जो अपने को मुञ्जके (१) दरबार का मानते हैं, अपने दशरूपक नामक ग्रन्थमें रत्नावलीके उद्धरण दिये हैं। मुञ्ज का समय १०३० ईस्वी सन् से पहले ही सर्ववादि-सम्मत है, उस समय तक तो अनन्तदेवका भी इतिहासमें पता नहीं चलता है, तब कारमीराधिपति हर्षदेव भला किस तरह हुए होंगे और रत्नावली कैसे उनके द्वारा लिखी गई होगी। अतः यह भ्रम ही है। इन प्रसङ्गों से सिद्ध हुआ कि रत्नावलीके निर्माता हर्षदेव ही थे।

हर्षदेवके अन्य ग्रन्थ

श्रीहर्षदेवने रत्नावलीके अतिरिक्त प्रियदर्शिका और नागानन्द नामक दो और ग्रन्थ लिखे हैं। इसके प्रमाण स्वरूप ये बातें उपस्थापित की जा सकती हैं। १–इन तीनों दृश्यकाव्योंकी प्रस्तावनामें एक ही रचयिता (श्रीहर्ष) का उल्लेख किया गया है। २–प्रियदर्शिका और नागानन्दमें दो श्लोक समान हैं। ३—एक श्लोक प्रियदर्शिका और रत्नावलीमें भी अभिन्न है। इन नाटकों की शैलीमें भी पूर्णसाम्य है। इन बातों पर विचार करने पर यह बात प्रमाणित होती है कि इन तीनों दृश्यकाव्योंका प्रणयन किसी एक ही कविके द्वारा हुआ है।

रचनाक्रमके अनुसार प्रियदर्शिका श्रीहर्षकी प्रथम रचना है, उनकी अन्य दो रचनाओंकी अपेक्षा इसमें नाट्यकलाका क्रम-परिष्कार लक्षित होता है। रत्नावली श्रीहर्षकी दूसरी रचना है, क्योंकि यह अधिक परिष्कृत तथा कलापूर्ण है। नागानन्दनाटक यद्यपि रत्नावलीके समान प्रौढ़ एवं परिमार्जित नहीं है, तथापि इसमें बौद्ध आदर्शों का निरूपण है जिधर उनका झुकाव अन्तमें हुआ होगा। अतः यह उनकी अन्तिम कृति मानी गई। रत्नावलीका कथासार आगे दिया जा रहा है।

प्रियदर्शिकाः—चार अङ्कोंकी एक नाटिका है, इसमें राजा वत्सके अन्तःपुरकी प्रेमकहानी चित्रित है। उसमें तथा मालविकाग्निमित्रमें पर्याप्त साम्य देख पड़ता है। राजा दृढवर्मा युद्धमें पराजित होते हैं, उनकी कन्या प्रियदर्शिका दुर्घटनावश

(१) 'विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठयां वैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत्'॥ दशरूपक।

राजा वत्सके अन्तःपुरमें पहुँच जाती है, और वहाँ 'आरण्यका' नामसे दासी बनकर रहने लगती है। वत्स उसकी रूपमाधुरी पर मुग्ध होते हैं, अन्तःपुरके रङ्गमञ्चपर उसके विवाहका अभिनय होता है जिसमें स्वयं वत्स वर बनते हैं और वासवदत्ता बनती है आरण्यका। यह प्रेमाभिनय अभिनयमात्र नहीं रहकर वास्तविक हो जाता है। रानीकी ईर्ष्या के कारण आरण्यका राजाकी दृष्टिसे हटाकर कारावासमें डाल दी जाती है। अन्तमें उसके राजकुलोत्पन्न होनेका रहस्य प्रकट होता है, और राजा तथा प्रियदर्शिकाके विवाहकी अनुमति स्वयं वासवदत्ता देती है।

हर्षको इस कथानकका बीज बृहत्कथासे प्राप्त हुआ है, फिर भी यह माननीय है कि उसके विकास में कविने अपनी कल्पना-चातुरीसे यथेष्ट मदद ली है। तीसरे अंकमें गर्भाङ्क नाटक प्रियदर्शिका की उल्लेखनीय विशेषता है। प्रसाद-गुणयुक्त शैली, सरलता, अनेक रोचक घटनाओं की सृष्टि तथा कतिपय उत्कृष्ट वर्णनों द्वारा श्रीहर्ष अपनी प्रियदर्शिकाको रोचक बनानेमें सफल हुए हैं। नागानन्द—नाटकमें पांच अङ्क हैं। जीमूतवाहन एक विद्याधर राजकुमार थे। राजा मित्रावसु की कन्या मलयवतीसे उनका विवाह हुआ था। एक दिन मित्रावसुके साथ घूमते हुए जीमूतवाहनने हड्डियोंका ढेर देखा। उसे पता लगा कि गरुड़को प्रतिदिन सांपों की भेंट चढ़ाई जाती है, उन्हीं मरे हुए सांपों की हड्डी का ढेर है। उसने दयाद्रुत हो निश्चय किया कि मैं अपनी भेंट देकर इस हत्याकाण्ड को रोकूंगा। इस विचारसे प्रेरित होकर उसने शंखचूड़ सर्प के बदले अपना बलिदान किया। गौरीने अपने तप-प्रभावसे उसे पुनः जीवित किया। अमृतकी वर्षासे गरुड़ द्वारा मारे गये सभी सर्प पुनरुज्जीवित हो उठे। अन्तमें गरुड़ ने वचन दिया कि भविष्यमें वह सांपों को न मारेंगे। इस तरह प्राणियोंके प्रति दया तथा आत्मोत्सर्ग भावना का इस नाटकमें सुन्दर निदर्शन है।

रत्नावली पर एक दृष्टि

रत्नावलीका प्रधान रस श्रृङ्गार है, और नायक धीर ललित। इसका कथानक कौतूहलसे ओतप्रोत है क्योंकि सारी घटनायें नाटकीय ढंगसे घटित होती हैं। रत्नावली अभिनयकी दृष्टि से भी सफलकृति है। वेष-विपर्यय वाला दृश्य तो अत्यन्त हृदयग्राही है। काव्यचारुत्वके साथ-साथ इसमें चरित्रचित्रण भी बड़ा मनोहर बन पड़ा है। नाट्यशास्त्रके नियमोंका पालन तो इसमें इतना सर्वाङ्गीण हुआ है कि दशरूपक तथा साहित्यदर्पणमें इसके शताधिक उद्धरण दिये गये हैं। रत्नावलीकी शैली सरस तथा प्रसाद-पूर्ण है। न इसमें दुरूह शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं, और न कठिन समासबन्ध ही। यद्यपि यह नाटिका विलासमय प्रणय चित्रित

करने के लिए लिखी गई है तथापि इसमें भारतीय मर्यादाकी उपेक्षा नहीं की गई है। शैली तो इतनी प्राञ्जल तथा सरस है कि हृदय नाचने लगता है—

यातोऽस्मि पद्मवदने समयो ममैष सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति॥

कमलिनीके झुके हुए मस्तक पर हाथ फेरते हुए अथवा अस्ताचलके शिखर पर अपनी किरण फैलाते हुए प्रस्थानोन्मुख सूर्य कमलिनीको विश्वास दिला रहे हैं कि हे कमलमुखी, अब मैं चला मेरे जानेका समय हो गया है। तुम विश्वास करो, कल प्रातःकाल जब तुम सोती ही रहोगी, मैं आकर तुमको जगाऊँगा। कितना मर्मस्पर्शी यह आश्वासन है।

कविताका माधुर्य भी रत्नावलीमें देखने ही लायक है, सन्ध्यावर्णनके प्रसङ्गमें राजा वासवदत्ता के सौन्दर्यका भी वर्णन करते जा रहे हैं, और सन्ध्या भी उचित रूपमें वर्णित होती जाती है, साथ-साथ पदमाधुरी तो अत्यन्त रमणीय है ही—

देवि, त्वन्मुखपङ्कजेन शशिनः शोभातिरस्कारिणा
पश्याब्जानि विनिर्जितानि सहसा गच्छन्ति विच्छायताम्।
श्रुत्वा त्वत्परिवारवारवनिता-गीतानि भृङ्गाङ्गना
लीयन्ते मुकुलोदरेषु शनकैः सञ्जातलज्जा इव॥

जिनको व्यङ्ग्यार्थकी शोभा देखने की इच्छा हो वे इस श्लोक को देखें :—

कृच्छ्रादूरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले
मध्येऽस्यास्त्रिबलीतरङ्गविषमे निःस्पन्दतामागता।
मद्दृष्टिस्तृषितेव सम्प्रति शनैरारुह्य तुङ्गौ स्तनौ
साकाङ्क्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने॥

इसकी व्यङ्ग्यार्थपरम्परा प्रकाशटीकामें देखें।

इस उदाहरणकी तरह और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे रत्नावली का चमत्कार विदित होगा, परन्तु विस्तार भयसे छोड़ दे रहा हूँ।

श्रीहर्षका धर्म

बौद्ध भिक्षु दिवाकर मित्रसे परिचय होने तथा नागानन्दमें भगवान् बुद्धकी स्तुति करनेके कारण हर्षदेव बौद्ध हो सकते हैं ऐसा कुछ विद्वानोंका मत है। परन्तु इसमें कुछ सार नहीं है। दिवाकरमित्र एक उच्चकोटिके भिक्षु थे, उन्होंने हर्षकी बहन 'राज्यश्री' को अपने आश्रममें आश्रय दिया था, इन कारणोंसे उनके प्रति हर्षदेवका आदर था, सौहार्द था, किन्तु इतनेसे तो उनका बौद्धधर्ममें दीक्षित होना नहीं सिद्ध हो जाता है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि बौद्ध हो जानेपर बाणभट्ट की हर्षदेवपर अश्रद्धा हो गई, इसीलिये बाणभट्टने हर्षदेवकी जीवनी 'हर्षचरित्र'को

अधूरा छोड़ दिया। परन्तु यह द्वेष-भावना बाणभट्ट सदृश प्रेमी कविके विषयमें अच्छी नहीं प्रतीत होती है। अपनी इच्छा या द्वेषभावनासे उन्होंने इस ग्रन्थको अधूरा छोड़ दिया इसके अलावे क्या ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि बाणभट्ट उतना ही लिखकर इस धराधामको छोड़ गये! या उसके आगे कोई महान् विघ्न आ पड़ा। नागानन्दके मङ्गलाचरणवाली बात तो और हेय है। जब सभी हिन्दू भगवान् बुद्धको दशावतार मानते हैं तब क्यों उनके मङ्गलाचरणमें वन्दित होनेसे हर्षदेवको बौद्ध मान लिया जाय? यदि इसी तरह किसीके धर्मका निर्णय किया जाय तब रत्नावलीके मङ्गलाचरणसे उन्हें शैव ही क्यों न मानें। अतः श्रीहर्षदेवका बौद्ध होना किसी भ्रान्तबुद्धि की उपज है, वस्तुतः वे हिन्दू शैव थे। केवल वे ही शैव नहीं थे, उनके पिता तथा भाई भी परमशैव होनेका गर्व रखते थे।

संस्कृतसाहित्यमें हर्षका स्थान

सरलता तथा शैलीकी विशेषताकी दृष्टिसे हर्षका स्थान संस्कृतसाहित्यमें नाटककारोंकी श्रेणीमें कालिदासके बादमें ही है, लेकिन यही बात नाटकीयता तथा भाषा-प्रौढिके लिये नहीं कही जा सकती है। जहाँ तक भाषाका प्रश्न है उनका स्थान नीचेकी ओर आवेगा। संस्कृत नाटकोंमें जहाँ भवभूतिकी भाषा है, जिसकी तुलनामें कालिदासका समूचा गुणगौरव बराबर होने लगता है, जहाँ विशाखदत्त, नारायण, आदिकी प्रौढि तथा शास्त्रीय पाण्डित्यकी चमक है, वहाँ केवल सरलताके द्वारा ही स्थान निर्णय किया जाय,यह एकाङ्गी विचार होगा। यदि इनके नाटकोंकी सूक्ष्म आलोचना की जाय तो ऐसा मालूम पड़ेगा, कि श्रीहर्षदेव अपनेको शास्त्रीय-तत्त्वोंकी छूतसे बचाते चले हैं, जिससे उनकी कविता कुछ हलकी-सी हो गई है। इतना होने पर भी वे निपुण कवि हैं इसमें सन्देह नहीं है, प्रसन्नराघवकार जयदेव ने तो उन्हें 'हर्षो हर्षः' कहकर अत्यधिक सम्मानित किया है। हमारी रायमें हर्षदेवका वास्तविक स्थान द्वितीय श्रेणीके नाटककारोंमें होना चाहिये, प्रथमश्रेणी तो कुछ कवियोंके लिये ही सुरक्षित छोड़ दें, जिनमें कालिदास, भवभूति, विशाखदत्त, नारायण आदि रहेंगे।

अक्षय तृतीया
वि० सं० २०१०

—रामचन्द्र मिश्र

कथासार

प्रथम अङ्क

पुराने जमाने में वर्त्तमान कुरुक्षेत्र के आसपास कौशाम्बी नाम की एक समृद्ध नगरी थी। उसमें 'उदयन नामक एक अतिप्रतापी तथा प्रजारञ्जक राजा थे। अवन्ति देश के राजा प्रद्योत की लड़की वासवदत्ता उनकी पटरानी थी। वासवदत्ता के मामा विक्रमबाहु सिंहल के राजा भी उसी समय अपने प्रताप के मध्याह्न में थे। उनके एक कन्या थी, जिसका नाम रत्नावली था। रत्नावली को देखकर एक सिद्ध पुरुष ने घोषणा की थी कि जो पुरुष इस कन्या का स्वामी होगा वह चक्रवर्ती राजा होगा। इस घोषणा की खबर जब महाराज उदयन के मन्त्री यौगन्धरायणको मिली, तब प्रभुभक्त उस मन्त्री ने सिंहल आकर विक्रमबाहु से रत्नावली की मांग महाराज उदयन के लिये की। सिंहलराज इस माँग पर बड़े असमञ्जस में पड़े। उनके मन में यह बात आई कि यदि महाराज उदयन के साथ रत्नावली का विवाह करता हूँ तो मेरी भाञ्जी (वासवदत्ता) को सपत्नी होने का कष्ट होगा, यदि इनकार करता हूँ तो ऐसा सम्बन्ध मिलना भी कठिन होगा, लेकिन जीत हुई भाञ्जीप्रेम की ही। सिंहलराजने अन्त में अपनी असम्मति ही प्रकट कर दी।

इस तरह अपने मनोरथ को असफल होते देख यौगन्धरायण ने एक अफवाह फैला दी कि लावाणक ग्राम में वासवदत्ता जल गई। इस अफवाह के फैल जाने के कुछ दिन बाद यौगन्धरायण ने कंचुकी बाभ्रव्य को सिंहलेश्वर के पास भेजकर राजा उदयन के लिये रत्नावली की पुनः मांग की। इस बार सिंहलेश्वर को कोई आपत्ति नहीं हुई। उन्होंने अपने मन्त्री के साथ रत्नावली को कौशाम्बी भेज दिया। दुर्भाग्यवश नौका के डूब जाने से बाभ्रव्य, सिंहल के मन्त्री तथा रत्नावली सभी समुद्र में डूब गये। परन्तु रत्नावली को किसी तरह एक काष्ठफलक हाथ लग गया जिससे उसने अपनी जान बचा ली। इसी समय सिंहल से लौटनेवाले व्यापारियों के दल ने रत्नावली को देखा और उसके गले में पड़ी रत्नमाला को देखकर उसे पहचान लिया और सादर उसे ले आकर यौगन्धरायण के हाथों में अर्पित कर दिया। यौगन्धरायण ने भी सागर से मिलने के कारण सागरिका नाम रख कर रत्नावली को राजमहिषी के हाथों में दे दिया। रत्नावली राजमहिषी की परिचारिका के रूप में दिन बिताने लगी।

अनन्तर कौशाम्बी में वसन्तोत्सव आरम्भ हुआ। सभी नगरवासी उस उत्सव में सम्मिलित हो गये। अबीर, गुलाल इतने उड़ाये गये कि पूरा

नगर लाल-पीला दीखने लगा। ऐसे ही समय में महारानी वासवदत्ता ने कामदेव पूजा का आयोजन किया। मकरन्दोद्यान में अशोकवृक्ष के नीचे उसके लिये तैयारी की गई। सब ठीक हो जाने पर महारानी ने महाराज उदयन को उस कामदेव पूजन में सम्मिलित होने को निमन्त्रित किया। राजा विदूषक के साथ उसमें भाग लेने चले। इधर महारानी भी वहाँ चली। वहाँ पहुँचने पर महारानी को पता चला कि इन परिचारिकाओं में सागरिका भी चली आई है। इस पर रानी को अपने परिजन की असावधानता पर थोड़ा क्रोध भी हुआ। तत्काल उन्होंने कहा—'सागरिके! अपने कार्य (सारिका-रक्षण) को छोड़कर यहाँ तू क्यों आई? फिर शीघ्र वहीं चली जा।' रानी की आज्ञा शिरोधार्य करके वह वहाँ से चली। जब रानी की दृष्टि से बाहर चली आई तब उसके मन में यह बात उठी कि किसी लताकुञ्ज में छिपकर कुछ देर तक इस कन्दर्पपूजन के दर्शन से अपनी आँखों को तृप्त तो कर लूँ। तदनुसार उसने छिपकर देखा और राजा की पूजा जब होने लगी तब उसे भ्रान्ति होने लगी कि मानो कन्दर्प ही शरीर धारण कर पूजा ग्रहण कर रहा है। उसने भी कुछ फूल चुनकर कन्दर्प को उद्देश्य करके चढ़ा दिये तथा अपनी मनोरथ-सिद्धि के लिये प्रार्थना की। वत्सराज के दर्शन का उसके हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा—उन पर वह आसक्त हो गई।

द्वितीय अङ्क

कामपरवश अवस्था में सागरिका चित्रकारी की सामग्री लेकर कदलागृह में जाकर बैठी और आत्मविनोदार्थ अपने प्रियतम का चित्र बनाकर मनोभावों का ताना-बाना बुनने लगी। इसी अवस्था में उसकी प्रिय सखी सुसंगता वहाँ चली आई और उसने राजा का चित्र देखकर सारी परिस्थिति समझ ली। फिर भी सुसंगता ने सागरिका से जब यह पूछा कि यह किसका चित्र है तब सागरिका ने स्पष्ट न कहकर यह कह दिया कि मैंने इस मदनमहोत्सव के अवसर पर कामदेव की छवि आँकी है। सागरिका के प्रच्छादनको उसी की तरह चतुरता से व्यक्त करने के लिये सागरिका द्वारा प्रस्तुत राजचित्र के बगल में सुसंगता ने सागरिका की मूर्त्ति बना दी, और जब सागरिका ने इस पर अपनी आन्तरिक असहमति प्रकट की तो कह दिया कि जिस तरह तुमने कामदेव को चित्रित किया, उसी तरह मैंने रतिको चित्रित किया है। सागरिका और सुसंगताके बीच इसके बाद जो बातें हुईं, सागरिका ने जितने विलाप-कलाप किये, वहीं पर पिंजड़े में बैठी मेधाविनी नामक सारिका ने सब ज्यों का त्यों याद कर लिया। इसी समय राजा का पालतू बन्दर खुल गया और उसी ओर आया जहाँ सारिका तथा यह दोनों सखियां थीं। भयभीत होकर इन दोनों ने वहाँ से हटना पसंद किया और बन्दर आकर, सारिका

का पिंजड़ा खोलकर चला गया। जब स्थिति अनुकूल देखकर सुसंगता के साथ सागरिका फिर कदलीगृह में आने लगी तो सुसङ्गता ने देखा कि पिंजड़ेका दरवाजा खुला हुआ है और मेधाविनी सारिका उड़ी जा रही है। उसे खटका हुआ कि कहीं यह सारिका इस रहस्य को किसी पर प्रकट न कर दे। इसीलिये उसने सागरिका से कहा कि चलो, इस सारिका को पकड़ लें। परन्तु तब तक तो सारिकाने उनकी बातें दुहरा दी थीं, और राजाने उनका कथन यथावत् सुन लिया था। वहाँसे जानेके समय शीघ्रता के कारण सागरिका उस चित्रपट को लेना भूल गई थी। वह वहीं पड़ा था। राजा की दृष्टि उस पर पड़ी और सब बातें स्पष्ट हो गईं। विदूषक तथा राजा उस चित्रपट के विषय में बातें कर ही रहे थे, तब तक उसे लेने के बहाने आई हुई सुसंगता ने राजा को सागरिका की मनोदशा का ज्ञान करा दिया और समीपवर्त्ती लतागृह में वर्त्तमान सागरिका से मिला भी दिया। इसी बीच राजा को ढूँढ़ती हुई रानी वासवदत्ता कदलीगृहमें आ गई और उस चित्रपट को देख लिया। उनके क्षोभ की सीमा न रही। राजा ने कितना भी मनाया, मिन्नतें कीं, पर सब व्यर्थ हुआ—वह तमक कर चली ही गईं।

तृतीय अङ्क

प्रेम का रोग बड़ा भयानक होता है। सागरिका ने राजा पर जो हृदय वारा, वह उनके लिये असह्य हो गया। वह सदा इसी चिन्ता में रहने लगे कि कब तथा किस प्रकार सागरिका से मिल सकूँगा। उनकी देह दिनानुदिन दुबली होने लगी। राजा की ऐसी स्थिति देखकर विदूषक वसन्तक को बड़ी चिन्ता हुई। उसने सुसंगतासे बातें कीं तथा उसे समझा दिया कि राजाकी अस्वस्थता सिर्फ सागरिका के न मिलने से ही बढ़ रही है। सुसंगता ने भी इसके उत्तर में कहा कि मैं उपाय करूँगी। वासवदत्ता ने प्रसन्न होकर मुझे अपने जो कपड़े दिये हैं उनसे सागरिका को वासवदत्ता का रूप ग्रहण करवा दूँगी, और स्वयं मैं काञ्चनमालाका वेष धारण कर लूँगी। प्रदोष समयमें हम दोनों माधवी-लतामण्डप में आवेंगी। आप महाराज को वहाँ ले आवें। फिर सागरिका से महाराज मिल सकेंगे। इस संकेत के अनुसार सन्ध्या समय महाराज माधवी-लतामण्डप में आये। इधर वासवदत्ताको इस बात का पता लग गया कि सन्ध्या समय माधवी-लतामण्डपमें राजा और सागरिका का समागम होगा। वह स्वयं वहाँ नियत समय पर आई। उसके साथ काञ्चनमाला भी थी। राजा तो कामातुर थे ही, उन्हें वेषसाम्यने भी धोखा दिया। वह वस्तुतः सागरिका ही आई है यह समझकर अपना प्रेमोद्गार प्रकट करने लगे। कुछ देर तक तो वह सुनती रही किन्तु जब उसे नहीं सह्य हुआ तो उसने घूँघट हटा दिया।

राजाने जब समझा कि धोखा हुआ तब लगे उसे मनाने। किन्तु वह वैसी ही वहाँसे चली गई। राजा की मनोदशा अत्यन्त विषण्ण हो गई। जब सागरिका वहाँ आई तब तक तो पासा पलट चुका था। उसे पता चल गया कि हमारे अभिसार का समाचार महारानी को मिल चुका है। अब उसके लिये जीना दुर्भर हो गया। राजा मिले नहीं, और महारानी का कोप भी शान्त होनेका नहीं। इस स्थिति में उसने आत्महत्या करके ही इस विपत्ति से त्राण पाने का निश्चय किया। तदनुसार जब तक वह लतापाश से फाँसी लगाकर मरने की तैयारी में लगी तब तक राजा तथा विदूषक वहाँ आ गये। झटपट दौड़कर राजाने उसके हाथसे लतापाश छीन लिया तथा अपनी सौगन्ध देकर उसे वैसा करने से रोका। इधर राजा के मनाने पर भी वासवदत्ता ने जो अपना कोप नहीं छोड़ा था इसके लिये उसे पश्चात्ताप होने लगा। वह कुछ देर सोचती रही, अनन्तर उसने तय किया कि मुझे चलकर अपनी बेअदबी के लिये राजा से क्षमा माँगनी चाहिये। तदनुसार वह फिर माधवी-लतामण्डप में आई और वहाँ आकर उसने देखा कि राजा तथा सागरिका एक दूसरे से मिल-जुलकर बातें कर रहे हैं। इस दृश्य ने उसके मनोभाव में भारी परिवर्त्तन उपस्थित कर दिया। वह आगबबूला हो उठी। उसने इस कपट-नाटक में मुख्य हाथ विदूषक का समझा, अतः उन्हें वहीं पड़ी हुई माधवीलतासे बँधवा कर साथ कर लिया और सागरिका को भी साथ लेती गई। विदूषक को तो थोड़ी देर के बाद छुट्टी मिल गई, किन्तु सागरिका को किसी अज्ञात भाग में कैद करके रख छोड़ा। इतना ही नहीं, लोगोंमें यह बात फैला दी कि सागरिका को महारानी ने उज्जयिनी भेज दिया।

चतुर्थ अङ्क

सुसंगता इस दशा-विपर्यय से खिन्न हो गई। उसे इस बात का बड़ा खेद हुआ कि सागरिका पर इस तरह की आपत्ति कहाँ से आ पड़ी। जब इन घटनाओं के गुजरने पर विदूषक से उसकी भेंट हुई तो उसने विदूषक से कहा कि 'न जाने सखी सागरिका को महारानी ने गत निशीथ में कहाँ भेज दिया। अफवाह तो है कि वह उज्जयिनी भेज दी गई है। सागरिका जब अपने जीवन से उदस्त हो गई तब उसने यह रत्नमाला मुझे आपको दे देने के लिये दी थी। आप इसे स्वीकार कर लें।' विदूषकने वह माला ले ली। इसके बाद माला पहने हुए विदूषक राजाके पास आया और सागरिका की सारी कथा राजासे कही, उस मालाके विषयमें भी कहा। महाराजको बड़ा दुःख हुआ। उनके विरहका सन्ताप अतिशय बढ़ गया। इसी हालतमें प्रधान सेनापति रुमण्वान् का भागिनेय विजयवर्मा आकर उपस्थित हुआ और उसने निवेदन किया कि रुमण्वान् के साथ जो सेना कोसल को पराजित

करने गई थी वह विजयिनी हुई है। इस समाचार से राजा की मनःस्थिति कुछ सुधरी।

इधर यौगन्धरायण ने सोचा कि अब हमारे प्रयोग में फल लग सकते हैं, क्षेत्र तैयार हो चुका है। अतः उसने अपना अन्तिम प्रयोग प्रारम्भ किया। उसने एक ऐन्द्रजालिक को दरबार में भेजा। वह ऐन्द्रजालिक जब दरबार में आया तब उसने अपने को उज्जयिनी का बताया। राजा ने उसको खेल दिखाने की अनुमति दी, और वासवदत्ता को भी उसमें दर्शक होने के लिये बुला लिया। खेल हो रहा था, आकाश में देवी देवता दीख रहे थे, दिन में ही चाँद के दर्शन हो रहे थे। इसी बीच सिंहलेश्वर के प्रधानमन्त्री वसुभूति तथा वत्सराज के दरबारी कञ्चुकी बाभ्रव्य राजा से मिलने आ गये। महाराज ने ऐन्द्रजालिक को तब तक विश्राम करने की आज्ञा दी। ऐन्द्रजालिक विश्राम करने जाते-जाते कहता गया कि महाराज को हमारा एक और खेल अवश्य देखना होगा। महाराज जब सिंहलेश्वर के प्रधानमन्त्री वसुभूति तथा अपने कञ्चुकी बाभ्रव्य से बातें कर रहे थे इसी बीच अन्तःपुर में आग लगने का हल्ला हुआ। हल्ला ही भर नहीं हुआ, आग की लपटें चारों ओर फैलने लगीं, धूमराशि से दम घुटने लगा। जिस समय यह घटना घटी, उस समय रानी वासवदत्ता भी वहीं उपस्थित थीं। उन्हें याद आया कि हमने सागरिका को अन्तःपुर में बाँधकर रख छोड़ा है। वह तो भाग कर भी जान नहीं बचा पायेगी। अतः उन्होंने महाराज से प्रार्थना की कि मेरी निर्दयता के फलस्वरूप सागरिका इस अग्निकाण्ड में जली जा रही होगी, आप उसका त्राण करें। महाराज तत्काल उस आग में कूद पड़े और वासवदत्ता की प्रार्थना के अनुसार बँधी हुई सागरिका का उद्धार करके उसे ले आये। इसी समय एकाएक आग शान्त हो गई। लोगों को आशङ्का हुई कि यह भी इन्द्रजाल ही था। इधर सागरिका को देखकर वसुभूति तथा बाभ्रव्य को उसके विषय में यह सन्देह हुआ कि यह तो सिंहलकुमारी रत्नावली है। इसकी पुष्टि विदूषक के गले की रत्नमाला ने की। वसुभूति ने अपना अभिप्राय राजा से कहा। इसी समय यौगन्धरायण ने आकर सारी कथा आदि से अन्त तक कहकर बिना राजा से पूछे इतना बड़ा कार्य कर दिया, इसके लिये राजा से क्षमा मांगी। वासवदत्ता को अपनी बहन रत्नावली को नहीं पहचान कर कष्ट देने का क्षोभ हुआ। अनन्तर उन्होंने सागरिका को बहन कहकर गले लगाया। अपने आभूषणों से सज्जित करके उसे देवीशब्दभाजन बनाया। राजा को उसे स्वीकार करने के लिये कहा तथा बड़ी बहन की दृष्टि से रत्नावली को राजा के हाथों में सौंपा और राजा ने उसे सहर्ष स्वीकार किया।

रत्नावली-पात्रालोचन

१. राजा उद्यन

इस नाटिका में राजा उद्यन का चित्रण धीरललितं नायक के रूप में किया गया है। उस नायक को निश्चिन्त, मृदु, कलापरायण होना चाहिये। राजा है भी वैसा ही। वह स्वयं कहता है, 'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः'। उसका और चरित्र इस नाटिकामें नहीं अङ्कित हो सका है, क्योंकि इसमें केवल दो दिनों की घटना का वर्णन है, वह भी एक मात्र स्नेहस्रोतका। दूसरे नाटकों में जिस तरह और अंशों के समावेश से पात्रों के चरित्रों का अन्यान्य भाग अङ्कित किया जाता है, वह बात इस नाटिका में नहीं है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उदयन का चरित्र मनोरम था—'लोके हारि च वत्सराजचरितम्।'

यद्यपि यह राजनीतिक नाटक नहीं है, फिर भी इसमें उदयनकी राजनीतिज्ञता पर प्रकाश पड़ता है। कोसलपति की मृत्युकथा सुनकर एक उच्चात्मा के हृदय का भाव राजा के मुख से इस भाँति निकल पड़ता है—'साधु कोसलपते! साधु, मृत्युरपि ते श्लाघ्यो यस्य शत्रवोऽप्येवं पुरुषकारं वर्णयन्ति।' ऐसी उक्ति किसी डरपोक तथा नीच व्यक्ति के मुख से नहीं निकलती है।

जिस तरह उदयन वहादुर तथा ऊँचे विचारका था, उसी तरह वह सदा जागरूक भी था। वह अपने मन्त्रियों पर ही सर्वात्मना आश्रित नहीं रहता था, किसी नवीन कार्य में उससे विचार लिये बिना मन्त्रियों को कुछ करने की स्वतन्त्रता नहीं थी, यह बात इससे स्पष्ट होती है—'कथमसौ मामनिवेद्य किञ्चित् करिष्यति'। इस तरह का प्रश्न वही कर सकता है, जिसे सभी बातों में मन्त्रिगण पूछते हों।

इसी नाटिका के अग्निकाण्ड वाले प्रकरण को देखने से पता चलता है, कि वह कितना समर्थ था। उसकी रानी ने कहा कि मेरी निर्दयता से सागरिका पर आपत्ति आ पड़ी है, उसे बचाइये। बस, सुनते ही उसने जान हथेली पर ले ली। देह झुलस रही है, फिर भी एक जवान औरत को हाथों में उठा लिया। अपनी चिंता भूल कर आर्त्त का त्राण किया।

इन गुणों को एक ओर रखकर यदि उदयन के प्रेमी हृदय की ही समीक्षा की जाय तो वह महामानव सिद्ध होता है। वासवदत्ता उसे फटकार कर चली जाती है, उसके पादपतन पर भी वह नहीं प्रसन्न होती है, फिर भी राजा के हृदय में उसके लिये चिंता बनी है, वह यही सोचता है कि—'प्रिया मुञ्चत्यद्य ध्रुवमसहना जीवितमसौ प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति'।

राजा के प्रेम में चढ़ाव-उतार नहीं, वह अथाह सागर है। उसे अपनी प्रेमिका

के विषय में सदा ध्यान रहता है कि मेरे कौन से व्यापार से उसकी क्या मनोदशा होगी। वह उद्यानलता पर भी दृष्टि डालता है तब भी उसके मन में अपनी प्रियतमा की ही बात याद आती है—

'अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवम्।
पश्यन् कोपविपाटलद्युतिमुखं तस्याः करिष्याम्यहम् ॥'

उदयन के प्रेममें आत्ममर्यादा के रोड़े नहीं हैं। उसका प्रेम इतना उद्वेल है कि उसमें अहंभाव का सर्वात्मना विलयन हो गया है, उसकी प्रिया की सहचरी आकर कहती है–'देवी आज्ञापयति।' सहचरी भयभीत हो जाती है, उसे ऐसा लगता है कि मुझसे गलती–बड़ी भारी गलती–हो गई, वह बीचमें ही रुक कर कह उठती है—'देवी विज्ञापयति।' सहचरी को इसका ख्याल है कि राजा को आज्ञा नहीं दी जाती, वही आज्ञापक है, किन्तु राजा के प्रेमराज्य में 'आज्ञापन' और 'विज्ञापन' में कोई अन्तर नहीं है। वह सहचरी के भाव को ताड़ कर कह उठता है—'ननु आज्ञापयतीत्येव रमणीयम्'।

इतना ही नहीं, उदयन का साधारण व्यवहार भी अपने परिजन के साथ बड़ा सहानुभूतिपूर्ण तथा प्रेममय था। वह कभी किसी के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करता था, जिससे ऐसा मालूम पड़े कि वह धन तथा अधिकार के मद में है। सुसंगता उसके अन्तःपुर की एक साधारण दासी है, परन्तु उसके साथ भी राजा का कथोपकथन इतना प्रेमपूर्ण है, कि सुनते ही बनता है—

'राजा—सुसङ्गते ! स्वागतम्, इहोपविश्यताम्। (सुसंगतोपविशति)

राजा—सुसङ्गते ! कथमहमिहस्थो भवत्या ज्ञातः ?

सुसङ्गता—(विहस्य) भर्त्तः, न केवलं त्वमयमपि चित्रफलकेन सह सर्वो वृत्तान्तो मया विज्ञातः। तद्गत्वा देव्यै निवेदयिष्यामि।

राजा—(सुसङ्गतां हस्ते गृहीत्वा) सुसङ्गते, क्रीडामात्रमेवैतत्। अकारणे त्वया देवी न खेदयितव्या। इदं ते पारितोषिकम् (कर्णाभरणं प्रयच्छति)।'

एक सामान्य दासी के साथ इतनी कोमल भाषा का प्रयोग एक बड़े भारी प्रेमी तथा भावुक जन से ही सम्भव है।

२. रत्नावली

'रत्नावली' सिंहलेश्वर विक्रमबाहु की कन्या इस नाटिका की नायिका है, उसी के नाम पर इस नाटिका का नामकरण किया गया है। वह इस ग्रन्थ में अन्तभाग को छोड़ कर सर्वत्र 'सागरिका' नाम से ही व्यवहृत हुई है। वह मुग्धा नायिका है। उसके चरित्र के निर्माण में भी कवि ने कुछ विशेष प्रयत्न नहीं किया है, न वैसा किया ही जा सकता था, क्योंकि कथा इतनी छोटी तथा अल्प-समय-सम्बद्ध है कि

उतने में एक व्यक्ति की विविध चारित्रिक विशेषतायें नहीं चित्रित की जा सकती हैं। इतना ही कहा जा सकता है कि वह असाधारण सुन्दरी थी, जिसे देख कर कोई भी दिलवाला अपना दिल उसे दे देता। इसीलिये रानी की दृष्टि में वह राजा को आकृष्ट कर सकने वाली जँची और रानी ने उसे राजा के सामने होने नहीं देना चाहा। सागरिका एक सुन्दरी कन्या मात्र ही नहीं, अपि तु बड़ी भावुक भी थी। उसने राजा को देखते ही, प्रथम दर्शन में ही उनके ऊपर अपना दिल अर्पित कर दिया। रानी की सेवा में नियुक्त दासी के लिये राजा से प्रेम करना खतरे से खाली नहीं होगा ऐसा समझ कर भी वह अपना नियन्त्रण नहीं कर सकी, यह उसकी भावुकता ही तो है। उसका प्रेम बड़ा गहरा था, वह हजार आफतें सहने को तैयार थी, लेकिन राजा से कुछ भी फरियाद नहीं करना चाहती थी।

सागरिका की भावप्रवणता इस कोटि की थी कि वह थोड़ी सी बाधा से भी अपनी बेकदरी समझने लगती थी, और उतने भर के लिये प्राण त्यागने पर उतारू हो जाती थी। राजा को देखने के बाद उसे जो कामव्यथा ने सताया वह उसके लिये इतना असह्य हो गया कि वह कह उठी—

'सर्वथा मम मन्दभागिन्या मरणमेवानेन दुर्निमित्तेनोपस्थितम्'।

राजा के हाथ में चित्रफलक पड़ गया, वे उसे देखते हैं, विदूषक पूछता है कि- तुम्हें यह अच्छी दीख रही है? सागरिका वहीं लताकुञ्ज की ओट में खड़ी होकर सारी बातें सुन रही है। राजा क्या उत्तर देंगे? यदि हाँ कहते हैं तब तो ठीक है। अन्यथा सागरिका को प्राण छोड़ने होंगे। उसका प्रेम उस स्थिति को पहुँच चुका है जहाँ से लौटाया नहीं जा सकता। वह कहती है :—

'(आत्मगतम्) किमेष भणिष्यतीति यत्सत्यं जीवितमरणयोरन्तराले वर्त्ते।'

एक बार आंखभर देख लेने से ही इतनी दूर बढ़ जाना भावुकता ही तो है।

उसका हृदय इतना कमजोर है कि राजा से मिलने के लिये आकर जब वह राजा को वहां नहीं पाती और यह जान जाती है कि हमारी यह अभिसार चेष्टा रानी को ज्ञात हो गई तब वह दूसरा कोई उपाय नहीं देखती, उसे मृत्यु मात्र शरण दीखती है। वह कहती है—

'वरमिदानीं स्वयमेवात्मानमुद्बध्योपरता न पुनर्ज्ञातसङ्केतवृत्तान्तया देव्या परिभूता।'

जब-जब उसे अपने प्रेम की विफलता की सम्भावना हो जाती है तब तब वह मरने का ही आयोजन करती है, इससे उसकी भावना की दृढ़ता के साथ भावुकता भी प्रतीत होती है।

उसके चरित्र में एक विशेषता यह भी है कि उसे अपने कुल के प्रति बड़ा

आदर है। वह दासी भाव से वर्त्तमान है। इस अवस्था में यदि किसी पर उसका कुल प्रकट हो जायगा तो उसके पैतृक वंश की बेइज्जती होगी इसका वह सदा ख्याल करती रहती है। उसकी प्राणाधिका सखी सुसंगता भी जब उससे इस प्रसङ्ग में पूछती है तो उसकी आँखें दुःख से भर आती हैं और वह चुप हो जाती है। उसके हृदय में मन्थन होने लगता है। इससे स्पष्ट है कि वह कृपणधन की तरह अपने वंश को छिपाती रहती है, जिससे उसकी महत्ता पर आँच न आवे।

३. वासवदत्ता

वासवदत्ता महाराज उदयन की प्रधान महिषी है। उसका स्वभाव अत्यन्त कोमल तथा प्रीतिप्रवण है। वह राजा के प्रेम में इस तरह पगी हुई है कि उसे अपनी जान का भी कुछ ख्याल नहीं है। इसी विश्वास से राजा भी उसका बड़ा आदर करते हैं, जब वह मान करती है तब राजा उसे पैरों पड़कर मनाते हैं, राजा उसे बिना मनाये चैन से बैठ नहीं सकते क्योंकि उनको विश्वास है कि मेरी प्रीति में यदि कोई अन्तर आया तो वासवदत्ता जीती नहीं रह सकेगी—

'प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति।'

वासवदत्ता राजा की रूपपिपासा से परिचित है, इसीलिए वह सुन्दरी सागरिका को राजा के सामने नहीं होने देती। जब वह औरों की असावधानी से राजा की आँखों के सामने आई सी होने लगती है, तब स्वभावतः वासवदत्ता अपने परिजनों पर बिगड़ उठती है, उसे यह नहीं सहा जाता। वह झट फटकार सुना देती है—'अहो! प्रमादः परिजनस्य।'

यद्यपि वह राजा पर गाढ़ प्रेम रखती है, तथापि उसे यह सह्य नहीं है कि कोई दूसरी सुन्दरी राजा के प्रेम की अधिकारिणी बने। इसीलिये वह राजा पर बिगड़ कर रूठकर चली जाती है, किन्तु उसका प्रेमी हृदय उसे चैन से नहीं रहने देता। वह सोचती है—मैंने राजा को उस स्थिति में छोड़ दिया यह अच्छा नहीं हुआ, चलूँ, उनके पीछे से जाकर उनके गले से लिपट कर उनको मना लूँ। कितनी कोमल मनःस्थिति है यह!

उसका हृदय अत्यन्त सरल तथा दयालु था, वह किसी के प्रति कठोरता करने को बाध्य होकर भले ही वैसा करे, किन्तु उसका वह भाव परिस्थितिवश एकाएक बदल जाता था। रानी ने सागरिका के अविनय को असह्य मानकर उसे कारावास की सजा दी, अन्तःपुर के किसी निभृत कोने में उसे बाँधकर डलवा दिया, परन्तु जब ऐन्द्रजालिक ने अग्निकाण्ड का तमाशा किया, तब रानी सागरिका के विषय में अनर्थ की सम्भावना से अधीर हो उठी। उसने सागरिका को बचाने के लिये राजा से प्रार्थना की, अपनी निर्दयता पर पश्चात्ताप किया—

'एषा खलु मया निर्घृणयेह निगडेन संयमिता सागरिका विपद्यते, तत्तां परित्रा-यतामार्यपुत्रः।'

वासवदत्ता के व्यवहार का इस नाटिकामें बहुत सुंदर चित्रण किया गया है। जब उसे सागरिका का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है, तब वह अपने प्राचीन भावों को एकाएक भूल जाती है, भूल ही नहीं जाती, अपितु वह उसके लिये खेद भी प्रकट करती है। अपने हाथों अपने आभूषणोंसे उसे अलंकृत करती है, और स्नेह की ज्योति से वातावरण को परिवर्त्तित कर देती है। वह अपनी भाविनी सपत्नी के मन में अपनापन का भाव भरने के लिये अपने को बड़ी बहन के रूप में उपस्थित करती है और अब तक के आचरणों को एक शब्द में पोंछ देती है—

'एतावदपि तावन्मे भगिनिकाऽनुरूपं भवतु'

वासवदत्ता का चित्रण इस नाटिका में बड़ा स्वाभाविक बन पड़ा है। वह प्रेम तथा विनोद की पुतली सी चित्रित की गई है।

४. विदूषक

संस्कृत रूपकों में विदूषक का एक खास स्थान होता है। वह इसकी एक एक भावना को बदल कर आस्वाद की अधिकता में सहायता करता है। इस नाटिका के विदूपक वसन्तक का चित्रण केवल विदूषक के रूप में ही नहीं, बल्कि नर्मसचिव के रूप में भी सफल हुआ है।

विदूषक के लक्षणों में लिखा है—'हास्यकरः'। इस अंश में वसन्तक का चित्रण उत्तम हुआ है। वह जब देखता है कि दो अन्तःपुर-परिचारिकायें मदनोत्सव में गाती तथा नाचती आ रही हैं तो वह भी उनके साथ नाचने लग जाता है, और उनके सङ्गीतमाधुर्य से प्रभावित होकर स्वयं भी सङ्गीत सीखने की इच्छा प्रकट करता है। वह सागरिका के मुँह से गाथा सुनता है और कहता है कि यह 'ऋचा' कट्टर ही है।

विदूषक का पेटूपन भी संस्कृत रूपक की एक विशेषता है। वह द्विपदी खण्ड के खण्ड से भी मोदक बनाने की आशा करता है, और रानी के द्वारा दिये गये भोजन पर इस तरह पिल पड़ता है कि दो रोज तक फिर खाने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है।

यद्यपि उसके साधारण व्यवहार से उसकी मूर्खता ही अधिकतः प्रकट होती है, फिर भी वह समय पर बुद्धिमत्ता का परिचय देता है। जब राजा रानी की प्रतीक्षा में बैठे रहते हैं तब उसकी बुद्धि का परिचय मिलता है। वह भ्रमरों की गुञ्जार तथा नूपुर के शब्द का भेद समझकर कह उठता है—

'वयस्य, नैते मधुकरा नूपुरशब्दमनुहरन्ति, नूपुरशब्द एवैष देव्याः परिजनस्य।'

विदूषक का राजा के लिये प्रेम बहुत अंशों में निष्कपट है। वह अपनी रत्नमाला जिसे उसने सागरिका से सुसंगता द्वारा पाया था, राजा के विनोद के लिये प्रसन्नतापूर्वक दे देता है।

राजा के प्रति उसका विचार बहुत ऊँचा है। वह राजा को असाधारणगुणाश्रय समझता है। उसे उसके रूप पर भी श्रद्धा है। उसकी धारणा में राजा के अतिरिक्त कामदेव की तुलना करने वाला कोई सुरूप पुरुष संसार में है ही नहीं, यह बात उसकी इस उक्ति से झलकती है—

'कोऽन्यः कुसुमचापव्यपदेशेन निह्नूयते ?'

इसके अतिरिक्त राजा के प्रणयव्यापार में उसकी जो सहायता है वह सफल हो अथवा असफल, किन्तु वह उसमें सतत प्रयत्नशील रहता है। नाटकों में विदूषक का जैसा चित्रण चाहिये वैसा इसमें हो सका है, यह कविकी सफलता है।

५. यौगन्धरायण

यौगन्धरायण का चरित्र इस नाटिका की पृष्ठभूमि है, इसलिये उसे कथाओं के संघर्ष से समझा जाता है, इस नाटिका की पंक्तियों से नहीं। फिर भी इसमें जितने अंश में उसका चित्रण है वह नितान्त सुन्दर है। उसने राजा की तरक्की के लिये उनसे बिना पूछे ही एक चाल चली, जाल बिछाया, इसका उसे पश्चात्ताप है, तथापि लाचारी में वह वैसा करता है। किन्तु समय पर उसके मुँह से निकल ही पड़ता है—'स्वेच्छाचारी भीत एवास्मि भर्त्तुः।'

उसकी बुद्धिमत्ता तो चाणक्य की याद दिलाती है। वह समूचा कार्यक्रम निभा लेता है किन्तु राजा को भनक तक नहीं लगती। उसके प्रबन्धपाटव का भी एक नमूना है कि उसके द्वारा भेजी गई सेना कोसल को जीतती है और साथ ही वहाँ उसका आदमी शान्ति कायम करने के लिये गद्दी पर बैठ जाता है। एक दिन के लिए भी अराजकता नहीं है। बुद्धिमानी के लिये उसके द्वारा प्रस्तुत ऐन्द्र-जालिक का खेल ही पर्याप्त है, एक दृश्य में इतना बड़ा काम करवा लिया कि जिसका नाम नहीं। राजा सागरिका को ले आता है, उसकी पहचान हो जाती है, वासवदत्ता का भाव बदल जाता है, वसुभूति की उपस्थिति में वह राजा को सौंप दी जाती है, राजा को सारी स्थिति का ज्ञान करा दिया जाता है।

इनके अतिरिक्त पात्रों के चरित्र में कुछ खास बात नहीं है, उनका निर्देश केवल कथानिर्वाह के लिए किया गया है अतः उनकी आलोचना नहीं की जा रही है।

रत्नावली का प्रधान रस

इस नाटिका में प्रधान रस शृङ्गार है। शृङ्गार का प्रभेद सम्भोग ही इसका सार है। सम्भोग शृङ्गार का लक्षण यह है।

दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ। यत्रानुरक्तावन्योन्यं संभोगोऽयमुदाहृतः॥

यद्यपि इसमें पूर्वराग का भी पूर्ण वर्णन है जो विप्रलम्भ की कोटि में पड़ता है, किन्तु वह पोषक ही है। विश्रान्तिधाम संभोग ही है। नायक वत्सराज धीरललित नायक है। धीरललित का लक्षण है :—

'निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्।'

नायिका है रत्नावली। वह मुग्धा कन्या है। मुग्धा का लक्षण है :—

'प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा। कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा'॥

मुग्धा नायिका की चेष्टायें इस प्रकार होती हैं:—

दृष्टा दर्शयति व्रीडां सम्मुखं नैव पश्यति। प्रच्छन्नं वा भ्रमन्तं वा तिर्यक् तं पश्यति प्रियम्॥
बहुधा पृच्छ्यमानापि मन्दमन्दमधोमुखी। सगद्गदस्वरं किञ्चित् प्रियं प्रायेण भाषते॥
अन्यैः प्रवर्तितां शश्वत्सावधाना च तां कथाम्। शृणोत्यन्यत्र दत्ताक्षी प्रिये बालानुरागिणी॥

शृङ्गार रस की पुष्टि के लिये वसन्त, सन्ध्या आदि का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। रूपकों के लिये सामान्यतः कहा गया है कि "अङ्गमन्ये रसाः सर्वे'। तदनुसार इस नाटिका में विदूषक की उक्तियों में हास्यरस, संग्रामवर्णन में वीररस और वानर के खुल जाने पर स्त्रियोंमें भयानक रस का वर्णन बहुत सुन्दर किया गया है।

श्री हर्षदेव की कृतियों में सर्वत्र वैदर्भी रीति का अवलम्बन किया गया है। वैदर्भीरीति का लक्षण है :—

'माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका। अल्पवृत्तिरवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥'

इस रीति की साहित्यसंसार में बड़ी प्रशंसा है। बिल्हण ने कहा है—

'अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम्'॥

इस नाटिका में माधुर्य गुण है, जिसका लक्षण है :—

'चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।'

माधुर्यव्यञ्जक वर्ण यह है—

'मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान् विना। रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः॥
अल्पवृत्तिरवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा।'

इस नाटिका के पद्यों में असमस्त पदों का प्रयोग अधिक है। गद्य तो अति सरल तथा स्पष्ट है, जिससे अर्थव्यक्ति में कठिनता नहीं होने पाती।

श्लोकानुक्रमणिका

		अ० श्लो०
१	अध्वानं नैकचक्रः	३-५
२	अनङ्गोऽयमनङ्गत्वम्	१-२२
३	अम्भोजगर्भसुकुमार	४-२
४	अलमलमतिमात्रम्	३-१७
५	अस्तापास्तसमस्तभासि	१-२३
६	अस्त्रव्यस्तशिरस्त्र	४-६
७	अस्मिन प्रकीर्णपटवास	१-१२
८	आक्षिप्तो जयकुञ्जरेण	४-१२
९	आताम्रतामपनयामि	३-१४
१०	आरुह्य शैलशिखरम्	३-१२
११	इह प्रथमं मधुमासः	१-१५
१२	उदयतटान्तरितमियम्	१-२४
१३	उद्दामोत्कलिकाम्	२-४
१४	उद्यद्विद्रुमकान्तिभिः	१-१७
१५	उर्वीमुद्दामसस्यां जनयतु	४-२२
१६	एष ब्रह्मा सरोजे	४-११
१७	औत्सुक्येन कृतत्वरा	१-२
१८	कण्ठाश्लेषं समासाद्य	४-४
१९	कण्ठे कृत्तावशेषम्	२-२
२०	कण्ठे श्रीपुरुषोत्तमस्य	२-५
२१	किं देव्याः कृतदीर्घरोष	३-१९
२२	किं धरण्यां मृगाङ्कः	४-८
२३	किं पद्मस्य रुचं न हन्ति	३-१३
२४	कीर्णैः पिष्टातकौघैः	१-१०

		अ० श्लो०
२५	कुसुमसुकुमारमूर्त्तिः	१-१
२६	कुसुमायुधप्रियदूतकः	१-१
२७	कृच्छ्रादूरुयुगं व्यतीत्य	२-१
२८	क्रोधेद्धैर्दृष्टिपातैः	१-
२९	क्वासौ गतो हुतवहः	४-१
३०	जितमुडुपतिना	१-
३१	तीव्रः स्मरसन्तापः	३-१
३२	दुर्लभजनानुरागः	२-१
३३	,, ,,	२-
३४	दुर्वारां कुसुमशर	२-
३५	दृशः पृथुतरीकृता	२-१
३६	दृष्टिं रुषा क्षिपसि	२-१
३७	देवि त्वन्मुखपङ्कजे	१-२
३८	देवीदाहप्रवादः	४-१
३९	देव्या मद्वचनाद्यदा	४-२
४०	द्वीपादन्यस्मादपि	१-
४१	धारायन्त्रं विमुक्त	१-१
४२	नष्टं वर्षवरैः	२-
४३	नीतो विक्रमबाहु	४-२
४४	प्रणमत चरणाविन्द्रस्य	४-
४५	परिच्युतस्तत्कुचकुम्भ	२-१
४६	परिम्लानं पीनस्तन	२-१
४७	पादप्रस्थितया मुहुः	१-
४८	पालीयं चम्पकानाम्	३-

४९ पुरः पूर्वामेव स्थगयति ३-७
५० प्रणयविशदाम् ३-९
५१ प्रत्यग्रमज्जनविशेष १-२०
५२ प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति २-२०
५३ प्राणाः परित्यजत ४-३
५४ प्राप्ता कथमपि दैवात् २-१९
५५ प्रारम्भेऽस्मिन् १-७
५६ बाणाः पञ्च मनोभवस्य ३-३
५७ भाति पतितो लिखन्त्याः २-१२
५८ भ्रूभङ्गे सहसोद्गते २-२१
५९ मम प्रतिज्ञैषा ४-९
६० मनश्चलं प्रकृत्यैव ३-२
६१ मम कण्ठगताः प्राणाः ३-१६
६२ मुहूर्त्तमपि सह्यताम् ४-१७
६३ मूले गण्डूषसेका १-१८
६४ यातोऽस्मि पद्मनयने ३-६
६५ योद्धुं निर्गत्य विन्ध्याद् ४-५
६६ राज्यं निर्जितशत्रु १-९
६७ लीलावधूतपद्मा २-९
६८ विकसितबकुलाशोकक: १-१४
६९ विधायापूर्वपूर्णेन्दु २-१८
७० विरम विरम वह्ने ४-१६
७१ विवृद्धिं कम्पस्य प्रथयति ४-१३
७२ विश्रान्तविग्रहकथ १-८
७३ व्यक्तं लग्नोऽपि भवतीम् ४-१८
७४ शीतांशुर्मुखमुत्पले ३-११
७५ श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः २-१८
७६ श्रीहर्षो निपुणः कविः १-५
७७ श्वासोत्कम्पिनि कम्पितम् ३-१८
७८ सन्तापो हृदयस्मरानल ३-१
७९ समारूढा प्रीतिः प्रणय ३-१५
८० सव्याजैः शपथैः ४-१
८१ स्थितमुरसि विशालम् २-१४
८२ स्पष्टाक्षरमिदं यस्मात् २-६
८३ स्पृष्टस्त्वयैष दयिते १-२९
८४ स्रस्तः स्रग्दामशोभाम् १-१
८५ हरिहरब्रह्मप्रमुखान् ४-१०
८६ हर्म्याणां हेमशृङ्ग १-१
८७ ह्रिया सर्वस्यासौ हरति ३-

पात्र-परिचयः

पुरुषपात्राणि—

१. राजा—उदयनः, कौशाम्बीनाथः। (नायकः)

२. विदूषकः—उदयनस्य मित्रं ब्राह्मणो नर्मसचिवश्च।

३. यौगन्धरायणः—उदयनस्य प्रधानमन्त्री।

४. विजयवर्मा—उदयनस्य प्रधानसेनापते रुमण्वतो भागिनेयः।

५. बाभ्रव्यः— कञ्चुकी।

६. वसुभूतिः—सिंहलेश्वरस्य विक्रमबाहोः प्रधानमन्त्री।

७. ऐन्द्रजालिकः—इन्द्रजालदर्शनोपजीवी।

८. सूत्रधारः—नाटकाभिनयप्रबन्धकः।

स्त्रीपात्राणि—

१. रत्नावली (सागरिका) सिंहलेश्वरविक्रमबाहुसुता। (नायिका)

२. वासवदत्ता—उदयनस्य राज्ञः प्रधानमहिषी।

३. काञ्चनमाला—वासवदत्तायाः सहचरी।

४. सुसङ्गता—रत्नावल्याः सहचरी।

५. चूतलतिका— } दास्यौ।
६. निपुणिका— }

७. वसुन्धरा—प्रतीहारी।

॥ श्रीः ॥

रत्नावली

'प्रकाश' संस्कृत–हिन्दीव्याख्योपेता

प्रथमोऽङ्कः

पादाग्रस्थितया मुहुः स्तनभरेणानीतया नम्रतां
शम्भोः सस्पृहलोचनत्रयपथं यान्त्या तदाराधने ।

भूतेशे नियमाय मौनिनि गते दूरं क्वचिन्नन्दिनि
म्लाने बालविधौ तथाऽमृतभुजां सिन्धौ भजन्त्यां क्रुधम् ।
यस्मिन् हैमवती बबन्ध सकलां भावानुबन्धोद्धुरां
चेतोवृत्तिमसौ कृषीष्ट कुशलं देवो द्विपेन्द्राननः ॥ १ ॥

कज्जलाविलगोपालबालानयनवासतः ।
इव श्यामः शिवं दिश्यान्मम केशिनिषूदनः ॥ २ ॥

श्रद्धानतेन शिरसा पितरं 'मधुसूदनम्' ।
प्रसूं 'जयमणिं' चाहं ध्यायामि हृदि सन्ततम् ॥ ३ ॥

श्रीहर्षदेवकविताभावानवबोधबद्धवैमुख्यान् ।
मन्ये कतिचन बालान् प्रोत्साहयिता 'प्रकाशो'ऽयम् ॥ ४ ॥

सन्तो गुणेन तुष्यन्ति स नैकान्तेन दुर्लभः ।
दोषाचितेऽपि तेनात्र दृक्पातः क्रियतां बुधैः ॥ ५ ॥

दृश्यकाव्यप्रणयनयशस्वी श्रीहर्षदेवनामा कविः सरसकथां 'रत्नावलीं' नाम नाटिकां निर्मित्सुः प्रारम्भे तस्याश्चिकीर्षितग्रन्थसमाप्ति-तत्सानन्दाभिनयसम्पत्ति-विद्वत्समुदयप्रतिपत्तिप्रतिबन्धिदुरितक्षयसाधनं मङ्गलमाचरन् सामाजिकजनानामप्यानुषङ्गिकमङ्गलसिद्धयेऽत्र निबध्नाति—पादाग्रस्थितयेति । तदाराधने तस्य शम्भोः आराधने सेवायाम् , पादाग्रस्थितया पादयोः चरणयोः अग्रे अग्रभागौ ताभ्याम् पादाग्राभ्याम् चरणाग्रभागाभ्याम् स्थितया दण्डायमानभावेनावस्थितया, स्तन

महादेव की आराधना में उपस्थित पार्वती ने अपने हाथों में कुछ फूल इस

ह्रीमत्या शिरसीहितः सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया
विश्लिष्यन्कुसुमाञ्जलिर्गिरिजया क्षिप्तोऽन्तरे पातु वः ॥ १ ॥

भरेण स्तनयोः भरः स्तनभरः तेन कुचभारेण मुहुः वारंवारम् नम्रताम् अवनतिम् आनीतया प्रापितया, शम्भोः शम् कल्याणम् भावयतीति शम्भुः तस्य शिवस्य, सस्पृहलोचनत्रयपथम् स्पृहया अनुरागेण सहितम् सस्पृहम् लोचनानाम् नयनानाम् त्रयम् लोचनत्रयम् सस्पृहञ्च तल्लोचनत्रयञ्च सस्पृहलोचनत्रयम् सानुरागनयनत्रयम् तस्य पन्थाः सस्पृहलोचनत्रयपथः तम् यान्त्या गच्छन्त्या, सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया पुलकाः' रोमाञ्चाः स्वेदोद्गमः धर्माविर्भावः उत्कम्पः वेपथुः तैः सहितया, (अत एव) ह्रीमत्या सञ्जातलज्जया गिरिजया पार्वत्या शिरसि (शम्भोः) मस्तके ईहितः (पातयितुम्) इष्टः (किन्तु) क्षिप्तः प्रकीर्णः (अत एव च) अन्तरे शिवपार्वत्योर्मध्यदेशे विश्लिष्यन् श्लथीभूय विशीर्यमाणः कुसुमाञ्जलिः पुष्पराशिः वः युष्मान् सामाजिकान् पातु रक्षतु। शिवं प्रसादयितुं पार्वती कुसुमाञ्जलिं ध्यानावस्थितस्य तस्य शिरसि पातयितुमिच्छति, उच्चदेशावस्थितस्य तस्य महाकायस्य शिरसि कुसुमाञ्जलिपातनं कठिनमवगत्य सा पादाग्राभ्यां स्थिता, तथावस्थिता सा कुचभारेण वारंवारमवनतीक्रियते, अस्यामेव दशायां शिवस्तां सानुरागैर्नयनैरीक्षते, तद्दर्शनपथावतारसमकालमेव तस्या लज्जोदयते सात्त्विकभावोदयेन रोमाञ्चस्वेदवेपथुभिस्तनुरस्वाधीनीक्रियत इति सा शिरसीहितमपि कुसुमाञ्जलिमयथास्थानं पातयति, स च शिवपार्वत्योरन्तराले विशीर्यमाणः कुसुमाञ्जलिर्युष्मान् सामाजिकान् रक्षत्वित्यर्थः। नम्रताऽऽनयने मुहुरिति विशेषणं तस्याः सरलावस्थानप्रयासम्, लोचनत्रयविशेषणीभूतं सस्पृहपदं लज्जोदयस्य सहेतुकत्वम्, लोचनत्रयघटकत्रयपदं समधिकदर्शनेच्छाम्, सपुलकेत्यादि तद्विशेषणं तस्या मदनवशगत्वम्, क्षिप्तः विश्लिष्यन्निति कुसुमाञ्जलेः प्रयत्नसंहितत्वप्रत्यायनविधया तदनुरागप्रकर्षञ्च गमयति। 'लोचनत्रयपथ'शब्दे 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' इति समासान्तोऽप्रत्ययः।

अभिप्राय से रख लिए थे कि उन्हें वह महादेव के मस्तक पर चढ़ाएगी। इसीलिए स्तन-भारावनता पार्वती पैरों के अगले भाग पर खड़ी थी। इसी स्थिति में महादेव ने अपने तीनों सस्पृह नयन उसकी देह पर डाल दिये, जिससे उसने लज्जित तथा पसीना, रोमाञ्च और कम्प से युक्त होकर अपनी सम्हाली हुई कुसुमाञ्जलि को बीच में ही गिराकर बिखेर दिया, वही कुसुमाञ्जलि आप लोगों की रक्षा करे ॥१॥

अपि च ।

> औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
> तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।
> दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमे
> संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः ॥ २ ॥

अत्र 'स्तनभरेणेत्यादिहीमत्ये'त्यन्तानां पदानामञ्जलिक्षेपे हेतुत्वात्काव्यलिङ्गमलङ्कारः तल्लक्षणं यथा—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्, 'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणम् । अस्यादौ मगणः प्रयुक्तः तत्फलं श्रीसमृद्धिः, तदुक्तम्—'मो भूमिः श्रियमातनोति' इति ॥ १ ॥

औत्सुक्येनेति । औत्सुक्येन प्रियसाहचर्यलाभोत्कण्ठया कृता आश्रिता त्वरा सहसा गमनारम्भरूपा शीघ्रता यया तादृशी प्रियसमीपोपसर्पणलोभेन गमनोन्मुखीत्यर्थः । सहभुवा सहोत्पन्नया नवपरिणीतात्वेन स्वभावसिद्धया ह्रिया लज्जया व्यावर्तमाना परावर्तनप्रवृत्ता । पुनः तैः तैः (विशिष्य निर्देष्टुमशक्यैः) तत्कालोपयुक्तैः बन्धुवधूजनस्य भ्रातृजायादेः बन्धुभूतस्य वधूजनस्य सख्यादेर्वा वचनैः आभिमुख्यम् प्रियसाम्मुख्यम् नीता प्रापिता । अग्रे पुरतः वरम् श्रेष्ठम् पतिञ्च दृष्ट्वा आत्तः गृहीतः साध्वसरसः भयभावः यया सा तादृशी नवे प्राथमिके सङ्गमे विवाहोत्तरकालिकसमागमे हसता प्रियाविश्वासजननाय स्मयमानेन हरेण श्लिष्टा आलिङ्गिता (अत एव च) संरोहत्पुलका प्रियकरस्पर्शसञ्जातसात्त्विकभावोदयोद्गतरोमाञ्चा गौरी पार्वती वः युष्माकं सामाजिकानाम् शिवाय कल्याणाय अस्तु जायताम् । 'कृतत्वरा' इत्येतावदुक्तौ त्वराया रोषभयादितोऽपि सम्भवादियं त्वरा भयादुत्कण्ठातो वेत्यनिर्णयप्रसङ्गोऽत औत्सुक्येनेति विशेषितम् । 'व्यावर्तमाना' इतीयन्मात्रोपादाने व्यावर्त्तनस्य कोपादिप्रभवत्वमपि सम्भाव्येतातो ह्रियेत्युक्तम् । अत्र वधूविशेषणीभूतं बन्धुपदं तद्वचनानां विश्वासजननयोग्यत्वम्,

नव सङ्गम में औत्सुक्यवश शीघ्रतापरायण, स्वभाविक लज्जा के कारण रुकी हुई, सखी-सम्बन्धिनी रमणियों के प्रबोधन वाक्यों से पुनः अभिमुखीभूत, और सामने महादेवरूप वरको देखकर भयभीत तथा रोमाञ्चित पार्वती—जिसे महादेव ने हँस कर गले लगा लिया—आप को कल्याण दे ॥ २ ॥

अपि च।

क्रोधेद्धैर्दृष्टिपातैस्त्रिभिरुपशमिता वह्नयोऽमी त्रयोऽपि
त्रासार्ता ऋत्विजोऽधश्चपलगणहृतोष्णीषपट्टाः पतन्ति।
दक्षः स्तौत्यस्य पत्नी विलपति करुणं विद्रुतं चापि देवैः
शंसन्नित्यात्तहासो मखमथनविधौ पातु देव्यै शिवो वः॥३॥

अत्रेपदम् वरस्यात्यासत्तिम्, सा च साध्वसस्य युक्तत्वम्, हसता इति च हरस्य रतिकोविदत्वं व्यञ्जयति। अत्र नवोढाया यथावत् क्रियावर्णनात् स्वभावोक्तिरलङ्कारः, तदुक्तम्—'स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्' इति। यद्यपि 'रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसञ्चारिणोरपि' इत्युक्तं रसदोषप्रकरणे, तथापीहौत्सुक्यस्य सञ्चारिणः स्वशब्दवाच्यता न दोषः, असाधारणानुभावाभावेनानुभावव्यञ्जयताया असम्भवात्, तदुक्तं विवरणे—'अत्रौत्सुक्यस्य नैकोऽपि तादृशोऽसाधारणोऽनुभावादिरस्ति येनोपात्तेनौत्सुक्यमसंशयं प्रतीयते। येऽपि च त्वरादयस्ते नासाधारणाः, गुरुजनभयादिनापि तेषां सम्भवादिति स्वशब्देनोपादीयते' इति। पूर्वोक्तमेव वृत्तमत्रापि॥ २॥

क्रोधेद्धैरिति। क्रोधेन अवमाननाजनितरोषेण इद्धैः प्रदीप्तैः, त्रिभिः दृष्टिपातैः नयनत्रितयनिपातनैः अमी प्रसिद्धाः, त्रयोऽपि दक्षिणगार्हपत्याहवनीयाख्याः वह्नयः उपशमिताः निर्वापिताः। त्रासेन वीरभद्रकरालरूपावलोकनजनितभीत्या आर्त्ताः विह्वलाः, चपलाः चञ्चलाः गणाः रुद्रगणाः प्रमथादयस्तैः हृताः अपनीताः उष्णीषपट्टाः, शिरोवेष्टनवस्त्राणि येषाम् ते तथोक्ताः ऋत्विजः याजकाः अधः पतन्ति स्वत्राणार्थमितस्ततो धावन्तो भूमौ निपतन्ति। दक्षः अध्वरदीक्षितस्तदाख्यो यजमानः स्तौति कोपोपशमार्थं मम स्तवमाचरति। अस्य दक्षस्य पत्नी गृहीतव्रता यज्ञसंयुक्ता स्त्री करुणं विलपति परिदेवयति। देवैः यज्ञभागग्रहणाय समुपस्थितैः सुरैश्चापि विद्रुतं पलायितम्। देव्यै पार्वत्यै इति उक्तप्रकारेण शंसन् ब्रुवाणः मखमथनविधौ दक्षप्रारब्धक्रतुविनाशनकर्मणि आत्तहासः गृहीतहसनव्यापारः अट्टहासं कुर्वन् शिवः वः युष्मा

और भी—इन क्रोधदीप्त नयनों ने तीनों प्रकार के अग्नियों को शान्त कर दिया, प्रमथगण जिनकी पगड़ी छीन रहे हैं ऐसे भयार्त्त ऋत्विक गिर-पड़ रहे हैं, दक्ष स्तुति करते हैं, उनकी स्त्री विलाप कर रही है, देव गण भागे जा रहे हैं, दक्ष यज्ञ विनाश के समय अट्टहासपूर्वक पार्वती से इस प्रकार कहते हुए शिव आपका कल्याण करें॥ ३॥

अपि च ।

जितमुडुपतिना नमः सुरेभ्यो द्विजवृषभा निरुपद्रवा भवन्तु ।
भवतु च पृथिवी समृद्धसस्या प्रतपतु चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्रः ॥४॥

सामाजिकान्, पातु रक्षतु । पुरा दक्षेण यज्ञः प्रारब्धस्तत्तनया सती शिवमनाहूतं विज्ञाय स्वपितरं दक्षं तमपि निमन्त्रयितुमनुरुरोध दक्षश्च शिवं निनिन्द, पत्यवमान-क्षुभिता सती सती योगविसृष्टदेहा बभूव, तेन कुपितः शिवश्च स्वजटास्फोटनेन वीरभद्रं प्रादुर्भाव्य तद्यज्ञं विध्वंसयामासेति पौराणिकी कथाऽस्य श्लोकस्य पृष्ठभूमिः । स्रग्धरावृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्ति-तेयम्' इति ॥ ३ ॥

जितमिति । उडूनाम् नक्षत्राणाम् पतिः स्वामी चन्द्रस्तेन, जितम् सर्वोत्कर्षेण वर्तितम्, तेन तं प्रति प्रणतोऽस्मीत्यर्थो लभ्यते । 'तारकाप्युडु वा स्त्रियाम्' इत्यमरः । चन्द्रवंशीयेन राज्ञोदयनेनेत्यर्थोऽपि ध्वन्यते । सुरेभ्यः देवेभ्यः नमः नमस्कारः । द्विजवृषभाः ब्राह्मणश्रेष्ठाः निरुपद्रवाः विगतबाधाः भवन्तु जायन्ताम् । 'द्विज-वृषभाः' इत्यत्र 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति समासः । 'स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुंगवर्षभकुञ्जराः । सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः' इत्यमरः । पृथिवी च समृद्धम् विपुलम् सस्यम् व्रीह्यादि यस्यां तादृशी सम्पन्नविपुलव्रीहिः भवतु जायताम् । नरेन्द्रः राजा चन्द्र इवेति नरेन्द्रचन्द्रः चन्द्रवपुः चन्द्रवदाह्लादि-शरीरः सन् प्रतपतु प्रतापं प्रकटयतु । समासगोपमलङ्कारः । पुष्पिताग्रावृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'अयुजि न युगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरजाश्च पुष्पिताग्रा' इति ॥ ४ ॥

अस्यां नाटिकायां श्लोकत्रयघटिता नान्दी, चतुर्थस्तु श्लोको मङ्गलमात्रार्थः । केचित्तु चतुर्थमपि श्लोकं नान्द्यामेव स्वीकुर्वते । तत्राद्यमते द्वादशपदताऽस्या नान्द्याः अन्त्ये मते तु पदनियमानादरः । नान्द्यां मनाक् काव्यार्थसूचनमपि कर्त्तव्यमित्युक्त-मतस्तत्प्रदर्श्यते । तत्र प्रथमश्लोके गिरिजाशब्देन सागरिका, पुष्पाञ्जलिक्षेपेण तत्कृतं कामदेवपूजनम्, लोचनत्रयपथं यान्त्येत्यनेन राज्ञो दृष्टिपथाद्रक्षितायाः सागरिकाया वासवदत्तया राजाध्युषिते माकन्दोद्याने विलोकनम्, तेन च 'अहो प्रमादः परिजनस्य'

चन्द्रमा की जय हो, देवों को नमस्कार, ब्राह्मणों के उपद्रव शान्त हों, पृथ्वी सस्यसम्पन्न होवे और राजाओं में चन्द्रतुल्य हमारे महाराज का प्रताप बढ़े ॥४॥

(नान्द्यन्ते ।)

इत्यारभ्य 'काञ्चनमालाया हस्ते समर्पय' इत्यन्तः सन्दर्भः इत्याद्यर्थाः सूचिताः। द्वितीये श्लोके 'औत्सुक्येन कृतत्वरा' इत्यनेन 'हृदय प्रसीद प्रसीद' इत्यारभ्य 'भर्त्तः अतिकोपना खल्वेषा, तद्धस्ते गृहीत्वा प्रसादयैनाम्' इत्यन्तः काव्यार्थः सूचितः। 'दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा' इत्यनेन 'सागरिका-(राजानं दृष्ट्वा सहर्षं ससाध्वसम्) एनं प्रेक्ष्य अतिसाध्वसेन न शक्नोमि पदात्पदमपि गन्तुं तत्किंवाऽत्र करिष्ये' इति काव्यार्थः सूचितः। हरेणेति राजा, गौरीति गौरवर्णा सागरिका। श्लिष्टेत्यनेन 'वासवदत्तानुरोधेन राजकृतं सागरिकापाणिग्रहणम्' इत्यादि सूचितम्। तृतीयश्लोके क्रोधेद्धैरित्यनेन वासवदत्ताक्रोधः, दक्षः स्तौतीत्यनेन राज्ञा कृतं वासवदत्तासान्त्वनम् अस्य पत्नी करुणं विलपतीत्यनेन सागरिकाकृतं 'हा तात! एषाहमनाथाऽशरणा विपद्ये' इति सागरिकाविलपनम्, उपशमिता वह्नय इति त्रासार्त्ता इति चैन्द्रजालिकप्रदर्शिताग्निकृतसंरम्भस्तत्प्रशमनं चेत्याद्यर्थजातं सूचितम्। चतुर्थमपि पद्यं नान्द्यन्तर्गतमिति मते जितमुडुपतिनेति रुमण्वतो विजयो राज्ञो रत्नावलीलाभश्च सूचितः।

नान्द्यन्त इति। नान्द्याः रङ्गविघ्नोपशान्तये विधायमानायाः आशीर्नमस्क्रियाद्यन्यतमभेदभूतमङ्गलाचरणरूपायाः, अन्ते अवसाने, चरमवर्णध्वंसोऽत्रान्तपदार्थः। सूत्रधारः प्रविश्याहेत्यग्रिमेणान्वयः। नाटकादिप्रयोगे सूत्रधारो नान्दीं पठतीति समुदाचारः 'सूत्रधारः पठेन्नान्दीं मध्यमं स्वरमाश्रितः' इति भरतोक्तिमाधारीकृत्य प्रवृत्तः। यद्यपि नाट्योपक्रमे विघ्नोपशान्तये कुशीलवैर्द्वाविंशत्यङ्गसहितः पूर्वरङ्गः कर्त्तव्यः, 'प्रथमं पूर्वरङ्गश्च ततः प्रस्तावनेति च। आरम्भे सर्वनाट्यानामेतत्सामान्यमिष्यते॥ यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये। कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते'॥ किञ्च-'सभापतिस्तथा सभ्या गायका वादका अपि। नटी नटश्च मोदन्ते यत्रान्योन्यानुरञ्जनात्॥ अतो रङ्ग इति ज्ञेयः पूर्वं यत्स प्रकल्प्यते। तस्मादयं पूर्वरङ्ग इति विद्वद्भिरुच्यते'॥ इति वचनैः पूर्वरङ्गस्य प्रथमविधेयत्वं बुध्यते, तथापि द्वाविंशत्यङ्गसहितरङ्गमध्ये नान्दीरूपस्यैवाङ्गस्यावश्यविधेयतया सैवात्र पूर्वं विहिता। तथा चोक्तम्-'यद्यप्यङ्गानि भूयांसि पूर्वरङ्गस्य नाटके। तेषामवश्यं कर्त्तव्या नान्दी

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण। अद्याहं वसन्तोत्सवे सबहुमानमाहूय नानादिग्देशागतेन राज्ञः श्रीहर्षदेवस्य पादपद्मोपजीविना राजसमूहेनोक्तो

नन्दीश्वरप्रियाः' ॥ नान्दीलक्षणन्तु—'आशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोकः काव्यार्थसूचकः । नान्दी पदैर्द्वादशभिरष्टाभिर्वाप्यलङ्कृता' ॥ इति ॥ अत्र पदशब्देन सुप्तिङन्तरूपं पदं श्लोकचतुर्थांशरूपम् अवान्तरवाक्यार्थरूपञ्च गृह्यते । तदुक्तं नाट्यप्रदीपे—'श्लोकपादं पदं कश्चित् सुप्तिङन्तमथापरे । परेऽवान्तरवाक्यैकस्वरूपं पदमूचिरे' ॥ इति ॥ विद्यानाथस्तु 'कैश्चिन्नान्द्यां पदनियमो नाभ्युपगम्यते' इत्याह । अतोऽत्र नान्द्यामुक्तप्रकारकपदनियमानादरेऽपि न क्षतिः । नान्दीपदव्युत्पत्तिरुक्ता नाट्यप्रदीपे तथा—'नन्दन्ति काव्यानि कवीन्द्रवर्गाः कुशीलवाः पारिषदाश्च सन्तः । यस्मादलं सज्जनसिन्धुहंसी तस्मादियं सा कथितेह नान्दी' ॥ नान्दीस्वरूपचिन्तायाम्—'माङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी'ति श्रूयते, तदत्रोडुपतिनेति नरेन्द्रचन्द्र इति च प्रकृतनान्द्याश्चन्द्रशंसिता बोध्या । चन्द्रपदोपादानेन नान्द्यां काव्ये रसस्फीतताऽऽशंस्यते, तथा चोक्तम् 'चन्द्रनामाङ्किता कार्या रसानां स यतो निधिः । प्रीते चन्द्रमसि स्फीता रसश्रीरिति बालुकिः' ॥

सूत्रधार इति । सूत्रं धरतीति सूत्रधारः, 'कर्मण्यण्' इत्यण् । सूत्रञ्चात्र नाटकप्रयोगव्यवस्था, तथा चामरः—'सूत्रं तन्तुव्यवस्थयोः' इति । उक्तञ्च—'नाटकीयकथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते । रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते' इति ।

अलमिति । अति विस्तरेण बहुना विस्तारेण । अलम् किमपि साध्यं नास्तीत्याशयः । अलमित्यव्ययं वैयर्थ्यबोधकम्, तेन विस्तारस्य फलराहित्यं सूच्यते । गम्यमानसाधनक्रियां प्रति करणत्वेन अतिविस्तरपदे तृतीया । विस्तरश्चात्र मङ्गलश्लोकसङ्ख्याभूयस्त्वेन बोध्यः । नाटकावलोकनोत्सुकसामाजिकमनोरथप्रतिबन्धकतया चात्र विस्तरवैयर्थ्यमवसेयम् । 'विस्तारो विस्तरो व्यासः स तु शब्दस्य विस्तरः' इत्यमरः ॥

अद्येति । 'रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः । रूपकस्य कवेराख्यां गोत्राद्यपि स कीर्त्तयेत्' ॥ इत्यभियुक्तोक्तिमनुसृत्यात्र सूत्रधारः अद्याहमित्यारभ्य

सूत्रधार—अधिक विस्तार व्यर्थ है ! इस वसन्तोत्सव में नाना दिग्दिगन्त से आकर जुटे हुए महाराज हर्ष देव के अनुगामी नृपों ने मुझे सादर बुलाकर कहा कि

यथा—अस्मत्स्वामिना श्रीहर्षदेवेनापूर्ववस्तुरचनालंकृता रत्नावली नाम नाटिका कृता। सा चास्माभिः श्रोत्रपरम्परया श्रुता न तु प्रयोगतो दृष्टा। तत्तस्यैव राज्ञः सकलजनहृदयाह्लादिनो बहुमानादस्मासु चानुग्रह-

---

'यथाऽभिलषितं सम्पादयामि' इत्यन्तेन ग्रन्थेन कवेर्नाम गोत्रादि निबद्धवान्। सा चेयं भारतीवृत्तिः, 'भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः' इति स्मरणात्। वसन्तोत्सवे वसन्तर्तुप्रारम्भे विधीयमाने प्रमोदातिशयावहे महे, स चायमुत्सवः फाल्गुनपौर्णमासीमवाप्य विधीयते, फाल्गुनीं पूर्णिमामारभ्य तदुत्तरगामिपञ्चमी-पर्यन्तं वसन्तोत्सवः सम्पाद्य इति भविष्योत्तरपुराणमतम्। अस्मिन् वसन्तसमयेऽनुष्ठेये भगवतो मदनस्य महोत्सवे सम्प्राप्ते इति तात्पर्यम्। 'नानादिग्देशागतेन = नाना दिशः येषाम् ते च ते देशाश्च तेभ्य आगतेन भिन्नजनपदसमायातेन। एतेन परिषदो भिन्नभूभागप्रचलितकलाकोविदत्वमावेदितम्। राज्ञः नरपतेः। श्रीहर्ष-देवस्य=तदभिधानस्य। पादपद्मोपजीविना=पादौ पद्मे इवेति पादपद्मे ते उपजीवति स्वाश्रयीकरोतीति पादपद्मोपजीवी तेन चरणकमलमुपासीनेनेत्यर्थः, तदिदं राजसमूहे-नेत्यस्य विशेषणम् 'अहमाहूय उक्तः' इत्यन्वयः। किमुक्त इत्यपेक्षां शमयितुमाह—यथेत्यादि। अस्मत्स्वामिना=अस्मत्पालकेन। श्रीहर्षदेवेन=तदाख्येन नरपतिना। अपूर्ववस्तुरचनाऽलंकृता = अपूर्वेण अन्यानुद्भावितेन वस्तुना प्रतिपाद्यकथया अपूर्वया रचनया वर्णनया च अलङ्कृता भूषिता। रत्नावलीनाम = रत्नावलीतिसंज्ञया प्रसिद्धा। नाटिका = रूपकविशेषः। कृता = उपनिबद्धा। सा च नाटिका, अस्माभिः श्रोत्रपरम्परया = कर्णाकर्णिकया। श्रुता = श्रुतिपथातिथीकृता। प्रयोगतः = अभि-नयद्वारा। सार्वविभक्तिकस्तसिः। दृष्टा = विलोकिता। एतेन समधिकोत्कण्ठा-कारणमुक्तम्। तत् = तस्मात्, अस्मत्कुतूहलशमनस्यावश्यविधेयत्वादित्यर्थः। तस्यैव राज्ञः = प्रोक्तस्यैव भूपतेः। सकलजनहृदयाह्लादिनः = समस्तप्रजाजनमनोरञ्जकस्य। बहुमानात् = आदरातिशयात्। तत्प्रणीतरूपकाभिनयो हि तस्मिन्नादरं प्रदर्शयतीत्यभिप्रायेणेत्थमुक्तम्। अस्मासु = नानादिग्देशादागतजनेषु। अनुग्रह-बुद्ध्या = कृपया। तद्रूपकाभिनयप्रेक्षणावसरप्रदानमस्मदनुग्रहरूपतया परिणमे-

---

हमारे महाराज श्रीहर्षदेव ने कथावस्तु तथा वर्णन में अद्वितीय रत्नावली नामक नाटिका बनाई है, उसके विषय में हमने सुना भी है, उसका अभिनय नहीं देखा। सभी को प्रसन्न रखने वाले उस महाराज के प्रति आदर तथा हम लोगों के प्रति

बुद्ध्या यथावत्प्रयोगेण त्वया नाटयितव्येति । तद्यावदिदानीं नेपथ्यरचनां कृत्वा यथाभिलषितं सम्पादयामि । (परिक्रम्य अवलोक्य च ।) अये आवर्जितानि सकलसामाजिकानां मनांसीति मे निश्चयः । कुतः—

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम् ।

दिति भावः । यथावत्प्रयोगेण = समुचिताभिनयेन । एतेन प्रयोगस्य यथावत्कर्त्तव्यतोपदेशेनोपेक्षात्यागप्रभवाभिनयचारिमजन्ययशोलोभो मनाक् सन्धुक्षितः । अस्मत्कुतूहलं शमयितुं तस्या नाटिकाया यथार्हमभिनयस्त्वया क्रियतामेवंकृतेऽस्मासु तवानुग्रहः, तद्रूपकप्रणेतरि नृपवरे बहुमानश्च प्रकाशितः स्यादिति त्वयाऽवश्यमवधेयमत्रेत्यभिप्रायः । तत् = तस्मात् , सामाजिकोत्कण्ठाया अवश्यशमनीयत्वात् । नेपथ्यरचनाम्=वेषविन्यासम् । 'आकल्पवेषौ नेपथ्यम्' इत्यमरः । स च 'रामादिव्यञ्जको वेषो नटे नेपथ्यमुच्यते' इति भरतोक्तः । यथाभिलषितम् = अभीप्सितम् । सम्पादयामि = अनुतिष्ठामि । अये इति सम्भ्रमसूचकमव्ययम् । 'अये क्रोधविषादयोः संभ्रमे' इति हैमः । सकलानाम् = सर्वेषाम् । सामाजिकानाम् = सभ्यानाम् । मनांसि = चित्तानि । आवर्जितानि = आकृष्टानि । सामाजिकोत्सुकभाव एव तदाकृष्टताप्रत्यायक इति· तदौत्सुक्येन तदाकर्षणविषये निश्चयवानहमिति सूत्रधारस्याशयः ।

श्रीहर्ष इति । श्रीहर्षः रत्नावलीप्रणयनप्राप्तप्रकामकीर्त्तिस्तदाख्यो राजा निपुणः प्रवीणः (मर्मज्ञः) कविः कवयिता । न केवलं कविः श्रीहर्षः किन्तु निपुणः कविरिति तन्निर्मितरत्नावलीदिदृक्षाबद्धोत्कण्ठता सामाजिकानां नास्याभाविकीति भावः । नन्वस्तु श्रीहर्षो निपुणः कविः, निर्मिमीतां स च ग्रन्थरत्नम् , जायन्तां च सामाजिका धृतोत्कण्ठाः, परन्तेषु गुणज्ञता नास्तीति वृथा तेऽभिनयप्रदर्शनप्रयास इत्यभिसन्धायाह—**परिषदपीति ।** एषा पुरो दृश्यमाना परिषत् गोष्ठी अपि गुण-

---

अनुग्रह बुद्धि से वही नाटिका आप अभिनीत करें। इसलिये अब वेष-विन्यास करके उनका अभीष्ट सम्पादन किया जाय।

(चलकर तथा देखकर)

मुझे निश्चय है कि दर्शकमण्डली का हृदय आकृष्ट हो रहा है, क्योंकि—
श्रीहर्ष एक निपुण कवि हैं, यह सभा भी गुणज्ञ है, उदयन का चरित्र बड़ा

वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥ ५ ॥

ग्राहिणी रचयितुरभिनेतुश्च गुणान् ग्रहीतुं परिचेतुं शीलमस्यास्तादृशी स्वभावतो गुण-ग्रहणप्रवणा। नन्वस्तु निपुणः कविर्जायतां च परिषद्गुणज्ञाऽथापि शुष्का कथा शक्यते स्वादयितुम्, इत्यत्राह—लोक इति। वत्सराजस्य उदयनस्य चरितं आख्यानकम् च लोके जगति हारि मनोहरणशीलम्। 'वत्सराजचरितं हारि' इत्येतावतैव तस्य रमणीयताप्रतीतौ सम्भवन्त्यां 'लोके' इति कथनेन 'लोके शूरः' इत्यत्र यथा समसामयिकसमस्तशूरापेक्षं वैलक्षण्यं प्रतीयते तद्वत्कथान्तरापेक्षया समधिकं हृदयावर्जकत्वं बोध्यते। एवं सत्यपि गुणत्रयेऽयोग्यनटाभिनये चमत्कारो नोदियादिति तदपनुदति। नाट्ये चेति। अहं च त्वं च इमे चेति वयम् एतदभिनयानुष्ठातारः वयं नटाः नाट्ये दक्षाः अवस्थानुकृतौ कुशलाः। एतेन स्वस्य स्वसहायानां च दक्षतानिवेदनेन तद्वैगुण्यकृतत्रुटिसम्भावना निराकृता। तदेवम् इह अत्र प्रस्तुतेऽभिनये एकैकम् प्रत्येकम् वस्तु निपुणकविगुणग्राहिपरिषत्कथाचारिमदक्षनटाद्यन्यतम-स्वरूपम् अपि वाञ्छितस्य काम्यमानस्य फलस्य सभास्वान्तसमाकर्षणरूपस्य प्राप्तेः पदम् स्थानम्। तदन्यतमेनापि सभासमाकर्षणमस्ति सुकरमिति भावः। अयम् उक्तरूपः गुणानां गणः समष्टिः पुनः मद्भाग्योपचयात् मदीयसुकृतोद्रेकवशात् समुदितः एकत्रीभूयोपस्थितः। तदवश्यमनेन गुणगणेन सामाजिकजनहृदयानन्दन-जन्ययशोलाभाय प्रयतनीयं मयेति तस्याशयः। गुणग्राहिणीति विशेषणवशादत्र परिषत्पदं तत्रत्यजनपरम्। 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' इति दशरूपके। 'प्रवीणे निपुणाभिज्ञ' इत्यमरः। 'समज्या परिषद् गोष्ठी'ति विश्वः। 'पदं व्यवसितत्राण-स्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इति चामरः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। इयञ्च भारतीवृत्त्यङ्गभूता प्ररोचना, तत्स्वरूपञ्च-प्रस्तुतार्थप्रशंसनेन श्रोतॄणां प्रवृत्त्युन्मुखीकरणम्, तदुक्तं दशरूपके-उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना' इति ॥ ५ ॥

हृदयग्राही है, और हम लोग अभिनय के पारदर्शी हैं। इस तरह इसमें एक भी गुण का होना अभीष्ट सिद्धि का कारण हो सकता है, किन्तु हमारे भाग्य से तो यहाँ समस्त गुण एकत्र रूप में प्राप्त हो रहे हैं ॥ ५ ॥

तद्यावद् गृहं गत्वा गृहिणीमाहूय संगीतकमनुतिष्ठामि (परिक्रम्य नेपथ्याभिमुखमवलोक्य च ।) इदमस्मदीयं गृहम् । यावत्प्रविशामि । (प्रविश्य ।) आर्ये ! इतस्तावत् ।

(प्रविश्य)

नटी—अज्जउत्त ! इअम्हि आणवेदु अज्जो को णिओओ अणुचिट्ठीअदुत्ति । (आर्यपुत्र ! इयमस्मि । आज्ञापयत्वार्यः को नियोगोऽनुष्ठीयतामिति ।)

सूत्रधारः—आर्ये ! रत्नावलीदर्शनोत्सुकोऽयं राजलोकः । तद् गृह्यतां नेपथ्यम् ।

नटी—(निःश्वस्य । सोद्वेगम् । अज्जउत्त ! णिच्चिन्तो दाणिं सि तुमं

गृहिणीम्-स्वगृहस्वामिनीं प्रियतमाम् । आहूय आकार्य । सङ्गीतकम्=नृत्तं गीतं तथा वाद्यं त्रयं सङ्गीतमुच्यते' इति लक्षितम् । नेपथ्याभिमुखम्-जवनिकादिशि 'नेपथ्यं स्याज्जवनिका रङ्गभूमिः प्रसाधनम्' इत्यजयः । इतस्तावत्-इत्यस्यागम्यतामिति शेषः । आर्ये' इति स्त्रीसम्बोधनम् 'पत्नी चार्येति संभाष्या' इति भरतोक्तेः ।

आर्यपुत्र-स्वामिन्, 'सर्वस्त्रीभिः पतिर्वाच्य आर्यपुत्रेति यौवने' इति भरतोक्तिं मनसि कृत्येत्थं सम्बोधनम् । इत आरभ्यात्र नाटिकायां प्राकृतप्रयोगः तत्र सर्वत्र शौरसेन्येवादृता, 'प्राक् प्रतीचीभुवोः सिन्ध्वोर्हिमवद्विन्ध्यशैलयोः । अन्तरावस्थितं देशमार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ॥ आर्यावर्त्तप्रसूतासु सर्वास्त्वेव हि जातिषु । शौरसेनीं समाश्रित्य भाषां काव्ये प्रयोजयेत् ॥' इति भरतोक्तेः । इयमस्मीति सूत्रधारकृताह्वानस्योत्तरम् । नियोगः आदेशः । अनुष्ठीयताम् सम्पाद्यताम् ।

रत्नावलीति । अत्र रत्नावलीपदं तदाख्यनाटिकाऽभिनयपरं बोध्यम् , तस्यैवात्र दर्शनीयत्वात् । राजलोकः राजजनः । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । तत्—तस्मात् । 'यत्तद्यतस्ततो हेतौ' इत्यमरः । सोद्वेगम्-सखेदम् । यद्यपि उद्वेगपदं

इसलिये तबतक घर से नटी को पुकार कर सङ्गीत प्रारम्भ कर दूं । (चल कर, नेपथ्य की ओर देख कर) यही तो हमारा घर है. तो प्रवेश करूँ । (प्रवेश कर) आर्ये ! इधर तो सुनो ।

नटी—आर्यपुत्र ! यही तो हूँ । आपकी क्या आज्ञा है ?

सूत्रधार—आर्ये ! राजगण रत्नावली देखने को उत्सुक हो रहे हैं, इसलिये वेष धारण करो ।

नटी—(निःश्वास लेकर, दुःख से) आर्यपुत्र ? आप निश्चिन्त हैं, क्यों नहीं

ता कीस ण णच्चसि मह उण मन्दभाआए एक्का ज्जेव दुहिदा। सावि तुए कहिंपि देसन्तरे दिण्णा। कहं एव्वं दूरदेसट्ठिदेण भत्तुणा सह से पाणिग्गहणं भविस्सदि त्ति इमाए चिन्ताए अप्पावि मे ण पडिहदि। किं पुण णच्चिदव्वम् ? (आर्यपुत्र ! निश्चिन्त इदानीमसि त्वं तत्कस्मान्न नृत्यसि। मम पुनर्मन्दभाग्याया एकैव दुहिता। सापि त्वया कस्मिन्नपि देशान्तरे दत्ता। कथमेवं दूरदेशस्थितेन भर्त्रा सहास्याः पाणिग्रहणं भविष्यतीत्यनया चिन्तयात्मापि मे न प्रतिभाति। किं पुनर्नर्तितव्यम् ?)

सूत्रधारः—आर्ये ! दूरस्थितेनेत्यलमुद्वेगेन। पश्य—

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः॥ ६॥

चौरादिसम्भूतभये प्रसिद्धं तथाप्यत्र खेदपरम्, प्रकरणस्वारस्यात्।

इदानीम्–अधुना। निश्चिन्तः विगतचिन्तः। नृत्यसि अभिनयमाचरसि। मन्दं स्वल्पं भाग्यम् अदृष्टम् यस्याः सा तस्याः। इयमुक्तिरान्तरिकखेदव्यञ्जिका। दुहिता कन्या। दत्ता वाचा समर्पिता, वधूभावेन दातुं स्थिरीकृतेत्यर्थः। पाणिग्रहणम् विवाहः। दूरदेशस्थितस्य जामातुर्वनितान्तरासक्तिमाशङ्क्येयं चिन्ता। प्रतिभाति रोचते, बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चिदित्यत्र यथा। नर्त्तितव्यम् अभिनयाङ्गभूतं नर्त्तनम्। तस्यारोच्यता तु कैमुतिकन्यायसिद्धा। दूरस्थेनेति। दूरदेशस्थितेन जामात्रा दुहितुः प्रतिग्रहः कथमिति चिन्ताकरेण। उद्वेगेन खेदेन। अलम् किमपि न फलमिति भावः।

द्वीपादिति। अभिमुखीभूतः अनुकूलः विधिः भाग्यम् अन्यस्मात् विद्यमानात् इतरस्मात् द्वीपात् देशात् जलनिधेः समुद्रस्य मध्यात् अभ्यन्तरात् दिशः प्राच्यादिभेदभिन्नस्य दिगवकाशस्य अन्तात् चरमभागात् अपि अभिमतम् इष्टं वस्तु झटिति शीघ्रम् आनीय उपकल्प्य घटयति मेलयति। अनुकूलं भाग्यं दूरत्वकृतं

नाचेंगे, मुझ अभागिनी को एक ही लड़की है, उसकी भी शादी आपने किसी दूर-देशान्तर में तय की है, वह परदेशी कब इसके साथ विवाह करेगा, इसी चिन्ता से मुझे अपनी भी सुध नहीं रहती है, फिर नाचना कैसे जँचे !

सूत्रधार—आर्ये ! दूर में होना खेद का विषय नहीं है, क्योंकि—

दूसरे द्वीपमें, समुद्र के मध्यमें, अथवा दिगन्त में हो, यदि भाग्य अनुकूल हुआ तो वहाँ से भी अभिप्रेत वस्तु को लाकर अतिशीघ्र मिला देता है॥ ६॥

(नेपथ्ये)

साधु भरतपुत्र ! साधु। एवमेतत्। कः संदेहः ? (द्वीपादन्यस्मादिति पठति)

सूत्रधारः—(आकर्ण्य। नेपथ्याभिमुखमवलोक्य। सहर्षम्) आर्ये! एष मम यवीयान्भ्राता गृहीतयौगन्धरायणभूमिकः प्राप्त एव। तदेहि। आवामपि नेपथ्यग्रहणाय सज्जीभवावः।

दुर्गमत्वकृतं वा व्यवधानं विधूय कालानतिपातेन हितेन योजयतीति भावः। जलानि निधीयन्तेऽस्मिन्निति जलनिधिः। 'कर्मण्यधिकरणे चे'ति किप्रत्ययः। द्विर्गता आपो यस्मिन्निति द्वीपम्। 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' इतीदादेशः। घटयतीति चौरादिकस्य रूपम्। भौवादिकस्य ण्यन्तस्य तु घाटयतीति। अन्यस्माद् द्वीपात् सिंहलात् अभिमतं रत्नावलीरूपं प्रियजनमानीय घटयेदिति प्रस्तुताक्षेपः। आर्या जातिः, तल्लक्षणं यथा—'यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या'॥ इति॥ ६॥

साधु मनोहरं समयानुकूलञ्च। भवतोक्तमिति शेषः। भरतपुत्रेति सम्बोधनं नाट्याचार्यतनयत्वप्रतिपादनेन सूत्रधारस्यातिशयिनमादरं व्यञ्जयति सरस्वतीपुत्रशारदातनयेत्यादिप्रसिद्धपदवत्। इदञ्च वक्ष्यमाणस्वरूपस्य मुखसन्धेरुपक्षेपाख्यमङ्गम्, 'काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपक्षेप इति स्मृतः' इति च तल्लक्षणं तत्समन्वयश्च द्वीपादन्यस्मादपीत्यादिना यौगन्धरायणो वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तौ हेतुभूतमनुकूलदैवसहायं स्वव्यापारं बीजत्वेनोपक्षिप्तवानित्यवसेयः।

यवीयान् कनिष्ठः। 'यवीयोऽवरजानुजाः' इत्यमरः। गृहीतयौगन्धरायणभूमिकः विहितवत्सराजप्रधानामात्यपरिच्छदः। 'भूमिका रचनायां स्याद्वेशान्तरपरिग्रहे' इति मेदिनी। युगन्धारयतीति युगन्धरः, 'संज्ञायां भृतॄवृजिधारिसहिपतिदमः इत्यनेन खच्। ततोऽपत्यार्थे फकि यौगन्धरायणः। इदं नाम प्रधानमन्त्रिणः।

(नेपथ्य में)

साधु भरतपुत्र ! साधु। है तो ऐसा ही। इसमें क्या सन्देह ! 'द्वीपादन्यस्मादपि' यह दुहराता है।

सूत्रधार—(सुन कर। नेपथ्य की ओर देख कर सहर्ष) आर्ये ! यह देखो, हमारा छोटा भाई यौगन्धरायण बनकर आ गया। आओ, हम भी वेष बदलने में लग जायं।

(इति निष्क्रान्तौ।)

इति प्रस्तावना

(ततः प्रविशति यौगन्धरायणः।)

यौगन्धरायणः—एवमेतत्। कः सन्देहः? (द्वीपादन्यस्मादिति पुनः पठित्वा।) अन्यथा क सिद्धादेशप्रत्ययप्रार्थितायाः सिंहलेश्वरदुहितुः समुद्रे

नेपथ्यग्रहणाय समयोचितंपात्रग्राह्यवेषपरिवर्त्तनाय। सज्जीभवावः–असज्जाः सज्जा भवावः इत्यभूततद्भावे च्विः।

प्रस्तावना—आमुखम्। तल्लक्षणं यथा—'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा। सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥ चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः। आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा'॥ यथा निर्दिष्टः—द्वीपादन्यस्मादपीत्यादि पठन्नित्यर्थः।

एवमेतत्–यथार्थं भरतोक्तमित्यर्थः। कः सन्देह इति भरतोक्तौ विलम्बं व्यञ्जयति। अनुकूलं दैवं सर्वमपि साधयितुं समर्थमित्युपपादयितुं स्वस्वामिवृत्तमवतारयति–अन्यथेति। अन्यथा–दैवानुकूलतायाः सिद्धिहेतुतानङ्गीकारे। सिद्धस्य अणिमादिशास्त्रोक्तसिद्धिसम्पन्नस्य पुरुषस्य। आदेशः—कथनम्। रत्नावलीपरिणेता चक्रवर्त्तितामुपगन्तेति हि सिद्धादेशोऽत्र। तत्र प्रत्ययः—अवितथताप्रत्ययः तेन, सिद्धवचनस्यावश्यफलवत्ताविश्वासेनेत्यर्थः। 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः। तेन प्रार्थितायाः याचितायाः। सिंहलेश्वरदुहितुः–सिंहलद्वीपाधिपकन्यायाः रत्नावल्याः। सिंहलद्वीपस्यावस्थितिश्च लङ्कासमीपे क्वचन प्रतीता। लङ्कैव सिंहलद्वीपमिति भ्रमः, तथा चोक्तम्भागवते—'जम्बूद्वीपस्य च राजन्नुपद्वीपानष्टौ ह्येक उपदिशन्ति'। तद्यथा—'स्वर्णप्रस्थश्चन्द्रशुक्ल आवर्त्तनो रमणको मुदाहरणः पाञ्चजन्यः सिंहलो लङ्केति'। सिंहलस्य लङ्कात्वे अष्टद्वीपोपक्रमस्यासङ्गतिः। समुद्रे–सागरे। समीचीना उद्रा जलचरा यस्मिन्स समुद्रः, मुद्रया मर्यादया

(दोनों का प्रस्थान)

प्रस्तावना समाप्त

(यौगन्धरायण का प्रवेश)

यौगन्धरायण—ठीक कहा। इसमें क्या सन्देह! ('द्वीपादन्यस्मादपि' इसको दुहराकर) अन्यथा कैसे सिद्ध की बात पर विश्वास करके मंगनी की गई सिंहलेश्वर-कुमारी जब समुद्र में नौका के भग्न हो जाने से डूब गई तो फिर उसको

प्रवहणभङ्गनिमग्नायाः फलकासादनं क्व च कौशाम्बीयेन वणिजा सिंहलेभ्यः प्रत्यागच्छता तदवस्थायाः संभावनं रत्नमालाचिह्नायाः प्रत्यभिज्ञानादिहानयनं च। (सहर्षम्।) सर्वथा स्पृशन्ति नः स्वामिनमभ्युदयाः।

सहितः समुद्र इति वा समुद्रपदव्युत्पत्तिः। प्रवहणभङ्गनिमग्नायाः—प्रकृष्टमुह्यतेऽनेनेति प्रवहणं पोतः। करणे ल्युटि 'कृत्यचः' इति णत्वम्। 'पोतः प्रवहणं स्मृतम्' इति हलायुधः। प्रवहणस्य भङ्गः जलनिमज्जनम् तेन निमग्नायाः पयसि ब्रुडितायाः। नौकाभङ्गेन पयसि कृतसमाधेरित्यर्थः।

फलकासादनम्-पयसि येन तरेत्तादृशं काष्ठखण्डं फलकं तस्यासादनं प्राप्तिः। पयोमग्नायास्तीरप्रापकफलकासादनं दैवानुकूल्यमात्रसम्पाद्यमिति भावः। कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी नाम नगरी वत्सपत्तनम्। सा च 'कोशम्' इति ख्यायते प्रयागसमीपे। 'कौशाम्बी वत्सपत्तनम्' इति हेमचन्द्रः। कथासरित्सागरेऽपि—"अस्ति वत्स इति ख्यातो देशो दर्पोपशान्तये। स्वर्गस्य निर्मितो धात्रा प्रतिमल्ल इव क्षितौ॥ कौशाम्बी नाम तत्रास्ति मध्यभागे महापुरी"। तत्र भव इत्यर्थे ततो 'वृद्धाच्छः' इतिच्छेन कौशाम्बीय इति तेन वणिजा व्यापारिजनेन। सिंहलेभ्य इत्यपादाने पञ्चमी। सिंहलद्वीपस्यैकत्वेऽपि तदन्तःपातिप्रान्तबाहुल्यकृतं बहुत्वम्, उद्भूतावयवभेदविवक्षयेव। प्रत्यागच्छता परावर्तमानेन। तदवस्थायाः विपत्तिपतितायाः। तरङ्गचपलफलकावस्थितत्वेनानुक्षणप्राणापायभयव्याकुलाया इत्याशयः। संभावनम्-आश्वासनं मा रोदीरयमहमागत्य त्वामुद्धरामि प्रापयामि चोद्दिष्टं स्थानमित्यादिरूपम्। रत्नमाला हीरकादिबहुमूल्यमणिनिर्मिता स्रक् चिह्नं राजपरिवारत्वबोधकं लक्षणं यस्याः सा तथा तस्याः। प्रत्यभिज्ञानात् राजपुत्रीत्वेन परिचयात्। इह कौशाम्ब्याम् आनयनम् प्रापणम्। इह क्वशब्दद्वयं समुद्रपतितरत्नावलीकर्तृकफलकासादनस्य वणिजा तदवस्थायाः संभावनपूर्वकेहानयनस्य चात्यन्तासम्भवित्वद्योतनद्वाराऽनुकूलदैवस्य माहात्म्यं बोधयति।

सर्वथा-सर्वेण प्रकारेण। अभ्युदयाः- सिद्धयः। नः स्वामिनम्-वत्सराजम्। स्पृशन्ति-आश्रयन्ति स्वसम्बन्धभाजं विदधतीत्यर्थः। एतच्च मुखसन्धेः परिकराख्य-

कैसे काष्ठ-फलक का अवलम्बन प्राप्त हो जाता? कैसे उस अवस्था में सिंहल से लौटने वाले कौशाम्बी के व्यापारी उससे मिलते, और रत्नमाला के सहारे पहचान कर यहाँ पहुँचा देते? (कुछ सोचकर) मैंने भी सादर उस देवी

(विचिन्त्य।) मयापि चैनां देवीहस्ते सगौरवं निक्षिपता युक्तमेवानु ष्ठितम्। श्रुतं च मया—बाभ्रव्योऽपि कञ्चुकी सिंहलेश्वरामात्येन वसु भूतिना सह कथं कथमपि समुद्रादुत्तीर्य कोशलोच्छित्तये गतवता रुम ण्वता मिलित इति। तदेवं निष्पन्नप्रायमपि प्रभुप्रयोजनं न मे धृतिमाव हतीति कष्टोऽयं खलु भृत्यभावः।

मङ्गम्; क सिद्धादेशेत्यारभ्य स्वामिनमभ्युदया इत्यन्तेन सन्दर्भेणोत्पन्नार्थस बहुलीकरणात्। तल्लक्षणं यथा—'यदुत्पन्नार्थबाहुल्यं ज्ञेयः परिकरस्तु सः' इति।

मया—यौगन्धरायणेन। एनाम्—रत्नावलीम्। देवीहस्ते—राजप्रधानमहिष वासवदत्ताया अधिकारे। सगौरवम्—सादरम्। निक्षिपता—न्यासीकुर्वता। युक्तमे उचितमेव। अनुष्ठितम्—विहितम्। रत्नावल्या वासवदत्ताभगिनीत्वेन तद्धस्तन्य स्तव्यताया एवौचित्यात्। बाभ्रव्यः—तन्नामको वत्सराजस्य कञ्चुकी (यः प्रच्छ यौगन्धरायणेन वत्सराजार्थं रत्नावलीं याचितुं सिंहलेश्वरसमीपं प्रेषितो मध्ये समुद्रं पोतनिमज्जनेन मृतत्वेनोत्प्रेक्षितः सः) कञ्चुकिलक्षणं यथा—'अन्तःपुरचा राज्ञो वृद्धो विप्रो गुणान्वितः। उक्तिप्रत्युक्तिकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते'। सिंहलेश्वरस्य विक्रमबाहोर्नामभूपतेः। अमा सह भवोऽमात्यो मन्त्री तेन 'अव्ययात्त्यप्' इति त्यप्प्रत्ययः वसुभूतिना तदभिधानेन। कथं कथमपि केनाि प्रकारेण, महता कष्टेनेत्यर्थः। समुद्रादुत्तीर्य—समुद्रमध्यान्निर्गत्य। कोसलोच्छित्त कोसलदेशाधिपविजयायेति तात्पर्यम्, तद्विजये च तद्राज्यलाभ आर्थिकः। रुम ण्वता तदाख्येन वत्सराजसेनानायकेन। मिलितः—सङ्गतः। एतेन रुमण्वद्‌बलवृद्धि र्बाभ्रव्यकर्तृकनिरापच्छरणावाप्तिश्च व्यञ्जिता। 'मयापि चैनाम्'···इत्यारभ्य 'मिलित इत्यन्तेन ग्रन्थेन अन्तःपुरचारिण्याः सागरिकाया उदयनेन यथावसरं दर्शनस प्रयोजनत्वेनावधारणात् बाभ्रव्यसिंहलेश्वरामात्ययोः स्वनायकसमागमहेतुत्वेन चाव धारणात् युक्त्याख्यमङ्गमिदमिति नारायणः। तदुक्तम्—'सम्प्रधारणमर्थानां युक्तिरित्यभिधीयते' इति। एवम्—सागरिकाया अन्तःपुरागमनेन बाभ्रव्यस्य निरापत्

के हाथों में सौंप कर अच्छा ही किया। मैंने यह भी सुना है कि बाभ्रव्य नामक कञ्चुकी सिंहलेश्वर के मन्त्री वसुभूति के साथ किसी तरह समुद्र से निकल कर कोसल विजय के लिये प्रस्थित रुमण्वान् से जा मिला है। इस तरह यद्यपि हमारे प्रभु का प्रयोजन करीब करीब सिद्ध हो गया है, फिर भी मुझे शान्ति नहीं मिल रही है, यह भृत्यभाव बड़ा कष्टप्रद होता है।

कुतः—प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ
दैवेनेत्थं दत्तहस्तावलम्बे।
सिद्धेर्भ्रान्तिर्नास्ति सत्यं तथापि
स्वेच्छाचारी भीत एवास्मि भर्तुः॥ ७॥

परावर्त्तनेन कोसलेश्वरपराजयेन चेत्यर्थः। निष्पन्नप्रायम्—सिद्धकल्पम्। प्रभुप्रयोजनम्-राजहितम्। धृतिम् धैर्यम्। आवहति जनयति। राज्ञो हिते साधितेऽपि तमनापृच्छय प्रवृत्तत्वादन्तःसन्तापो मम नोद्भवतीति भावः। अन्तःसन्तोषानुपलब्धौ कारणमाह—कष्ट इति। भृत्यभावः सेवकता। कष्टः-कष्टप्रदः। निमित्तफलयोरभेदाध्यवसायात्कष्टप्रदार्थे कष्टपदमायुर्घृतमित्यादिवत्। 'प्रायः प्रभूणां चलचित्तवृत्तिः' इति ध्यायता तदननुज्ञया तद्धितप्रवृत्तिरपि विपत्प्रदत्वेनोत्प्रेक्ष्यत इति हृदयम्॥

प्रारम्भ इति। स्वामिनः प्रभोर्वत्सराजस्य वृद्धेरभ्युदयस्य सार्वभौमत्वावाप्तिरूपस्य हेतौ कारणभूते अस्मिन् प्रारम्भे सागरिकायाचनदेवीहस्तनिक्षेपादिरूपे दैवेन भाग्येन इत्थम् सागरिकाकर्तृकफलकासादनवणिग्जनोपलब्धिदेवीसमीपागमनादिरूपेण प्रकारेण दत्तहस्तावलम्बे विहितानुकूल्ये कृतसाहायक इत्यर्थः। सिद्धेः निष्पत्तेः साफल्यस्य भ्रमः संशयः 'सिद्धिर्भविष्यति न वे'त्याकारको नास्तीति सत्यमनृषा तथापि एवं सत्यपि निश्चये स्वेच्छाचारी स्वस्य इच्छा कामना स्वाम्यनुज्ञामनवाप्यैतादृशकार्यकरणाभिलाषः तयाऽऽचरति तच्छीलः 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इति णिनिः। अहम् भर्त्तुः स्वामिनो भीतः त्रस्त एवास्मि। अहं 'रत्नावलीपरिणेता सार्वभौमो भविते'ति सिद्धादेशे विश्वस्य बाभ्रव्यं सिंहलेश्वरं तद्दुहितरं याचितुं प्रेषितवान्, अत्र विषये राजा नापृष्टः, भाग्येनात्र मध्यपातिविपदपासनविधया साहायकमाचरितं, सागरिका देवीसमीपं कथञ्चिदायाता, बाभ्रव्यश्चापि रुमण्वता मिलितः, सर्वमिदमीयसिद्धिविषयकसंशयनाशि, सत्यप्येवमहं राजानुज्ञामनासाद्यात्र व्यापारे प्रवृत्त इति सदा स्वामिनो बिभेमीत्याशयः। शालिनीवृत्तमत्र। तल्लक्षणं यथा—'मात्तौ गौ चेच्छालिनीवेदलोकैः' इति॥ ७॥

क्योंकि—स्वामी के अभ्युदय के लिये जो कार्यारम्भ किया गया है, उसमें भाग्य ने इस तरह मदद की है कि उसकी सिद्धि में सन्देह नहीं है, फिर भी अपने मन से सब कुछ किया है, इस लिये मैं स्वामी से भयभीत ही हूँ॥ ७॥

(नेपथ्ये कलकलः ।)

यौग०—(आकर्ण्य ।) अये ! मधुरमभिहन्यमानमृदुमृदङ्गानुगतसंगीतमधुरः पुरः पौराणां समुच्चरति चर्चरीध्वनिस्तथा तर्कयामि यदेनं मदनमहमहीयांसं पुरजनप्रमोदमवलोकयितुं प्रासादाभिमुखं प्रस्थितो देव इति । य एषः—

अत्र 'कः सन्देहः' इत्यादिता 'प्रारम्भेऽस्मिन्नि' त्यन्तेन ग्रन्थेन बीजोपन्यासः॥ 'अये' इति संभ्रमद्योतकमात्मामन्त्रणे । 'अये क्रोधे विषादे च संभ्रमे स्मरणेऽपि च' । मधुरम् अनुत्कटम् अभिहन्यमानः करतलेन ताड्यमानः, मृदुः कोमलोपकरणः मृदङ्गः वाद्यविशेषः, तेन अनुगतं मिलितं यत्सङ्गीतं गानं तेन मधुरः श्रोत्रहारी चर्चरीध्वनिः हस्ततालशब्दः समुच्चरति उत्पद्यते । स्निग्धगम्भीरघोषमृदङ्गशब्दसहचरगीतानुगतपुरवासिहस्ततालरवो दिशो मुखरयतीत्यर्थः । 'मृदू चातीक्ष्णकोमलौ', 'मृदङ्गा मुरजाः', 'गीतं गानमुभे समे' इति सर्वत्रामरः । उदुपसर्गस्य चरतेरकर्मकतयाऽत्र उच्चरतिपदे नात्मनेपदम् 'उदश्चरः सकर्मकात्' इति दर्शनात् । चर्चरीशब्दस्यार्थे मतभेदः, चर्चरीवाद्यविशेष इति केचित् । गीतभेद इत्यन्ये । अनेकशब्दसङ्घात इत्यपरे । हर्षक्रीडेतीतरे । करशब्द इति परे । तत्र मया करशब्दरूप एवार्थ आदृतः, आमोदातिशयव्यञ्जकत्वात्तस्य । तथा—अनेनोच्चरता कलकलेन । तर्कयामि सम्भावयामि । मदनस्य मह उत्सवः कामपूजनादिरूपस्तेन महीयांसमतिमहान्तं पुरजनप्रमोदम् पुरवासिजनताकृतानन्दव्यञ्जकगीतवादित्रकरतालिकाद्युपयोगरूपम् । अवलोकयितुम् स्वदृष्ट्या विलोक्य सम्भावयितुम् । प्रासादाभिमुखम् राजमन्दिरदिशि । प्रस्थितः चलितः । देवः अस्मत्स्वामी वत्सराजः । प्रासादशब्दो यद्यपि सामान्येनेष्टकादिनिर्मितराजमन्दिरमाह तथाप्यत्र द्विभूमराजमन्दिरपरो बोध्यस्तदवस्थितस्यैव राज्ञः पुरजनप्रमोदावलोकनावसरलाभसम्भवात् ।

(नेपथ्य में कोलाहल)

यौगन्धरायण—(सुनकर) आहत मृदङ्ग के शब्द से मिलित गीत द्वारा मधुर बनाया गया यह पुरवासियों का ताल शब्द जिस तरह उठ रहा है, उस से मुझे मालूम पड़ता है कि मदन-महोत्सव से बढ़ने वाले पुरवासियों के प्रमोद को देखने के लिये महाराज प्रासाद की ओर चले होंगे ।

विश्रान्तविग्रहकथो रतिमाञ्जनस्य
चित्ते वसन्प्रियवसन्तक एव साक्षात्।
पर्युत्सुको निजमहोत्सवदर्शनाय
वत्सेश्वरः कुसुमचाप इवाभ्युपैति ॥ ८ ॥

(ऊर्ध्वमवलोक्य।) अये ! कथमधिरूढ एव देवः प्रासादम्।

विश्रान्तविग्रहेति। विश्रान्ता समाप्ता। विग्रहस्य युद्धस्य कथा यस्य सः विश्रान्तविग्रहकथः, विग्रहस्य शरीरस्येति वा तथा। एकत्र निर्जिताखिलरिपुतया निश्शेषितसङ्ग्रामभावनोऽन्यत्र शरीरस्यासद्भावादनङ्ग इत्यर्थः। 'विग्रहः कायविस्तारे विभागे मारणेऽस्त्रियाम्' इति मेदिनी, 'अथ विग्रहः। संग्रामे प्रविभागे च देहविस्तारयोरपि' इति त्रिकाण्डशेषश्च। रतिः अनुराग इन्द्रियार्थेषु विद्यते यस्य स रतिमान्, अन्यत्र रत्या तदभिधानया प्रियया सनाथः। 'रतिः स्त्री स्मरदारेषु रागे सुरतगुह्ययोः' इति मेदिनी। जनस्य प्रकृतिलोकस्य प्रजाजनस्येत्यर्थः। चित्ते चेतसि वसन् सततसन्निहितः, एकत्र सुपालनप्रजारञ्जनादिगुणगरिम्णाऽधिष्ठिताशेषप्रजाजनमना अपरत्र मनोभवत्वात्तथा। प्रियः वसन्तकस्तदभिधानो विदूषको यस्य स प्रियवसन्तकः, अन्यत्र प्रियः वसन्तः मधुमासः यस्य सः प्रियवसन्तकः, 'शेषाद्विभाषा' इति समासान्तः कप्। 'वा प्रियस्य' इति पाक्षिकः परनिपाताभावः। निजः स्वीयः महोत्सवः तस्य दर्शनाय स्वानुष्ठितमदनमहोत्सवप्रेक्षणाय अन्यत्र आत्मानमुद्दिश्य विहितस्योत्सवस्यावलोकनाय पर्युत्सुकः धृतोत्कण्ठः वत्सेश्वरः उदयनः साक्षात् मूर्त्तिमान् कुसुमचापः पुष्पधन्वा इव अभ्युपैति समागच्छति। वसन्नित्यत्र लडित्यनुवर्त्तमाने पुनर्लड्ग्रहणसामर्थ्यात्प्रथमासामानाधिकरण्येऽपि शत्रादेशः। दर्शनायेत्यत्र 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इति चतुर्थी। दर्शनं कर्त्तुम् इत्यर्थः। श्लेषानुप्राणितोपमात्रालङ्कारः। वसन्ततिलकं वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा— 'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' इति ॥ ८ ॥

अधिरूढः—आरूढः। अत्र रुहेर्गत्यर्थकतया 'गत्यर्थाकर्मके' तिसूत्रेण कर्त्तरि क्तः।

जिनकी शासन-पद्धति में विग्रह की कथा ही नहीं होती, जिन पर लोगों का अनुराग है जो सब के चित्तों में बसते हैं, जिन को वसन्तक बहुत प्यारा है, वह यह वत्सेश्वर—साक्षात् अशरीरी साथ में रति को लिये, लोगों के मन में निवास करने वाले कामदेव की तरह अपना महोत्सव देखने को यहाँ आ रहे हैं ॥ ८ ॥

(ऊपर देखकर) अरे, महाराज प्रासाद (महल) पर आगये ?

तद्यावद् गृहं गत्वा कार्यशेषं चिन्तयामि। (इति निष्क्रान्तः।)

विष्कम्भकः।

(ततः प्रविशत्यासनस्थो गृहीतवसन्तोत्सववेषो राजा विदूषकश्च।)

राजा—(सहर्षमवलोक्य।) सखे वसन्तक।

विदूषकः—आणवेदु भवं। (आज्ञापयतु भवान्।)

राजा—

राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः

कार्यशेषम्—अवशिष्यमाणं कर्तव्यजातम्, रत्नावल्या राज्ञः परिणयाय करिष्यमाणमुपायविशेषमित्यर्थः।

विष्कम्भकः—तल्लक्षणं यथा—'वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः। संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः॥ शुद्धः सङ्कीर्णकश्चेति विष्कम्भो द्विविधो मतः। एकद्विमध्यपात्रोक्तः शुद्धः स्यात्संस्कृतात्मकः'॥ प्रकृते च यौगन्धरायणरूपमध्यपात्रप्रयोजितत्वेनायं शुद्धः।

'वसन्तक' इति विदूषकं प्रति राजकर्तृकं सम्बोधनम्, तथा चोक्तं विदूषकलक्षणप्रस्तावे साहित्यदर्पणे—'कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः। हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः'। 'आणवेदु' इति प्राकृतं विदूषकस्य रीतिसम्मतं, तदुक्तम्—'विदूषकविटादीनां पाठ्यं तु प्राकृतं भवेत्' इति।

राज्यमिति। राज्ञः कर्म भावो वा राज्यम् आधिपत्यम्, राजन् शब्दाद्यप्रत्यये 'ये चाभावकर्मणोरि'ति नलोपप्रतिप्रसवः। निर्जिताः निश्शेषेण पराभूताः शत्रवो यस्मिन् तत् तादृशं निश्शेषसमुद्धृतकण्टकतयाऽसपत्नमिति यावत्। इदमेकं निश्चिन्तताकारणम्। योग्यः कर्मठः सचिव अमात्यो यौगन्धरायणाभिधानः तत्र न्यस्तः समर्पित आहितः समस्तः सम्पूर्णः भरः राज्यपालनभारः। यौगन्धरायणाभिधाने मन्त्रिप्रवरे समग्रोऽपि प्रजापालनराज्यावेक्षणाद्यात्मा भारः समर्पित

तब तक मैं भी घर जाकर अपना कार्य-शेष सोचूं। (जाता है)

विष्कम्भक

(आसन पर बैठे हुए, वसंतोत्सव के उपयुक्त वस्त्रधारी राजा और विदूषक का प्रवेश)

राजा (सहर्ष, देख कर) मित्र वसन्तक !

विदूषक—आज्ञा ?

राजा—राज्य के सभी शत्रु परास्त कर दिये गये, योग्य मंत्री पर सम्पूर्ण कार्य-

सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥ ९ ॥

विदूषकः—(सहर्षम् ।) भो वअस्स एव्वं ण्णेदम् । अहं पुण जाणामि ण भवदो ण कामदेअस्स मम ज्जेव एकस्स बम्हणस्स अअं मअणमहूसवो जस्स पिअवअस्सेण एव्वं मन्तीअदि । ता किं इमिणा । पेक्ख दाव इमस्स महुमत्तकामिणीजणसअंगाहगहिदसिङ्गकजलप्पहारणच्चन्तणाअरजणजणिदकोदूहलस्स समन्तदो घुम्मन्तमद्दलुद्दामचच्चरीसद्दमुहररच्छामुहसोहिणो पइण्णपडवासपुञ्जपिञ्जरिज्जन्तदसदिसामुहस्स सस्सिरीअदं मअण-

इत्याशयः । इदञ्चापरं चिन्ताराहित्यकारणम् । ननु शत्रुषु जितेष्वपि प्रजासु परस्परं विधीयमाने आक्रन्दे राज्ञ औदासीन्यं नोचितं, किञ्च शत्रूणाम्प्रजासु परस्पराक्रन्दस्य चाभावेऽपि प्राकृतिकानावृष्टिशलभाद्युपस्थितौ राज्ञो निश्चिन्तभावो न युज्यत इति शंकाद्वयं समाधातुं प्रजानां विशेषणद्वयमाह—सम्यगिति । प्रजाः प्रकृतयः समीचा प्रशमितसकलोपद्रवेण स्नेहपूर्णेन च पालनेन रक्षणावेक्षणादिना लालिताः प्रेम्णा रक्षिताः । प्रशमिता निवारिता अशेषाः समग्रा उपसर्गाः विपदो यासां तादृश्यः निश्शेषवारिताशेषोपप्लवा इत्यर्थः । एवञ्च किमपि चिन्ताकारणं न सम्भवतीति भावः । एवं चिन्ताविरहमुपपाद्य वक्तव्यमाह—प्रद्योतस्येति । प्रद्योतस्य राज्ञः सुता वासवदत्ता, वसन्तस्य तदाख्यर्तोः समयः कालः, त्वं विदूषकश्च इति अतः (वासवदत्तानामप्रियस्त्रीवसन्तसमयत्वादृशनर्मसखानां सङ्गमेन) अयं महानुत्सवः समधिकः प्रमोदः पुनः ममैव इत्यहं मन्ये, कामः कन्दर्पस्तु कामं यथेच्छं नाम्ना मदनमहोत्सव इति संज्ञायां स्वाभिधानस्य घटकतया प्रविष्टतया धृतिं सन्तोषम् उपैतु आगच्छतु । मदनमहोत्सव इत्यत्र नामानि कन्दर्पस्य स्वनामद्वारकः सम्बन्धः केवलः

भार सौंप दिया गया, प्रजायें अच्छी रीति से पालित होने के कारण निरुपद्रव हैं, तब प्रद्योत-सुता वासवदत्ता हैं, तुम हो, सब तरह से यह महोत्सव मेरे ही लिये है, कन्दर्प का तो इसके साथ नाम मात्र का सरोकार है ॥ ९ ॥

विदूषक—(सहर्ष) ऐसी ही बात है मैं तो समझता हूँ न यह आपका उत्सव है और न कन्दर्प का है, यह तो मुझ ब्राह्मण-कुमार का ही, यह उत्सव जिसके प्रिय मित्र आप इस तरह कहते हैं ।

मह्रूसवस्स। (भो वयस्य एवं नेदम्। अहं पुनर्जानामि न भवतो न कामदेवस्य ममैवैकस्य ब्राह्मणस्यायं मदनमहोत्सवो यस्य प्रियवयस्येनैवं मन्त्र्यते। (विलोक्य।) तत्किमनेन। प्रेक्षस्व तावदस्य मधुमत्तकामिनीजनस्वयंग्राहगृहीत-शृङ्गकजलप्रहारनृत्यन्नागरजनजनितकौतूहलस्य समन्ततः शब्दायमानमर्दलोद्दाम

न तु मदनमहोत्सवोपयुक्तान्युपकरणानि, तानि तु ममैवेति वस्तुतो ममैवायमुत्स इति भावः। 'उपसर्गः पुमान् रोगभेदोपप्लवयोरपि' इति मेदिनी। एतेन राज्ञो धीर ललितत्वमुपपादितम्-'निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यादि'ति साहित्य दर्पणोक्तेः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ९ ॥

भो वयस्येति। राज्ञः सम्बोधनमिदम्, तथा चोक्तं भरतेन-'वयस्य राजन्निति वा भवेद्वाच्यो महीपतिः। विदूषकेण'। इति। एवं नेदम्—यथा त्वयोक्तं तथा नास्ति वस्तुतत्त्वमित्यर्थः। एवं राजाभिप्रायमपनुद्य स्वाभिप्रायमाह—अहमित्यादिना। पुनरिति भेदे, 'पुनरप्रथमे भेदे' इति कोशः। एवञ्च त्वदभिप्रायाद् भिन्नो मदभिप्राय इत्याशयः फलितः। ब्राह्मणबटुकस्य विप्रतनयस्य, यद्यपि बटुशब्दो ब्रह्मचारिणि शक्तः 'ब्रह्मचारी बटुः समौ' इति त्रिकाण्डशेषात्, तथापि सदृशलक्षणयाऽ बटुकशब्दस्य बालक इत्यर्थे पर्यवसानम्। बटुरेव बटुकः, अनुकम्पायां कन्, सा च राजस्नेहभाजनतानुमेया। अनेन—कस्यायं मदनमहोत्सव इति विवेचनेन। प्रेक्षस्व-पश्य, मदनमहोत्सवस्य सश्रीकतामिति दूरस्थेन कर्मणा प्रेक्षस्वेत्यस्य सम्बन्धः। एतस्य—पुरोदृश्यमानस्य। मधुना मद्येन मत्ता जातमदा ये कामिनी-जनाः स्त्रियस्ताभिः स्वयंग्राहगृहीतानि आत्मना करे कृतानि स्वयं धृतानीति यावत्, यानि शृङ्गकाणि जलयन्त्राणि (पिचकारीति भाषा) तैर्यें जलप्रहाराः पयःप्रक्षेपाः तैः पानीयप्रहारैर्हेतुभिर्नृत्यद्भिरात्मत्राणायेतस्ततो धावद्भिर्नागरजनैः जनितमुत्पादितं (दर्शकलोकानाम्) कौतूहलं कुतुकमुत्कण्ठा यत्रेत्येकं मदनमहो-त्सवविशेषणम्। मत्ताः कामिन्यः पानीयसेचनयन्त्राणि करे कृत्वा नागरनरानार्द्र-यितुमभियान्ति ते चेतस्ततः स्वमुक्तये नृत्यन्त इव धावन्ति, क्रीडामिमां विलोक-यन्तश्चापरे कुतुकावृतचेतसो भवन्तीति विशेषणस्यास्यार्थः। स्वयंग्राहशब्द

(देख कर) इन बातों में क्या रखा है। इस मदनमहोत्सव की शोभा तो देखिये! मतवाली कामिनियाँ अपने हाथों में पिचकारी लेकर नागर पुरुषों पर रंग डाल रही हैं और वे पुरुषगण कुतुक से नाच रहे हैं, चारों ओर बजते हुए व

चर्चरीशब्दमुखररथ्यामुखशोभिनः प्रकीर्णपटवासपुञ्जपिञ्जरितदशदिशामुखस्य सश्रीकतां मदनमहोत्सवस्य ।)

राजा—(समन्तादवलोक्य ।) अहो परां कोटिमधिरोहति प्रमोदः पौराणाम् । तथाहि—

कीर्णैः पिष्टातकौघैः कृतदिवसमुखैः कुङ्कुमक्षोदगौरै-

कालिदासेनापीदृश एवार्थे प्रयुज्यमानो दृश्यते, यथा कुमारे—'कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम् । नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहुम्' ॥ 'शृङ्गं प्रभुत्वे शिखरे चिह्ने क्रीडाम्बुयन्त्रके' इति मेदिनी । मदनमहोत्सवस्यैव विशेषणान्तरमाह—समन्तत इति । समन्ततः सर्वतः शब्दायमानाः मधुरं ध्वनन्तो ये मर्दला मृदङ्गास्तैरुद्दामो बृंहितो यश्चर्चर्यावाद्यविशेषस्य गीतविशेषस्य वा शब्दस्तेन मुखराणि शब्दवन्ति यानि रथ्यामुखानि वीथीमुखानि तैः शोभते राजते तस्य सर्वतो ध्वनन्मृदङ्गरवोपबृंहितचर्चरीशब्दयुक्तरथ्याभागविजृम्भितस्येत्यर्थः । चरमं विशेषणमाह—प्रकीर्णेति । प्रकीर्णाः प्रक्षिप्ताः पटं वस्त्रं वासयन्ति सुगन्धीकुर्वन्ति ये तादृशा ये पटवासाः पिष्टातकाः ('गुलाल' इति भाषा) तेषां पुञ्जाः समूहास्तैः पिञ्जरितानि पिञ्जरीकृतानि पीततां लम्भितानि दशदिशानां मुखानि यस्मिन् तथाविधस्य क्षिप्तपटवासपीतीकृतदशदिश इति यावत् । सश्रीकताम्—शोभाशालित्वम् ।

अहो इत्याश्चर्यव्यञ्जकमव्ययम्, तच्चात्र पौरजनानन्दविलोकनजन्यम् । पराम् = सर्वोत्कृष्टाम्, कोटिम् = श्रेणीम्, अधिरोहति = आश्रयति, प्रमोदः = आनन्दः, पौराणाम् = पुरवासिनाम् । तदेव समर्थयति पद्येनाग्रिमेण ।

कीर्णैरिति । एषा कौशाम्बी तन्नाम्ना प्रथिता वत्सराजभुजपालिता नगरी शातकुम्भे तन्नामके पर्वतभेदे भवं शातकुम्भं सुवर्णं तस्य द्रवो रसः तेन खचिताः

और ताली के शब्दों से गलियाँ मुखरित हो रही हैं । उड़ाये गये गुलाल से दश दिशाओं का मुख पीत वर्ण हो रहा है ।

राजा—(चारों ओर देख कर) अहा, नगरवासियों का प्रमोद चरम सीमा पर पहुँच रहा है, क्यों कि—

कुङ्कुम की बुकनी से लाल गुलाल उड़ रहे हैं, जिससे प्रातःकाल सा हो रहा है

हेमालंकारभाभिर्भरनमितशिखैः शेखरैः कैङ्किरातैः।
एषा वेषाभिलक्ष्यस्वविभवविजिताशेषवित्तेशकोशा
कौशाम्बी शातकुम्भद्रवखचितजनेवैकपीता विभाति ॥१०॥

व्याप्ताः जनाः यस्यां सा स्वर्णद्रवव्याप्तपुरवासिलोकेति यावत्। इव एकपीता केवलपीता एको मुख्यः पीतः पीतवर्णो यस्यां तादृशी विभातीति वक्तव्यभागः। तदुपपादकहेतूनुपन्यस्यति—कीर्णैरिति। कुङ्कुमं घुसृणं तस्य क्षोदः चूर्णम् तेन गौरैः अरुणवर्णैः अत एव च कृतं प्रारब्धं दिवसस्य मुखमारम्भः प्रत्यूष इत्यर्थः, यैस्तथाविधैः। घुसृणारुणैः क्षिप्तैः पिष्टातकसमूहैः प्रत्यूषमिव सृजद्भिरिति पिण्डार्थः। तथा हेम्नः सुवर्णस्य अलङ्काराणां लोकैरङ्गेषु धृतानां भूषणानां भाभिः दीप्तिभिः। अपि च भरेण स्वभारेण नमिताः शिखाः शिरांसि यैस्तादृशैः किङ्किरातानामशोकानां तदाख्यया प्रथमानानां पुष्पाणां विकारैः शेखरैः शिरोभूषणैः। पीताशोकपुष्पनिर्मितैः स्वभारेण शिरांसि नमयद्भिरशोकपुष्पविरचितैः शिरोभूषणैरित्याशयः। अत्र कौशाम्ब्या नाम नगर्याः पीतत्वप्रत्यये कारणत्रयमुक्तं तत्र प्रथमं घुसृणारुणपिष्टातकविकीर्णत्वम्, द्वितीयं पुरवासिधृतस्वर्णभूषणकिरणावली, तृतीयं च शिरोभूषणीभूताशोककुसुमजन्यपीतप्रभेति बोध्यम्। अथ च वेषेण पुरवासिपरिहितवसनालङ्कारादिविन्यासेन अभिलक्ष्यः अनुमेयः यः स्वविभवः निजैश्वर्यं तेन विजितः अशेषः समस्तः वित्तेशस्य कुबेरस्य कोशो वित्तसञ्चयो यया तादृशी इयं कौशाम्बी। कौशाम्बीपुरवासिपरिधानविलोकनेन वित्तेशकोशतोऽपि समधिका समृद्धिरत्र प्रतीयत इत्यर्थः। 'गौरोऽरुणे', 'प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यम्', 'स्तोमौघनिकरव्राते'त्यादि चामरः। 'कोशोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधानेऽर्थौघदिव्ययोः' इति कल्पद्रुमकोशः। अत्र समृद्धिमद्वस्तुवर्णनादुदात्तालङ्कारः, 'उदात्तं वस्तुनः सम्पत्' इति तल्लक्षणात्। स च शातकुम्भद्रवखचितत्वोत्प्रेक्षणादिवशब्दगम्ययोत्प्रेक्षया सङ्कीर्यते। स्रग्धरा वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्तितेयम्' इति ॥ १० ॥

उन से एवं सुवर्णाभरणों से, और अपने भार से अग्रभाग को झुका देनेवाले अशोक पुष्प के शिरोभूषणों से यह कौशाम्बी नगरी दीख पड़ती है मानों यहां रहने वालों की देह पर सोने का पानी चढ़ा दिया गया हो, और इस नगरी में अपने विभव से कुबेर के कोश को हरा दिया हो जिसका प्रमाण यहां के लोगों का यह असाधारण वेश ही है ॥ १० ॥

अपि च ।

धारायन्त्रविमुक्तसंततपयःपूरप्लुते सर्वतः
सद्यः सान्द्रविमर्दकर्दमकृतक्रीडे क्षणं प्राङ्गणे ।
उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत्सिन्दूररागारुणैः
सैन्दूरीक्रियते जनेन चरणन्यासैः पुरः कुट्टिमम् ॥ ११ ॥

विदू०—(विलोक्य ।) इमं पि दाव सुविअद्धजणभरिदसिङ्गकजलप्पहारमुक्कसिक्कारमणहरं वारविलासिणीजणविलसिदं आलोएदु पिअ-

---

धारायन्त्रेति । सर्वतः सर्वासु दिक्षु (व्यापृतैः) धारायन्त्रैः जलोद्गारयन्त्रैः (पिचकारी इति प्रथितैः) विमुक्तानि यानि पयांसि जलानि तेषां सन्ततैः अविच्छिन्नप्रवाहैः पूरैः सङ्घातैः प्लुते प्लाविते जलोद्गारयन्त्रक्षिप्यमाणपयःप्रवाहेण जलप्लवमिव प्रापिते इत्यर्थः । तथा सद्यः तत्क्षणमेव सान्द्रः निबिडितः यः विमर्दः पादनिष्पेषः तज्जनितो यः कर्दमः पङ्कः तत्र कृता क्रीडा सिन्दूरक्रीडा यस्मिन् तथाविधे प्राङ्गणे चत्वरे उद्दामाः अप्रतिबन्धाः याः प्रमदाः स्त्रियः तासां कपोलेभ्यः गण्डभागेभ्यः निपतन् समधिकमृष्टतया स्खलन् यः सिन्दूररागः तेन अरुणैः रक्तैः चरणन्यासैः पादविक्षेपैः पुरः कुट्टिमं समीपस्था बद्धा भूमिः (क्षणम्) जनेन लोकेन सिन्दूरस्य इदं सैन्दूरम् सिन्दूरेण रक्तं वा, आद्ये विकारार्थेऽन्त्ये 'तेन रक्तं रागात्' इति वाऽण्प्रत्ययः, न सैन्दूरमसैन्दूरम्, असैन्दूरं सैन्दूरं क्रियत इत्यभूततद्भावे च्विप्रत्ययः । धारायन्त्रैः स्त्रीणां करस्थैः पुंसु पयः क्षिप्यते तेन जलप्लव इव जन्यते, लोकाश्चात्मत्राणायेतस्ततः सञ्चरन्तीति तत्र पङ्कः समुत्पाद्यते, वनितानां कपोलदेशेभ्यः पटवासभृतेभ्यः स्खलतः पटवासस्य रक्तेन चूर्णेन चासौ पङ्कः रक्ततामानीयते स च रक्तः पङ्कः पुरुषचरणेषु संसक्तस्तद्द्वारैव पुरःस्थितं कुट्टिमं व्याप्नुवन् कुट्टिमस्य सिन्दूरनिमितत्वं तद्रक्तत्वं वा प्रत्याययतीति तात्पर्यम् । 'अङ्गणं चत्वराजिरे' इत्यमरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् , तल्लक्षणं तूक्तम् ॥ ११ ॥

और—धारायन्त्र से निकला हुआ पानी चारो ओर फैल रहा है, उस पर लोगों के चलने से प्राङ्गण में कीचड हो जाती है, उद्धत स्त्रियोंके कपोल से उस कीचड पर सिन्दूर (गुलाल) इतनी मात्रा में गिरता है कि वह कीचड भी रक्त हो जाती है, और लोगों के पैर में लगी हुई वह लाल कीचड फर्श को भी रक्ताभ बना रही है ॥

विदूषक—(देखकर) चतुर नागरिकों द्वारा किये गये पिचकारी के जल के

अस्सो । (इदमपि तावत्सुविदग्धजनभरितशृङ्गकजलप्रहारमुक्तसीत्कारमनोहरं वार-विलासिनीजनविलसितमवलोकयतु प्रियवयस्यः ।)

राजा—(विलोक्य ।) वयस्य सम्यग्दृष्टं त्वया । कुतः ।

अस्मिन्प्रकीर्णपटवासकृतान्धकारे
दृष्टो मनाङ् मणिविभूषणरश्मिजालैः ।
पातालमुद्यतफणाकृतिशृङ्गकोऽयं
मामद्य संस्मरयतीह भुजङ्गलोकः ॥ १२ ॥

सुविदग्धास्तादृशक्रीडाचतुराः ये जनाः तैः भरितानि पुनः पयसा संभृता[नि] यानि शृङ्गकाणि जलोद्गारयन्त्राणि तेभ्यो (निर्गच्छन्तः) ये जलप्रवाहास्तैर्मु[क्तो] यः सीत्कारः शैत्यव्यञ्जको रसोद्बोधसमर्थकश्चाव्यक्तमनोहरः शब्दस्तेन मनोहर[म्] अतिरमणीयम् । वारस्य जनसमूहस्य विलासिन्यः सामान्यस्त्रियः 'वारस्त्री गणि[का] वेश्या' इत्यमरः । तासां विलसितम् विहारम् । पूर्वं स्त्रीप्रवर्तितसिन्दूरक्रीडाविलो[-]कनप्रार्थना कृताऽत्र पुंप्रवर्त्तिततदवलोकनाग्रह इति बोध्यम् ।

अस्मिन्निति । अस्मिन् पुरोऽनुभूयमाने प्रकीर्णः क्षिप्तः यः पटवासस्तेन कृ[तः] समुत्पादितः यः अन्धकारस्तत्र क्षिप्यमाणपटवासप्रवर्त्तिते तमसीत्यर्थः । म[णि-]विभूषणरश्मिजालैः मणिमयालङ्कारकिरणैः मनाक् अविस्पष्टं दृष्टो विलोकितः उद्यताः ऊर्ध्वमुखीकृताः फणाकृतयः फणवदवभासमानाः शृङ्गकाः क्रीडोपयुक्तजलो[-]द्गारयन्त्रविशेषा यस्य असौ तथा । अयम् भुजङ्गलोकः विटसमूहः इह माम् अ[द्य] पाताललोकम् अधोभुवनं संस्मरयति स्मृतिपथातिथीकरोति । सदृशदर्शनाद् वस्[तु-]स्मृतिरिति हि स्थितिः । तदत्र पटवासनान्धकारः प्रसारितो यत्र मणिगणप्रभयाऽवि[-]स्पष्टमवलोक्यते भुजङ्गवर्गः, तस्यापि करेषु फणसमानाकृतयः शृङ्गकाः स्थिता इ[ति] तमोव्याप्तमणिगणप्रभेषत्प्रदर्शितसर्पलोकोत्थितफणस्य पातालस्य स्मृतिरनायासस[मु-]द्भवतीति भावः । 'स्मृ आध्याने' इत्यस्य घटादौ पाठाद् मित्त्वेन संस्मरयतीत्य[त्र]

प्रहारों से वेश्यायें सीत्कार कर रही हैं यह भी तो आप देखें ।

राजा—मित्र, तुमने खूब देखा ।

उड़ाये गये गुलाल से अन्धकार फैल रहा है, उसमें सांप की फणा की आकृ[ति] वाली पिचकारी भूषणमणि की प्रभा से कभी कभी जो दीख जाती है वह मु[झे] पाताल लोक की याद दिलाती है १२ ॥

विदूषकः—भो एसा क्खु मअणिआ मअणवसविसंठुलं वसन्ताभिणअं णच्चन्ती चूअलदिआए सह इदो ज्जेव आअच्छदि । ता अवलोएदु एदं पिअवअस्सो । (विलोक्य ।) भोः एषा खलु मदनिका मदनवशविसंष्ठुलं वसन्ताभिनयं नृत्यन्ती चूतलतिकया सहेत एवागच्छति । तदवलोकयत्वेतां प्रियवयस्यः ।

(ततः प्रविशतो मदनलीलां द्विपदीखण्डं गायन्त्यौ चेट्यौ ।)

चेट्यौ—

कुसुमाउहपिअदूअओ मउलीकिदबहुचूअओ ।
सिढिलिअमाणग्गहणओ वाअदि दाहिणपवणओ ॥ १३ ॥
विअसिअबउलासोअओ कङ्खिअपिअ अजणमेलओ ।
पडिवालणासमत्थओ तम्मइ जुवईसत्थओ ॥ १४ ॥
इह पढमं महुमासो जणस्स हिअआइं कुणइ मिउलाइं ।
पच्छा विद्धइ कामो लद्धप्पसरेहिं कुसुमबाणेहिं ॥ १५ ॥

(कुसुमायुधप्रियदूतको मुकुलायितबहुचूतकः ।

मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः । भुजङ्गपदं विटसर्पोभयार्थकम् । स्मरणालङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'उक्तं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' इति ॥ १२ ॥

मदनिका तन्नामा राजान्तःपुरपरिचारिका । मदनवशविसंष्ठुलम्—मदनस्य वशेन अधीनत्वेन कामदेवपारतन्त्र्येणेत्यर्थः, विसंष्ठुलम् अयथोचितपदन्यासम् (इदं क्रियाविशेषणम्) नृत्यन्ती नृत्यपरा । वसन्तस्य अभिनयो यत्रेत्यपरं क्रियाविशेषणम् ।

मदनलीलाम् कामविलासम् । द्विपदी गीतिविशेषः, तथा चोक्तम्—भवेद् द्विपदिका गीतिर्भरतेन प्रकीर्त्तिता । युक्ता चतुर्भिश्चरणैस्त्रयोदशकलात्मकैः । तस्याः द्विपद्याः खण्डः एकदेशः तम् (इदं गायतिक्रियाकर्म) अत्र भरतः—'शुद्धा खण्डा च मात्रा च सम्पूर्णेति चतुर्विधा । द्विपदीकरणाख्येन तालेन परिगीयते' । 'खण्डास्याच्छुद्धयाऽर्धया' इति च ।

कुसुमायुधेति । कुसुमानि पुष्पाण्येव आयुधानि प्रहरणानि यस्यासौ कुसुमा-

---

विदूषक—(देख कर) यह मदनिका काम, परवश होने के कारण गलत वसन्ताभिनय नाचती हुई चूतलतिका के साथ इधर ही आ रही है, उसे आप देखें तो

(मदनलीला का अभिनय करती तथा द्विपदी खण्ड गाती हुई चेटियों का प्रवेश)

कामदेव का प्रियदूत, आम के ... [illegible] ... को

शिथिलितमानग्रहणको वाति दक्षिणपवनकः ॥ १३ ॥
विकसितबकुलाशोककः काङ्क्षितप्रियजनमेलकः।
प्रतिपालनासमर्थकस्ताम्यति युवतिसार्थकः ॥ १४ ॥
इह प्रथमं मधुमासो जनस्य हृदयानि करोति मृदुलानि।

युधः कामदेवस्तस्य प्रियदूतकः स्नेहभाजनदूतः। दूत एव दूतकः, अनुकम्पायां कन्। मुकुलाः सन्ति येषां ते मुकुलिनः सञ्जाताङ्कुराः, अमुकुलिनः मुकुलिनः कृता इति मुकुलीकृताश्चूताः आम्रतरवो येन तादृशः, कुड्मलिताम्रतरुरित्यर्थः। शिथिलीकृतं त्याजितं प्रियविषये मानग्रहणं कोपग्रन्थिर्येन तथाभूतः, एतादृशविशेषणत्रययुक्तः दक्षिणपवनकः (अल्पार्थकः कन्) मन्दो मलयवायुर्वातीत्यर्थः। अत्राद्याभ्यां विशेषणाभ्यां दक्षिणदिगुद्भूतस्य वायोः समधिककामव्यञ्जकतानिवेदनेन मानापाकरणसामर्थ्यं समर्थितम्। पवनक इत्यत्र कना तस्य मन्दत्वं व्यञ्जितम्। कामस्य कुसुमायुधत्वं प्रोक्तममरसिंहेन—'अरविन्दमशोकञ्च चूतञ्च नवमल्लिका। नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः' इति ॥ १३ ॥

विकसितेति। विकसिताः पुष्पिताः बकुलाः अशोकाश्च येन तादृशः। 'शेषाद्विभाषा' इति कप्। उत्कण्ठिताः सञ्जातोत्कण्ठाः ये प्रियाः कामिनः तेषाम् मेलकः प्रापकः, समधिकोत्कण्ठाजननद्वारा कामिभिः कामिनीनां सङ्गमे कारणत्वं बिभ्राण इत्याशयः। मेलकपदे कर्त्तरि ण्वुल्, तेन शेषषष्ठ्या समासः। एवं वसन्तसमयप्रवृत्तं दक्षिणवायुं वर्णयित्वा तत्प्रभावातिशयमाह—प्रतिपालनेति। प्रतिपालने प्रोषितानां प्रियाणां प्रतीक्षायाम् असमर्थकः असमर्थ एव असमर्थकः अशक्तः युवतिसार्थकः तरुणीगणः ताम्यति। मलयानिलस्पर्शो हि तरुणीगणस्य ग्लानिमुपजनयति कामानलसन्धुक्षणद्वारेति तात्पर्यम्। स्पष्टमन्यत् ॥ १४ ॥

इहेति। इह अस्मिन् वसन्तावतारे मधुमासः चैत्रमासः (वसन्तस्याद्यो भागः) प्रथमम् पूर्वम् जनस्य लोकस्य हृदयानि चेतांसि मृदुलानि कोमलानि वासनावहि

ढीला करने वाला दक्षिणानिल चल रहा है ॥ १३ ॥

जिनके आस्य-मद्य से बकुल विकसित होता है, जिन्हें प्रिय मिलन की कामना है, और जो प्रतीक्षा करने की क्षमता खो बैठी हैं ऐसी युवतियाँ उद्विग्न हो रही हैं ॥ १४ ॥

इस समय में वसन्त पहले लोगों के हृदयों को मृदुल बना देता है, तब कन्दर्प

पश्चाद्विध्यति कामो लब्धप्रसरैः कुसुमबाणैः ॥ १५ ॥

राजा—(निर्वर्ण्य सविस्मयम् ।) अहो निर्भरः क्रीडारसः परिजनस्य । तथाहि—

स्रस्तः स्रग्दामशोभां त्यजति विरचितामाकुलः केशपाशः
क्षीबायां नूपुरौ च द्विगुणतरमिमौ क्रन्दतः पादलग्नौ ।

सन्धुक्षणद्वारा द्रुतानीत्यर्थः । करोति सम्पादयति, पश्चात् परतः (जाते कोमलभावेन कुसुमशरभेदनार्हत्वे) कामः कन्दर्पः लब्धः प्रसरः प्रवेशावकाशः यैः तादृशैः कुसुमबाणैः पुष्परूपैः आशुगैः विध्यति भिनत्ति । मधुमासेन कोमलीकृतानां लोकचेतसां भेदने कामबाणाः क्षमन्ते इत्याशयः ॥ १५ ॥

निर्वर्ण्य = सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष्येत्यर्थः । क्रीडारसः=विहारारम्भः । निर्भरः= अतिभूमिं गतः ।

क्रीडारसनिर्भरत्वं परिजनस्योक्तं तत्समर्थयति—स्रस्त इति । अस्याः पुरो दृश्यमानायाः क्षीबायाः वसन्तोत्सवमुपलभ्य प्रकाममधुसेवनात् कामाविर्भावाच्च मत्तायाः अत एव स्तनयोर्भरः स्तनभरस्तेन विनमन् नम्रीभवन् यो मध्यभागः कटिदेशस्तस्य भङ्गः भारासह्यताप्रयुक्तं त्रुटनम् तत्र अनपेक्षा अनवहितत्वं यत्र कर्मणि तत्तथा क्रीडन्त्याः जलयन्त्रादिसञ्चालनपटवासप्रक्षेपणादिकृते त्वरितचरणन्यासमितस्ततो धावन्त्या इत्याशयः । स्रस्तः बन्धनाद्विगलितः उन्मुक्त इति यावत्, अत एव आकुलः अस्तव्यस्तः केशपाशः कचकलापः पीडयेव खेदेनेव विरचिताम् विशेषेण कृताम् स्रग्दामशोभाम् दामेव स्रक् स्रग्दामा तस्याः शोभाम् कान्तिं त्यजति जहाति विचित्ररचनाया निर्मितायाः मालायाः शिरोदेशावस्थितायाः पातेन केशपाशः स्वशोभाक्षतिं मन्वानः खेदमिवानुभवतीति भावः । इमौ पादलग्नौ चरणन्यस्तौ नूपुरौ मञ्जीरौ (पीडयेव) द्वौ गुणौ आवृत्ती यस्य तद् द्विगुणं द्विरावृत्तमतिशयेन द्विगुणं द्विगुणतरम् क्रन्दतः रुदित इव । स्वाभाविकचरणन्यासेसम्भविशब्दापेक्षया प्रमत्तजनकर्तृकस्वैरपदन्यासे प्रभूततरं शब्दायेते इति भावः । कम्पस्य उद्दामनर्त्तनजनित-

---

को मौका मिलता है वह अपने फूल के बाणों से उन्हें वेधता जाता है ॥ १५ ॥

राजा—(देखकर, आश्चर्य से) अहा ! यह परिजन क्रीडा में मस्त है, क्योंकि ये लटकते हुए केशपाश जिन्हें बड़े प्रयत्न से पुष्प-माल्य से सम्हाला गया था, पुष्पमाल्य की शोभा से वञ्चित हो रहे हैं, इस मतवाली स्त्री के नूपुर दुगुनी आवाज

व्यस्तः कम्पानुबन्धादनवरतमुरो हन्ति हारोऽयमस्याः
क्रीडन्त्याः पीडयेव स्तनभरविनमन्मध्यभङ्गानपेक्षम् ॥ १६ ॥

विदूषकः—भो वअस्स अहं पि एताणं मज्झे गदुअ णच्चन्तो गाअन्तो मअणमहूसवं माणइस्सम्। (भो वयस्य अहमप्येतयोर्मध्ये गत्वा नृत्यन् गायन् मदनमहोत्सवं मानयिष्यामि।)

राजा—(सस्मितम्।) वयस्य एवं क्रियताम्।

विदूषकः—(उत्थाय चेटयोर्मध्ये नृत्यन्।) भोदि मअणिए भोदि चूदलदिए मं पि एदं चच्चरिं सिक्खावेहिं। (भवति मदनिके भवति चूतलतिके मामप्येतां चर्चरीं शिक्षयतम्।)

दोलनस्य अनुबन्धात् सततानुवृत्तः हेतोः व्यस्तः इतस्ततः क्षिप्यमाणोऽयं हारः मुक्ताहारः (पीडयेव) अनवरतं सततम् उरः वक्षःस्थलम् हन्ति ताडयति। केशपाशः स्रग्दामशोभां त्यजति, मञ्जीरौ क्रन्दतः, हार उरो हन्तीति सर्वत्र स्तनभरविनमन्मध्यभङ्गानपेक्षं यन्नर्त्तनं तत्कृता पीडैव हेतुतयोत्प्रेक्ष्यते। 'मञ्जीरो नूपुरोऽङ्घ्रियाम्' इति नामलिङ्गानुशासनम्। 'अनुबन्धस्तु सम्बन्धे' इति मेदिनी। हेतूत्प्रेक्षालङ्कारः। स्रग्धरावृत्तम् ॥ १६ ॥

एतयोः—मदनिकाचूतलतिकाभिधयोश्चेट्योः। मध्ये = अन्तरा। मानयिष्यामि = आदरानुवृत्तिप्रदर्शनेन सत्करिष्यामि। मान-पूजायामित्यतो लृट्।

सस्मितम् = सेषद्धासम्, तत्कारणन्तु विदूषकस्य विचित्रा वेषसज्जा भावचात्रोत्सवे कामपि शोभां पुष्येदिति स्मरणम्।

कर रहे हैं, कम्प के कारण डोलता हुआ हार इसके कलेजे पर प्रहार सा कर रहा है तथापि यह नाच रही है, और इतनी तन्मयता से, नाच रही है कि इसे स्तनभार से झुकी हुई कमर के टूटने की भी चिन्ता नहीं हो पाती है ॥ १६ ॥

विदूषक—अजी मित्र, मैं भी इनके बीच में जाकर अपने नाचने और गाने से इस मदनमहोत्सव का मान करूँगा।

राजा—(हंस कर) मित्र, जरूर करो।

विदूषक—(उठ कर, चेटियों के बीच नाचता हुआ) अरी मदनिका, अरी चूतलतिका, मुझे भी यह चर्चरी सिखा दे।

उभे—(विहस्य) हदास ण क्खु एसा चच्चरी। (हताश न खल्वेषा चर्चरी)

विदूषकः—ता किं क्खु एदं। (तत् किं खल्वेतत्।)

मदनिका—दुअईखण्ड खु एदं। (द्विपदीखण्डं खल्वेतत्।)

विदूषकः—(सहर्षम्।) किं एदिणा खण्डेण मोअआ करीअन्दि। (किमेतेन खण्डेन मोदकाः क्रियन्ते।)

चेट्यौ—(विहस्य।) ण हि ण हि पढीअदि क्खु एदं। (नहि नहि पठ्यते खल्विदम्।)

विदूषकः—(सविषादम्।) जइ पढीअदि ता अलं मम एदिणा। वअस्सस्स सआसं जेव्व गमिस्सम्। (यदि पठ्यते तदलं ममैतेन। वयस्यस्य सकाशमेव गमिष्यामि।) (गन्तुमिच्छति।)

हताश = पिशुन, 'हताशो निर्दये चाशारहिते पिशुनेऽपि च' इति मेदिनी। न खल्वेषा चर्चरी = अयं भवदुक्तो गानविशेषो नास्तीत्यभिप्रायः।

सहर्षम् = सप्रसादम्, खण्डपदश्रवणेन शर्कराखण्डमनुध्यायतो मिष्टलाभसम्भावनाप्रसूतोऽत्र हर्षोऽवगन्तव्यः। एतेन = खण्डेन, खण्डशब्देन खण्डशर्करां सम्भावयतो विदूषकस्य तथाविधः प्रश्नः।

विहस्य = हसित्वा, भोजनभट्टस्यास्य विदूषकस्य गानखण्डेऽपि मोदकसाधनत्वसम्भावनाज्ञानमत्र हासकारणम्।

सविषादम् = सखेदम्, स चात्र मोदकसम्भावनापगमजन्मा वेदितव्यः। मम एतेन अलम् = मम किमपि प्रयोजनं नैतत्साधयेदित्यर्थः।

दोनों—अबे मुआ, यह चर्चरी नहीं है।

विदूषक—तो यह क्या है ?

मदनिका—यह द्विपदी खण्ड है।

विदूषक—इस खण्ड (खांड) से क्या लड्डू बनाया जाता है ?

चेटियाँ—(हंस कर) नहीं नहीं, यह पढ़ा जाता है।

विदूषक—(विषाद के साथ) यदि पढ़ा जाता है तब मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है। मैं मित्र के पास ही जाऊंगा।

उभे—(हस्ते गृहीत्वा) एहि कीलम्ह। वसन्तअ कहिं गच्छसि (एहि क्रीडामः। वसन्तक कुत्र गच्छसि।) (इति बहुविधं वसन्तकमाकर्षतः।)

विदू०—(आकृष्य हस्तं प्रपलाय्य राजानमुपसृत्य।) वअस्स णच्चि दोम्हि। णहि णहि। कीलिअ पलाइदोम्हि। (वयस्य नर्तितोऽस्मि। नहि नहि। क्रीडित्वा पलायितोऽस्मि।)

राजा—साधु कृतम्।

चूत०—हञ्जे मअणिए। चर क्खु अम्हाइ कीलिदम्। ता एहि णिवेदेम्ह दाव भट्टिणीए संदेसं महाराअस्स। (हञ्जे मदनिके चिरं खलु आवाभ्यां क्रीडितम्। तदेहि। निवेदयावस्तावद्भर्त्र्याः संदेशं महाराजाय।)

मदनिका—सहि एवं करम्ह। (सखि एवं कुर्वः।)

उभे—(परिक्रम्य उपसृत्य च।) जेदु जेदु भट्टा। भट्टा देवी आण वेदि णहि णहि। विण्णवेदि। (जयतु जयतु भर्ता। भर्तः देव्याज्ञापयति-(इत्य र्धोक्ते लज्जां नाटयन्त्यौ।) (नहि नहि। विज्ञापयति।)

बहुविधम् = अनेकप्रकारम्। इदं चाकर्षणक्रियाया विशेषणम्।

नर्त्तितोऽस्मि = पुत्तलिकावदाभ्यां चेटीभ्यां गात्रविक्षेपं लम्भितोऽस्मि। एवं नात्मावमानमाशङ्क्य प्रतिषेधति नहि नहीति।

'हञ्जे' इदं चेटीं प्रति सम्बोधनबोधकम्, तदुक्तममरसिंहेन-'हण्डे हञ्जे हलाऽऽह्वाने नीचां चेटीं सखीं प्रति' इति। चिरम्=बहुकालपर्यन्तम्, राज्ञोसन्देशोऽविलम्बं विनि वेद्यस्तत्रावाभ्यां क्रीडासक्ताभ्यां विलम्बः कृत इति सम्भ्रमो मनसि प्रतिष्ठितःप्रतिभासते

लज्जां नाटयन्त्यौ = लज्जाव्यञ्जकशिरोनमनादिचिह्नशालिन्यौ सत्यावित्यर्थः

दोनों—(हाथ पकड़ कर) आओ, खेलें। उधर कहां चले। (वसन्त के नाना प्रकार से खींचती हैं)

विदूषक—(हाथ छुड़ा, भाग कर, राजा के पास जाकर (मित्र, नाच आया नहीं नहीं, क्रीड़ा कर आया।

राजा—अच्छा किया।

चूतलतिका—मदनिका हम लोग बड़ी देर तक खेलती रहीं, अब चलो, महारानी का संवाद महाराज से निवेदन करें।

मदनिका—हां सखी, ऐसा ही करें।

दोनों—(चल कर समीप आकर) जय हो महाराज की, जय हो। महारानी की आज्ञा है कि—(इतने ही पर लज्जा प्रकट करती हुई) नहीं नहीं, निवेदन है

राजा—(सहर्षं विहस्य सादरम् ।) मदनिके नन्वाज्ञापयतीत्येव रमणीयम् । विशेषतोऽद्य मदनमहोत्सवे । तत्कथय किमाज्ञापयति देवी ।

विदू०—आः दासीए धीए । किं देवी आणवेदि । (आः दास्याः पुत्रि । किं देव्याज्ञापयति ।)

उभे—एवं देवी विण्णवेदि-अज्ज क्खु मए मअरन्दोद्दाणे गदुअ रत्तासोअपाअवतले संठाविदस्स भअवदो कुसुमाउहस्स पूआ णिव्वत्तइद्व्वा । तहिं अज्जउत्तेण संण्णिहिदेण होदव्वम् । (एवं देवी विज्ञापयति–अद्य खलु मया मकरन्दोद्यानं गत्वा रक्ताशोकपादपतले संस्थापितस्य भगवतः कुसुमायुधस्य पूजा निर्वर्तयितव्या । तत्रार्यपुत्रेण संनिहितेन भवितव्यम् ।)

लज्जाकारणन्तु स्वापेक्षयाऽपकृष्टं प्रत्याज्ञापनं सम्भवति, राजा च न राज्यपेक्षयाऽपकृष्टः, निर्गतं च मुखात् 'देव्याज्ञापयतो'ति ।

सहर्षम् = सानन्दम् , तत्कारणञ्चात्र प्रियासन्देशोपलब्धिः । रमणीयम् = शोभनम् , प्रियाकृताज्ञापनस्य कामिकृते सौभाग्यसूचकत्वात्तथोक्तम् ।

आः = इदं कोपव्यञ्जकमव्ययम् । 'आस्तु स्यात्कोपपीडयोः' इत्यमरः । यथाश्रुतार्थग्राहिणो विदूषकस्य स्त्रीकृतं पत्याज्ञापनं नोचितमिति तत्कोपोदयकारणम् ।

मकरन्दोद्यानम् = तदाख्यमुद्यानविशेषम् । रक्ताशोकपादपतले = रक्ताशोकतरोरधः । संस्थापितस्य=विहितप्रतिष्ठस्य । कुसुमायुधस्य=कामदेवस्य । निर्वर्तयितव्या = सम्पादनीया । तत्र = पूजोपक्रमे । आर्यपुत्रेण = भवता । सन्निहितेन = समुपस्थितेन, रक्ताशोकतरुच्छायायां प्रतिष्ठापितस्य कामस्य पूजायामुपक्रान्तायामद्य भवदुपस्थितिं कामये इति राजमहिष्या अनुरोधः ।

राजा—(आनन्द से हँसकर, आदर से) आज्ञा ही देना सुन्दर लगता है, खासकर इस मदनमहोत्सव के अवसर पर । इसलिये कहो—देवी की क्या आज्ञा है ?

विदूषक—अरी दासियो, देवी क्या फरमाती हैं ?

दोनों—देवी का यही निवेदन है कि मुझे आज मकरन्दोद्यान में जाकर रक्ताशोकतरु के नीचे स्थापित कामदेव की पूजा करनी है, अतः आर्यपुत्र भी उसमें उपस्थित रहें ।

राजा—(सानन्दम्।) वयस्य ननु वक्तव्यमुत्सवादुत्सवान्तरमापतितमिति।

विदूषकः—भो वअस्स ता उठ्ठेहि। तहिं ज्जेव गच्छम्ह जेण तहिं गदस्स ममावि बम्हणस्स सोत्थिवाअणं किंपि भविस्सदि। (भो वयस्य तदुत्तिष्ठ। तत्रैव गच्छावो येन तत्र गतस्य ममापि ब्राह्मणस्य स्वस्तिवायनं किमपि भविष्यति।)

राजा—मदनिके, गच्छतां देव्यै निवेदयितुमयमहमागत एव मकरन्दोद्यानमिति।

चेट्यौ—जं भट्टा आणवेदि। [इति निष्क्रान्ते] (यद्भर्ताऽऽज्ञापयति।)

राजा—वयस्य, एहि। अवतराव:। (उभौ प्रासादावतरणं नाटयतः)

सानन्दम् = सहर्षम्, स चात्र प्रियतमानुष्ठीयमानकामपूजावसरे समुपस्थितनिमन्त्रणस्य लाभेन बोध्यः। उत्सवान्तरम् = अन्य उत्सवः मयूरव्यंसकादित्वादिहान्यार्थान्तरशब्देन सह समासः, स चायमस्वपदविग्रहः। आपतितम्=उपस्थितः एको वसन्तोत्सवोऽपरश्चायं कामपूजोत्सव इति समुपस्थितमुत्सवद्वयमिति भावः।

तत्रैव = मकरन्दोद्यान एव। स्वस्तिवायनम् = पुण्याहवाचनोपलभ्यमोदकं किञ्चिदुपदारूपम्। पुण्याहवाचनं च प्रारम्भे स्वस्त्ययननाम्ना प्रायो बहुत्र विधीयते, तत्र 'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः' इति ऋक् पठ्यते। क्वचित्पुस्तके स्वस्तिवाचनमिति पाठः। तस्य स्वस्ति वाच्यतेऽनेनेति विग्रहः। 'ममापि' 'किमपि' इत्यस्य तव प्रियाप्रेमोपलब्धिरिति महाँल्लाभः, इति व्यञ्जना।

अयमहमागत एव = सद्य एव समागच्छामि।

अवतराव: = अवरोहावः प्रासादादिति शेषः। 'अये कथमभिरूढ एव देव

राजा—(सानन्द) मित्र, कहना तो यही चाहिये कि एक उत्सव में से यह दूसरा उत्सव निकल आया।

विदूषक—मित्र, चलिये, वहीं चलें, जिससे वहाँ पहुँचने पर मुझ ब्राह्मण को कुछ वायन भी मिल जाय।

राजा—मदनिके, जाओ देवी से निवेदन कर देना कि मैं मकरन्दोद्यान में आ गया।

दोनों—जो आज्ञा।

राजा—मित्र, आओ, उतरें। (दोनों के द्वारा कोठे से उतरने का अभिनय

वयस्य, आदेशय मकरन्दोद्यानस्य मार्गम्।

विदूषकः—एदु एदु भट्टा। (एतु एतु भर्ता।)

(इति परिक्रामतः)

विदूषकः—(अग्रतोऽवलोक्य) एदं तं मअरन्दुज्जाणं ता एहि पविसम्ह। (एतत्तन्मकरन्दोद्यानं तदेहि प्रविशावः।)

(इति प्रविशतः)

विदूषकः—(अवलोक्य सविस्मयम्) भो महाराज, पेक्ख पेक्ख दाव एदं खु मलअमारुदान्दोलणपहुल्लन्तसहआरमञ्जरीरेणुपडलपडिबद्धपडवि-आणं मत्तमहुअरमुत्तझङ्कारमिलिदमहुरकोइलारावसंगीदसुहिसुहं तुहागम-णदंसिआअरं विअ मअरन्दुज्जाणं लक्खीअदि। ता पेक्खदु भवं। (भो महाराज, प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व तावदेतत् खलु मलयमारुतान्दोलनप्रफुल्लत्सहकार-मञ्जरीरेणुपटलप्रतिबद्धपटवितानं मत्तमधुकरमुक्तझङ्कारमिलितकोकिलारावसंगीत-

---

प्रासादम्' इति प्रागुक्तं तदनुसन्धायेत्थमुक्तिः।

तन्मकरन्दोद्यानम्—यदुद्दिश्य प्रचलितोऽसीति योजनीयम्।

मलयस्य दक्षिणदिगवस्थिताचलप्रभेदस्य मारुतो वायुः दक्षिणपवनः तेन तत्कर्तृकं यद् आन्दोलनम् सञ्चालनम् तेन हेतुभूतेन प्रफुल्लन्त्यः प्रकाशमानास्त्यो याः सहकारस्य आम्रवृक्षस्य मञ्जर्यः तासां रेणवः परागाः तेषाम् पटलम् परम्परा तेन प्रतिबद्धं निरर्थकतया निवारितायोजनम् पटवितानम् यत्र तत्तथा। मलयानिलो-द्भिन्नाम्रमञ्जरीपरागैर्यत्र पटवितानायितं तादृशमित्यर्थः। किञ्च-मत्ताः मधुपान-समुत्पन्नमदाः ये मधुकराः भ्रमराः तैः कर्तृभिर्मुक्तो यो झङ्कारः अव्यक्तमधुरः शब्दः तेन मिलितः सङ्गतः एकीभवन् यः कोकिलारावः परभृतरुतम् स एव सङ्गीतम्

मित्र, मकरन्दोद्यान का मार्ग बताओ।

विदूषक—जो आज्ञा, आइये आप। (दोनों चलते हैं)

विदूषक—यही तो वह मकरन्दोद्यान है। चलिये, प्रवेश करें। (दोनों का प्रवेश)

विदूषक—(देख कर, आश्चर्य) मित्र, देखिये देखिये। यह मकरन्दोद्यान आप के आगमन से आप के प्रति अपना आदर प्रकट कर रहा है, यह जो मलयानिल द्वारा हिलाई गई आम की मञ्जरी का पराग उड़ रहा है वह आप के स्वागत में फैलाया गया वितान है और मतवाले भ्रमरों की झंकार से मिश्रित मधुर

श्रुतिसुखं तवागमनदर्शितादरमिव मकरन्दोद्यानं लक्ष्यते। तत्प्रेक्षतां भवान्।)

राजा—(समन्तादवलोक्य) अहो मकरन्दोद्यानस्य परा श्रीः। इह हि-

उद्यद्विद्रुमकान्तिभिः किसलयैस्ताम्रां त्विषं बिभ्रतो
भृङ्गालीविरुतैः कलैरविशदव्याहारलीलाभृतः।
घूर्णन्तो मलयानिलाहतिचलैः शाखासमूहैर्मुहु-

गीतावाद्यादिकम् तेन श्रुतेः कर्णकुहरस्य सुखम् सुखावहम्। चूताङ्कुरास्वादकषायकण्ठानां कोकिलानामारावा माद्यद्भ्रमरझङ्कारैरन्विताः सङ्गीतानीव यत्र कर्णयोरमृतमुद्गिरन्ति तादृशमिति भावः। ननु किमर्थमिदमाम्रमञ्जरीपरागकृतपटवितानायोजनं किमर्थं वा भ्रमरझङ्कारान्वितकोकिलारावरूपसङ्गीतप्रवर्त्तनमित्यपेक्षायामाह—तवागमनेत्यादि। तव स्वामिनः आगमने समुपस्थितौ दर्शित आदरः स्वागतसत्क्रिया येन तादृशमिव। तवागमनेत्यत्र तवेत्यस्य सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासो बोध्यः। त्वदागमनेत्यादिपाठस्तु युक्ततमः। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः।

उद्यदिति। अधुना सम्प्रति वसन्तावतारे अमी पुरोवर्त्तमानाः द्रुमाः वृक्षाः मधोः वसन्तस्य मधुनः मद्यस्य च प्रसन्नमवसरम् सम्पर्कञ्च प्राप्य मत्ताः सञ्जातमदाः इव भान्ति राजन्ते। अमी मकरन्दोद्यानवृक्षा वसन्तसमयमासाद्य पीतासवाः पुमांस इव तास्ताः मदमत्तचेष्टाः कुर्वन्तो भान्तीति भावः। मदचेष्टा एव विवृणोति—उद्यदित्यादिना। उद्यताम् उद्गच्छताम् (प्रकाशमासादयताम्) विद्रुमाणाम् प्रबालानाम् कान्तयः इव कान्तयो येषां तैर्नवविद्रुमरक्ताभैः किसलयैः नवपल्लवैः ताम्राम् ताम्रवर्णाम् त्विषम् कान्तिम् बिभ्रतः धारयन्तः, अन्योऽपि पीतासवः प्रकामरक्ताभो भवति मदकृतोत्तेजनाप्रभावात्। किसलयैरिति हेतौ तृतीया। कलैः अव्यक्तमधुरैः भृङ्गालीनां भ्रमरकुलानाम् विरुतैः गुञ्जनैः (हेतुभूतैः) अविशदः अस्फुटाक्षरार्थः यः व्याहारः भाषितम् तस्य लीलां शोभां बिभ्रतीति तथा। भ्रमराणां गुञ्जितानि वृक्षाणां कलभाषितानीत्यर्थः। अन्योऽपि मत्तः किमप्यस्पष्टमाचष्टेऽत इयमुत्प्रेक्षा। किञ्च—

कोकिल स्वर संगीत है, जो अति श्रोत्रप्रिय है। आप देखें तो इसे।

राजा—(चारों ओर देख कर) अहा! मकरन्दोद्यान कितना सुन्दर है? यहाँ द्रुम मधु के आ जाने से ये वृक्ष भी मतवाले से मालूम पड़ रहे हैं क्योंकि मूंगे की मदन कान्ति वाले नव पल्लवों से इनकी लाली बढ़ रही है, भौंरों का शब्द मानो इनके अस्पष्ट शब्द हैं, दक्षिण वायु इनकी शाखाओं को चला रही है वह

भ्रान्ति प्राप्य मधुप्रसंगमधुना मत्ता इवामी द्रुमाः ॥ १७ ॥

अपि च ।

मूले गण्डूषसेकासव इव बकुलैर्वास्यते पुष्पवृष्ट्या
मध्वाताम्रे तरुण्या मुखशशिनि चिराच्चम्पकान्यद्य भान्ति ।
आकर्ण्याशोकपादाहतिषु च रसितं निर्भरं नूपुराणां

मलयानिलस्य दक्षिणपवनस्य आहतिभिः आन्दोलनैः (कारणभूतैः) चलैः कम्पमानैः शाखासमूहैः विटपैः मुहुः पुनः पुनः घूर्णन्तः अस्थिराः । मद्यपोऽपि बाहु चालयन्नसंयतचरणन्यासं किञ्चिच्चलति तत इत्थमुक्तिः । 'व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः' 'मधु-मद्यं पुष्परसे'इति चामरः । श्लेषोत्थापितोत्प्रेक्षालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १७ ॥

मूले इति । बकुलैः केसरवृक्षैः मूले मूलावच्छेदेन यः गण्डूषसेकासवः सः पुष्पवृष्ट्या कुसुमपातनेन वास्यते सुगन्धाक्रियते । कविसमयप्रसिद्धिमनुरुध्य बकुलमूले तरुणीभिर्गण्डूषासवो विसृज्यते, मन्येऽधुना बकुलतरुस्तत्सेकप्रसादलब्धपुष्पसमृद्धिस्तदृणापाचिकीर्षयेव पुष्पभारं समर्प्य गण्डूषसेकासवं तदालवालेऽवशिष्यमाणं वासयति । अद्य तरुण्याः युवत्याः मुखमेव शशी चन्द्रः तस्मिन् मधुना मद्येन आताम्रे ईषद्रक्तकान्तौ चम्पकानि चम्पकपुष्पाणि चिराद् बहोः कालात्परतः भान्ति विविक्ततया प्रतिभासन्ते । स्वाभाविकदशायान्तु हिरण्यवने तरुणीवदने न्यस्यमानमपि चम्पकं तुल्यवर्णतया निलीयतेसम परमधुना मदोदयेन तत्र रक्तिमनि विवृद्धे चिरात्पृथगवभासोऽस्य समजनीति भावः । यद्वा मधुमत्तयुवतिजनविधीयमानहासरूपं दोहदमासाद्य चम्पकान्यद्य विकसन्तीति तात्पर्यम् । भृङ्गसार्थैः भ्रमरसमूहैश्च अशोकेषु तदाख्यवृक्षेषु याः पादाहतयः दोहदपूरणाय युवतिकृतचरणताडनानि तासु निर्भरं प्रकाशम् रणताम् शब्दायमानानाम् नूपुराणाम् मञ्जीराणाम् झङ्कारस्य शिञ्जितस्य

ऐसा लगता है कि नशे की मस्ती में ये वृक्ष झूम रहे हों ॥ १७ ॥

और—इन वृक्षों की जड़ में तरुणियों द्वारा किये गये गण्डूषमद्य इन वृक्षों से गिरते हुए फूलों से वासित से किये जा रहे हैं, स्त्रियों के कपोल पर नशे की लाली दौड़ रही है इससे बहुत दिनों पर ये चम्पक पुष्प अपनी छवि प्रकट कर सके हैं, अशोक वृक्ष पर होने वाले तरुणियों के पादप्रहार के समय नूपुर के झङ्कार

झङ्कारस्यानुगीतैरनुकरणमिवारभ्यते भृङ्गसार्थैः ॥ १८ ॥

विदूषकः—(आकर्ण्य) भो वअस्स ण एदे महुअरा णेउरसद्दं अणुहरन्ति। णेउरसद्दो ज्जेव एसो देवीए परिअणस्स। (भो वयस्य नैते मधुकरा नूपुरशब्दमनुहरन्ति। नूपुरशब्द एवैष देव्याः परिजनस्य।)

राजा—वयस्य सम्यगुपलक्षितम्।

(ततः प्रविशति वासवदत्ता काञ्चनमाला पूजोपकरणहस्ता सागरिका विभवतश्च परिवारः।)

वासवदत्ता—हञ्जे कञ्चणमाले आदेसेहि मे मअरन्दुज्जाणस्स मग्गं।

आकर्ण्य निशम्य (शेषे षष्ठी) अनुगीतैः पश्चाद्भवैर्झङ्कारैः अनुरणनमिव आरभ्यते। अशोकदोहदपूर्त्तये युवतयोऽशोकतरुषु पादाघातान् कुर्वन्ति तत्र नूपुररवो भवति, तन्निशम्य भ्रमरास्तदनुरणन्तीवेति निष्कृष्टार्थः। चम्पकानीत्यत्र चम्पकपदात्पुष्परूपविकारेऽर्थे विहितस्याणः 'पुष्पमूलेषु बहुलम्' इति लुप्। 'अतिवेलभृशात्यर्थातिमात्रोद्गाढनिर्भरम्' इत्यमरः। 'स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्, पादाघातादशोकस्तिलककुरवकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम् ॥ मन्दारो नर्मवाक्यात्पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाताच्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्त्तनात् कर्णिकारः॥' इति कविसमयोऽत्रानुसन्धेयः॥ उत्प्रेक्षात्रालङ्कारः। स्रग्धरा वृत्तम् ॥ १८ ॥

अनुहरन्ति = अनुकुर्वन्ति। अनुहरतेरनुकरणार्थत्वम् 'हरतेर्गतताच्छील्ये' (वा० ६१६) इति पाणिनीयसूत्रव्याख्याने सिद्धान्तकौमुद्यां लक्ष्यते॥

उपलक्षितम् = तर्कितम्। नायं भृङ्गरवः किन्तु समागच्छतो देवीपरिजनस्य नूपुररव एवायमिति तदुक्तिरमृषेति भावः।

पूजोपकरणहस्ता = करे पूजोपकरणानि दधाना। उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणं सामग्री।

उसे सुन कर यह भ्रमर-समुदाय प्रतिस्पर्द्धा से अनुरणन करने लग जाता है॥१८॥

विदूषक—(सुनकर) यह भ्रमरों द्वारा नूपुर का अनुकरण नहीं है, यह तो साक्षात् देवीपरिजन का नूपुर शब्द ही है।

राजा—मित्र तुमने ठीक समझा है। (वासवदत्ता, काञ्चनमाला, पूजा की सामग्री के साथ सागरिका और विभवानुरूप परिवार का प्रवेश)

वासवदत्ता—काञ्चनमाले, मुझे मकरन्दोद्यान का मार्ग तो बताओ।

(हञ्जे काञ्चनमाले आदेशय मकरन्दोद्यानस्य मार्गम् ।)

काञ्चनमाला—एदु एदु भट्टिणी । (एत्वेतु भर्त्री ।)

वासव०—(परिक्रम्य ।) हञ्जे कञ्चणमाले अध केत्तिअ दूरो सो रत्ता-सोअपाअवो जहिं मए भअवदो कुसुमाउहस्स पूआ णिव्वत्तइदव्वा । (हञ्जे काञ्चनमाले अथ कियद्दूरे स रक्ताशोकपादपो यत्र मया भगवतः कुसुमायुधस्य पूजा निर्वर्तयितव्या ।)

काञ्चन०—भट्टिणि आसण्णो ज्जेव । किं न पेक्खदि भट्टिणी । इअं क्खु सा णिरन्तरुब्भिण्णकुसुमसोहिणी भट्टिणीए परिगिहिदा माहवी लदा । एसा वि अवरा णोमालिआ लदा जाए अआलकुसुमसमुग्गमस-द्धालुणा भट्टिणा अणुदिणं आआसीअदि अप्पा । ता एदं अतिक्कमिअ दीसदि ज्जेव सो रत्तासोअपाअवो जहिं देवी पूआं णिव्वत्तइस्सदि । (भर्त्रि आसन्न एव । किं न प्रेक्षते भर्त्री । इयं खलु सा निरन्तरोद्भिन्नकुसुमशोभिनी भर्त्रा परिगृहीता माधवी लता । एषाप्यपरा नवमालिका लता यस्या अकालकुसुम-

---

आदेशय = ज्ञापय ।

निर्वर्त्तितव्या = सम्पादनीया ।

आसन्नः=अनतिदूरवर्ती । निरंतरोद्भिन्नकुसुमशोभिनी=निर्गतमन्तरं यस्मात्तन्नि-रन्तरं सततमुद्भिन्नानि पुष्पाणि तैः शोभितुं शीलं यस्यास्तादृशी सततविकासिपुष्प-विराजिता । परिगृहीता=स्वीयतया स्वीकृता । माधवीलता वासन्तीलता । अकाल-कुसुमसमुद्गमश्रद्धालुना=अकाले स्वाभाविककुसुमोत्पत्तिकालभिन्नकाले यः कुसुमानां समुद्गमः समुद्भवस्तत्र श्रद्धालुना आदरिणा । विशेषपरिचर्ययाऽसमय एव पुष्पोदयं कामयमानेनेत्याशयः । अनुदिनम् = प्रतिदिनम् । आयास्यते = परिश्रम्यते । कथ-मेतस्या अकाल एव पुष्पोद्गमो भविष्यतीति चिन्तयाऽन्तःकरणं खेद्यत इति भावः ।

काञ्चनमाला—चलिये ।

वासवदत्ता—(चलकर) काञ्चनमाला, वह रक्ताशोक कितनी दूर पर है जिसके नीचे मुझे कामदेव की पूजा करनी है ।

काञ्चनमाला—महारानी समीप में ही तो है । आप नहीं देखती ? यह है आपकी माधवीलता जो बराबर फूलती रहती है, यह दूसरी यही नवमालिका है

समुद्गमश्रद्धालुना भर्त्राऽनुदिनमायाश्यत आत्मा। तदेतामतिक्रम्य दृश्यत एव रक्ताशोकपादपो यत्र देवी पूजां निर्वर्तयिष्यति।)

वासव०—ता एहि। तहिं ज्जेव लहु गच्छम्ह। (तदेहि। तत्रैव लघु गच्छामः।)

काञ्चन०—एदु एदु भट्टिणी। (एत्वेतु भर्त्री।)

(सर्वाः परिक्रामन्ति।)

काञ्चन०—भट्टिणि अअं खु सो रत्तासोअपाअवो जहिं देवी पूअं णिव्वत्तइस्सदि। (भर्त्रि अयं खलु स रक्ताशोकपादपो यत्र देवी पूजां निर्वर्तयिष्यति।)

वासव०—तेण हि मे पूआणिमित्ताइ उवअरणाइं उवणेहि। (तेन हि मे पूजानिमित्तान्युपकरणान्युपनय।)

साग०—(उपसृत्य।) भट्टिणि एदं सव्वं सज्जम्। (भर्त्रि एतत्सर्वं सज्जम्।)

वासव०—(निरूप्य आत्मगतम्।) अहो पमाओ परिअणस्स। जस्स

एतामतिक्रम्य = एतस्या अग्रतः। निर्वर्तयिष्यति = विधास्यति।

लघु = शीघ्रम्, 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्, सत्वरं चपलं तूर्णमविलम्बितमाशु च' इत्यमरः।

पूजानिमित्तानि = पूजनावसरेऽपेक्षिष्यमाणानि। उपकरणानि = सामग्रीः। उपनय = आहर।

सज्जम् = संभृतम्, यथावदुपकल्पितम्।

जिसे असमय में विकसित करने की श्रद्धा से महाराज सतत चिन्ता में रहते हैं। इसके बाद तो वही रक्ताशोक है जिसके नीचे आप पूजा करेंगी।

वासवदत्ता—चलो, शीघ्र वहीं चलें।

काञ्चनमाला—चलिये। (दोनों चलती हैं)

काञ्चनमाला—महारानी, यही वह अशोक वृक्ष है, जिसके नीचे आप पूजा करेंगी।

वासवदत्ता—तब हमारी पूजा-सामग्री लाओ।

सागरिका—(समीप जाकर) महारानी यह सब तैयार है।

वासवदत्ता—(देखकर स्वगत) परिजनकी कैसी असावधानता है। जिसके

ज्जेव दंसणपधादो पअत्तेण रक्खीअदि तस्स ज्जेव दिट्ठिगोअरे पडिदा भवे। भोदु। एवं ताव भणिस्सम्। हञ्जे साअरिए कीस तुमं अज्ज मअणमहूस्सवपराहीणे परिअणे सारिअं उज्झिअ इह आगदा। ता तहिं ज्जेव लहुं गच्छ। एदं वि सव्वं पूओवअरणं कञ्चणमालाए हत्थे समप्पेहि। (अहो प्रमादः परिजनस्य। यस्यैव दर्शनपथात्प्रयत्नेन रक्ष्यते तस्यैव दृष्टिगोचरे पतिता भवेत्। भवतु। एवं तावद्भणिष्यामि। (प्रकाशम्।) हञ्जे सागरिके कस्मात्त्वमद्य मदनमहोत्सवपराधीने परिजने सारिकामुज्झित्वेहागता। तत्तत्रैव लघु गच्छ। एतदपि सर्वं पूजोपकरणं काञ्चनमालाया हस्ते समर्पय।

साग०—जं भट्टिणी आणवेदि। सारिया मए उण सुसंगदाए हत्थे समप्पिदा। एदं वि अत्थि मे पेक्खिदुं कोदूहलं किं जहा तादस्स अन्तेउरे भअवं अणङ्गो अच्चीअदि इह वि तह ज्जेव किं अण्णहेत्ति। ता अलक्खिदा भविअ पेक्खिस्सम्। जाव इह पूआसमओ होइ ताव अहं पि भअवन्तं अणंगं ज्जेव पूअइदुं कुसुमाइं अवचिणिस्सम्।(यद्भर्त्र्याज्ञापयति। [इति तथा कृत्वा कतिचित्पदानि गत्वा। आत्मगतम्।] सारिका मया पुनः सुसं-

---

प्रमादः=असावधानता, 'प्रमादोऽनवधानता' इत्यमरः। यस्य=महाराजस्य। दर्शनपथात्-दृष्टिविषयतः। प्रयत्नेन रक्ष्यते = मैनां राजा द्राक्षीदिति शतशः प्रयत्य गोपाय्यते। दृष्टिगोचरे = नेत्रव्यापारक्षेत्रे। गावः इन्द्रियाणि चरन्ति विषयान् गृह्णन्ति यत्र स गोचरः विषयदेशः 'गोचरसञ्चर' इत्यादिनाऽधिकरणे घ प्रत्ययः। मदनमहोत्सवपराधीने = परस्मिन्नधीति पराधीनः, मदनमहोत्सवस्य पराधीनस्तस्मिन्, मदनमहोत्सवव्यग्रे इत्यर्थः।

सारिका—पक्षिविशेषः शुकजातीयः। उज्झित्वा = त्यक्त्वा। अनुचितमिदं

नजरोंसे बचा रही थी उसकी नजरोंमें पड़ जायगी। अच्छा। इस तरह कहूँगी। (प्रकट) अरी सागरिका, सभी परिजन जब मदनमहोत्सवमें संलग्न हैं तब तुम सारिकाको छोड़कर चली आई? जल्दी वहीं चली जा और यह पूजासामग्री काञ्चनमालाको दे दे।

सागरिका—जो आज्ञा (कुछ दूर चलकर) [स्वगत] सारिका तो सुसंगताको दे आयी हूँ। मुझे यह देखनेकी भी उत्कण्ठा है कि जैसा हमारे पिताके अन्तःपुरमें कामदेवकी पूजा होती है, यहां भी वैसी हा होती है? इसलिए छिपकर

गताया हस्ते समर्पिता। एतदप्यस्ति मे प्रेक्षितुं कौतूहलं किं यथा तातस्यान्तःपु भगवाननङ्गोऽर्च्यते इहापि तथैव किमन्यथेति। तदलक्षिता भूत्वा प्रेक्षिष्ये। यावदि पूजासमयो भवति तावदहमपि भगवन्तमनङ्गमेव पूजयितुं कुसुमान्यवचेष्यामि।)
[इति कुसुमावचयं नाटयति।]

वासव०—कञ्चणमाले पडिठ्ठावेहि असोअमूले भअवन्तं पज्जुण्णम्।
(काञ्चनमाले प्रतिष्ठापयाशोकमूले भगवन्तं प्रद्युम्नम्।)

काञ्चन०—जं भट्टिणी आणवेदि। (यद्भर्त्र्याज्ञापयति। [तथा करोति।

विदू०—भो वअस्स जधा वीसन्तो णेउरसद्दो तहा तक्केमि आअदा देवी असोअमूलंत्ति। (भो वयस्य यथा विश्रान्तो नूपुरशब्दस्तथा तर्कयामि आगता देव्यशोकमूलमिति।)

त्वदीयमाचरणं यत्स्वनियोगं शून्यं कृत्वा रक्षकान्तरं चाप्रतिष्ठाप्यात्रागता त्वं तद् धिक् त्वामविवेकामिति भावः। हस्ते समर्पिता—अतस्तदपायचिन्तया मया न व्यग्री भवितव्यमिति भावः। तातस्य = मम पितुः सिंहलेश्वरस्य विक्रमबाहोः। अलक्षिता देवीतत्परिजनदृष्टिभ्य आत्मानं गोपयित्वेत्यर्थः। कुसुमावचयम् = पुष्पसङ्ग्रहम्। पुष्पाण्यत्र न हस्तप्राप्याणि किन्तु समधिकप्रयासशाखानमनादिना प्राह्याणि तेन 'हस्तादाने चेरस्तेये' इति सूत्रेण न घञ् किन्त्ववचयपदेऽजेवेकारान्तता प्रयुक्तः।

प्रतिष्ठापय = प्रतिष्ठितं कुरु। प्रद्युम्नम् = कामदेवम्।

अत्र 'वासवदत्ता—उपनय मे पूजोपकरणानि' इत्यारभ्य 'तदलक्षिता प्रेक्षिष्ये' इत्यन्तेन ग्रन्थेन वासवदत्ताकृतात् रत्नावलीवत्सराजयोरन्योन्यवीक्षणस्य सम्भविष्यतः प्रतीकारात्, सारिकायाः सुसंगताहस्तार्पणेन अलक्षितप्रेक्षणेन च वत्सराजसमागम-हेतोर्बीजस्योपादानात्समाधानं नाम मुखसन्धेरङ्गम्। 'बीजार्थस्योपगमनं तत्समाधान-मुच्यते' इति च तल्लक्षणम्॥

विश्रान्तः = उपरतः।

देखूँगी। जबतक पूजाका समय होता है, तबतक मैं भी अपने लिए कुछ फूल चुन लेती हूँ। (फूल तोड़ने का अभिनय)

वासवदत्ता—काञ्चनमाला, अशोक वृक्षके नीचे भगवान् कामदेवको रखो।

काञ्चनमाला—जो आज्ञा। (वैसा करती है)

विदूषक—मित्र, नूपुरका शब्द रुक गया, मालूम पड़ता है देवी अशोकवृक्षके नीचे आगई।

राजा—(अवलोक्य ।) वयस्य सम्यगवधारितम् । पश्येयं देवी या किलैषा—

कुसुमसुकुमारमूर्तिर्दधती नियमेन तनुतरं मध्यम् ।
आभाति मकरकेतोः पार्श्वस्था चापयष्टिरिव ॥ १९ ॥

तदेहि । उपसर्पावः । (उपसृत्य ।) प्रिये वासवदत्ते !

वासव०—(विलोक्य ।) कधं अज्जउत्तो । जअदु जअदु अज्जउत्तो । एदं आसणं । एत्थ उवविसदु अज्जउत्तो । (कथमार्यपुत्रः । जयतु जयत्वार्यपुत्रः । एतदासनम् । अत्रोपविशत्वार्यपुत्रः ।)

(राजा नाट्येनोपविशति ।)

कुसुमेति । कुसुमं पुष्पं तद्वत्सुकुमारा कोमला मूर्त्तिः कायो यस्याः सा देवी चापयष्टिरपि कुसुमान्येव सुकुमारा मूर्त्तिर्यस्यास्तादृशी । मदनधनुषः पुष्पमयत्वं 'मौर्वी रोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमाः' इति कविसमयसिद्धं तदनुरोधनोक्तम् । नियमेन उपवासादिव्रतेन तनुतरं कृशतरं मध्यं कटिं दधती, पक्षे नियमेन निश्चयेन तनुतरं पूर्वापरभागापेक्षया लघुभूतं मध्यं मध्यभागं दधती धारयन्ती । चापयष्टेर्मध्यं मुष्टिग्राह्यं विधीयते तथैवोपयोगस्य सम्भवादिति तथोक्तिः । मकरकेतोः कन्दर्पस्य पार्श्वस्था एकभागावस्थिता चापयष्टिः धनुःकाण्डमिव देवी आभाति शोभते । एषा वासवदत्ता अशोकपादपतले स्थापितस्य कामदेवस्य समीपे स्थिता तदीया चापयष्टिरिव शोभत इति राजाशयः । श्लेषानुप्राणितोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । आर्या वृत्तम् ॥१९॥

कथमिति संभ्रमं द्योतयितुम् , अत एव च जयतु पदस्य द्विरुक्तिरपि । 'कथं प्रश्ने प्रकारार्थे संभ्रमे संभवेऽपि च' इति हेमचन्द्रः ।

राजा—मित्र, तुमने ठीक अन्दाज लगाया । देखो यही तो देवी हैं, जो—

फूलोंकी तरह सुकुमारी, कृशमध्या और स्थापित कन्दर्प प्रतिमाकी पार्श्ववर्तिनी होने के कारण एवं फूलमय होने के कारण सुकुमार, बीचमें पतली तथा कन्दर्पके साथ रहने वाली उसकी धनुर्लतासी प्रतीत हो रही है ॥ १९ ॥

इसलिये आओ, उसके पास चलें । (समीप आकर) प्रिये वासवदत्ते,

वासवदत्ता—(देखकर) ये आर्यपुत्र हैं, जय हो आर्यपुत्रकी । यह आसन है, आप इसपर विराजिये ।

[राजा बैठता है]

काञ्चन०—भट्टिणि सहत्थदिण्णकुङ्कुमचच्चिआसोहिदं कदुअ र सोअपाअवं अच्चीअदु भअवं पज्जुण्णो। (भर्त्रि स्वहस्तदत्तकुङ्कुमचर्चि शोभितं कृत्वा रक्ताशोकपादपमर्च्यतां भगवान्प्रद्युम्नः।)

वासव०—उवणेहि मे पूजोवअरणाइं। (उपनय मे पूजोपकरणानि।

[काञ्चनमालोपनयति। वासवदत्ता तथा करोति।]

राजा—प्रिये।

प्रत्यग्रमज्जनविशेषविविक्तकान्तिः
कौसुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता।

स्वहस्तदत्तकुङ्कुमचर्चिकाशोभितं कृत्वा = आत्महस्तेन घुसृणस्य लेपं प्रदे तथा करोति = अशोकपादपं कुङ्कुमचर्चयाऽलङ्करोति तन्मूलावस्थापितां सुप प्रतिमां चार्चयति।

प्रत्यग्रेति। मकरकेतनं कामदेवमर्चयन्ती पूजयन्ती प्रत्यग्रोऽचिरनिर्वृत्तो मज्जनविशेषः स्नानविशेषः तेन विविक्ता निर्मला कान्तिः देहप्रभा यस्यास्तादृशी मे प्रिया बालानि अबहुदिनोद्भूतानि प्रबालानि किसलयानि यस्याः तादृशो यो विद्रु वृक्षः तस्मात्प्रभवः उत्पत्तिः यस्याः सा तथाभूता लता इव विभ्राजसे शोभसे। विशे षणान्तरमाह—कौसुम्भेति। कौसुम्भेन कुसुम्भपुष्पसंभवेन रागेण रञ्जनद्रव्येण रुचि सुन्दरं यथा स्यात्तथा स्फुरन् लसन् अंशुकान्तो वस्त्रप्रान्तो यस्याः तादृशी, लतापक्षे कौसुम्भं कुसुम्भपुष्पं तस्येव रागो लौहित्यं तेनरुचिरा रमणीया चासौ स्फुरद्भिरंशुभिः किरणैः परागैश्च कान्ता रमणीया'। प्रत्यग्रेत्याद्यं विशेषणमपि–प्रत्यग्रं सद्यः सञ्जातं यन्मज्जनं जलेन सेचनं तदेव विशेषः अतिशयः तेन विविक्ता पूता कान्तिः यस्यास्तादृशीति व्याख्यया लतायां सुयोजम्। 'स्यात्कुसुम्भं वह्निशिखं महारजन मिन्यपि' इत्यमरः। कामपूजामाचरन्ती सद्यःस्नानप्रस्फुरद्दिव्यदेहप्रभा कुसुम्भार वस्त्रप्रान्ता त्वं मे प्रिया सद्यःसिच्यमानमूलतया पूतप्रभा कुसुमशोभिता परागपि

काञ्चनमाला महारानी, अपने हाथोंसे आप इस अशोक वृक्षको कुङ्कुम लेपसे भूषित करके अनङ्गकी पूजा करें।

वासवदत्ता—लाओ। मेरी पूजासामग्री। (काञ्चनमाला देती है, वासवदत्ता पूजा करती है।

राजा—प्रिये, सद्यः स्नान करनेसे तुम्हारी कान्ति चमक आई है, और यह कुसुम्भ रङ्गकी (लाल) साड़ी तुम्हारी देह पर है, इस समय कामपूजा करती हुई

विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती
बालप्रवालविटपिप्रभवा लतेव ॥ २० ॥

अपि च ।

स्पृष्टस्त्वयैष दयिते स्मरपूजाव्यापृतेन हस्तेन ।
उद्भिन्नापरमृदुतरकिसलय इव लक्ष्यतेऽशोकः ॥ २१ ॥

अपि च ।

अनङ्गोऽयमनङ्गत्वमद्य निन्दिष्यति ध्रुवम् ।
यदनेन न संप्राप्तः पाणिस्पर्शोत्सवस्तव ॥ २२ ॥

रेता नवप्रवालमण्डिततरुसम्भवा लतेव शोभसे इति निर्गलितार्थः । अत्र लता विभ्राजते न तु विभ्राजसे त्वं विभ्राजसे न तु विभ्राजते इति प्रथममध्यमरूपपुरुषभेदमुपादाय भग्नप्रक्रमतादोषं शङ्कमानैः प्रिये इत्यनन्तरं भवति इति योजयित्वा 'विभ्राजसे' इत्यस्य स्थाने 'विभ्राजते' इत्येव पठनीयम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २० ॥

स्पृष्ट इति । दयिते, प्रियतमे त्वया वासवदत्तया स्मरपूजायां कामदेवार्चनकर्मणि व्यापृतेन संलग्नेन हस्तेन कराग्रेण स्पृष्टः सञ्जातस्पर्शः अयमशोकः तदभिधानो वृक्षः उद्भिन्नः प्रकटीभूतः अपरः पूर्वतो विद्यमानेभ्यः अन्यः मृदुतरः कोमलतरः किसलयः पल्लवः यस्य तथाविध इव लक्ष्यते प्रतीयते । कामपूजायामितस्ततः सञ्चार्यमाणस्य तव हस्ताग्रस्य स्पर्शेन तदीयो नवः पल्लव इव तवाङ्गुलिः शोभते इत्यर्थः । एतेन तदङ्गुलीनां पल्लवसाम्यं व्यञ्जितम् । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ २१ ॥

अनङ्ग इति । अयम् अनङ्गः कामदेवः अद्य आत्मनः स्वस्य अनङ्गत्वं गात्ररहित्यम् ध्रुवम् अवश्यम् निन्दिष्यति धिक्करिष्यति, यत् यतः अनेन अनङ्गेन तव पाणिस्पर्शः करस्पर्शः स एव उत्सवः प्रमोदावसरः स न प्राप्तः आसादितः । यद्यनङ्गोऽस्य कामस्याङ्गान्यभविष्यंस्तदाऽयं त्वत्पाणिस्पर्शोत्सवोपलब्ध्याऽऽत्मानं धन्यमकरिष्यदतोऽयमद्यात्मनोऽङ्गवैकल्यं निश्चितं निन्दिष्यतीति तात्पर्यम् ॥ उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ २२ ॥

तुम ऐसी मालूम पड़ रही हो मानो नये पल्लवोंसे युक्त वृक्षकी लता हो ॥ २० ॥

और, जब जब यह अशोक वृक्ष कन्दर्प-पूजनमें निरत तुम्हारे हाथ का स्पर्श प्राप्त करता है तब ऐसा मालूम होता कि इसमें एक नवीन पल्लव निकल आया हो ॥

और, कन्दर्प आज अपनी अनङ्गता पर इसलिये अवश्य पश्चात्ताप करेगा कि वह तुम्हारे हाथके स्पर्शका सुख नहीं प्राप्त हो सका ॥ २२ ॥

काञ्चन०—भट्टिणि अच्चिदो भअवं पज्जुण्णो। ता करेहि भ उइदं पूआसक्कारम्। (भर्त्रि अर्चितो भगवान्प्रद्युम्नः तत्कुरु भर्तुरुचितं सत्कारम्)

वासव०—तेण हि उवणेहि मे कुसुमाइं विलेवणं च। (तेन हि उ मे कुसुमानि। विलेपनं च)

काञ्चन०—भट्टिणि एदं सव्वं सज्जं। (भर्त्रि एतत्सर्वं सज्जम्।)

(वासवदत्ता नाट्येन राजानं पूजयति।)

सागरिका—(गृहीतकुसुमा।) हद्धी हद्धी। कहं कुसुमलोहोक्खित्त अआए अदिचिरं ज्जेव मए किदम्। ता जाव इमिणा सिन्दुवारवि ओवारिअसरीरा भविअ पेक्खामि। कहं पच्चक्खो एव्व भअवं पाउहो इह पूआं पडिच्छदि। अम्हाणं तादस्स अन्तेउरे उण चित्त अच्चीअदि। ता अहं वि इह त्थिदा ज्जेव इमेहिं कुसुमेहिं भअ कुसुमाउहं पूअइस्सं। णमो दे भअवं कुसुमाउह अमो हदंसणो मे तुमं भविस्ससि। दिट्ठं जं दिट्ठव्वम्। ता जाव ण कोवि मं पेक्ख तावज्जेव गमिस्सम्। (हा धिक् हा धिक्। कथं कुसुमलोभोत्क्षिप्तहृदय चिरमेव मया कृतम्। तद्यावदनेन सिन्धुवारविटपेनापवारितशरीरा भूत्वा प्रेक्षे।

पूजासत्कारम् = पूजामेव सत्कारम्, पूजया सत्कारमिति वार्थः। कामपू कृतायां प्रियपतिपूजायाः प्राप्तावसरत्वात्तथानुरोधः॥

कुसुमानि विलेपनञ्च—तत्र कुसुमैः कामः पूज्यः, विलेपनेन तु रक्ताशोक चन्दनचर्चा सम्पादनीयेति, ...गुक्तम्।

सज्जम् = यथास्थानमुपकल्पितम्।

कुसुमलोभोत्क्षिप्तहृदयया = पुष्पलोभाकृष्टचित्तया। अनिचिरं कृतम् = विलम्बितम्। सिन्धुवारविटपेन=निर्गुण्डीतरुशाखया। अपवारितशरीरा=अन्त

काञ्चनमाला—महारानी, कामपूजा हो गई, अब आप महाराजका यथो पूजा सत्कार करें।

वासवदत्ता—अच्छा मुझे फूल-चन्दन दो।

काञ्चनमाला—सब तैयार है। (वासवदत्ता राजाकी पूजा करती है)

सागरिका—हाय हाय, फूलोंकी लालचमें पड़कर मैंने बड़ी देर करदी तब तक सिन्धुवार वृक्षकी ओटमें देह छिपा कर देखूँ। (वैसा करके, दे

(तथा कृत्वा विलोक्य सविस्मयम् ।) कथं प्रत्यक्ष एव भगवान्कुसुमायुध इह पूजां प्रतीच्छति । अस्माकं तातस्यान्तःपुरे पुनश्चित्रगतोऽर्च्यते । तदहमपीह स्थितैर्भिः कुसुमैर्भगवन्तं कुसुमायुधं पूजयिष्ये । (कुसुमानि प्रक्षिप्य ।)नमस्ते भगवन्कुसुमायुध अमोघदर्शनो मे इदानी त्वं भविष्यसि । (इति प्रणम्य ।) दृष्टं यद् द्रष्टव्यम् । तयावन्न कोऽपि मां प्रेक्षते तावदेव गमिष्यामि ।) [इति कतिचित्पदानि गच्छति ।]

काञ्चन०—अज्ज वसन्तअ एहि संपद तुमं वि सोत्थिवाअणं पडिच्छ । (आर्य वसन्तक एहि सांप्रतं त्वमपि स्वस्तिवायनं प्रतीच्छ ।) [विदूषक उपसर्पति ।]

वासव०—(विलेपनकुसुमाभरणदानपूर्वकम् ।)अज्ज सोत्थिवाअणं पडिच्छ । (आर्य स्वस्तिवायनं प्रतीच्छ ।) [इत्यर्पयति ।]

तनुः । प्रत्यक्षः = शरीरधारितया सर्वजनलोचनगोचरः । प्रतीच्छति = आदत्ते ।

अत्र 'कथं प्रत्यक्ष एव इत्यारभ्य पूजयिष्यामि' इत्यन्तेन सन्दर्भेण परिभावनाख्यं मुखसन्धेरङ्गमुक्तमूह्यम् । तदुक्तं दशरूपके—'अनेन वत्सराजस्यानङ्गरूपतयाऽपह्नवादनङ्गस्य च प्रत्यक्षस्य पूजाग्रहणस्य लोकोत्तरत्वादद्भुतरससमावेशः परिभावना' इति ।

अमोघदर्शनः—अयथावलोकनः मदिष्टार्थप्रद इति भावः ।

अत्र 'नमस्ते…प्रेक्षते तावदेव गमिष्यामि' इति सन्दर्भेणानन्तराह्नप्रकृतनिर्विघ्नदर्शनारम्भणात् करणं नाम मुखसन्धेरङ्गं दर्शितं वेदितव्यम् ॥

आर्य = श्रेष्ठ, विदूषकस्य ब्राह्मणतया तथा सम्बोधनम् , 'आर्येति ब्राह्मणं ब्रूयादि'ति भरतोक्तेः ।° स्वस्तिवायनम्—पुष्पफलमुपदारूपं दानम् ।

विस्मय से) क्या, यहां प्रत्यक्ष भगवान् कामदेव पूजा ग्रहण कर रहे हैं ? पिताजी के अन्तःपुरमें तो चित्र पर पूजा हुआ करती थी । अतः मैं भी यहीं रहकर इन फूलों से भगवान् कामदेव की पूजा करूंगा। (फूल गिराकर) भगवन् कुसुमायुध ! नमस्कार करती हूँ । आजका यह तुम्हारा दर्शन मेरे लिये व्यर्थ न हो। (प्रणाम करके) जो देखना था देख लिया, जब तक कोई देख नहीं लेता तब तक चली जाती हूँ (कुछ चलती है)

काञ्चनमाला—आर्य वसन्तक, आइए आप भी अपना स्वस्तिवायन ले लीजिये (विदूषक समीप जाता है)

वासवदत्ता—(हाथ में फूल माला और चन्दन लेकर) आर्य, स्वस्तिवायन लो । (देती है)

विदू०—(सहर्षं गृहीत्वा।) सोत्थि भोदीए। (स्वस्ति भवत्यै।)

(नेपथ्ये वैतालिकः पठति।)

अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा-
वास्थानीं समये समं नृपजनः सायंतने संपतन्।
संप्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पादांस्तवासेवितुं
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते ॥ २३ ॥

वैतालिकः—गीतोपजीवी राजसेवकः। विविधश्चासौ तालः वितालस्तेन चरतीति वैतालिकः।

अस्तापास्तेति। अस्ते अस्ताचले अपास्ताः क्षिप्ताः समस्ताः निखिला भासः किरणाः येन तस्मिन् चरमाचलप्रकीर्णाखिलदीधितौ इत्यर्थः, तादृशे रवौ सूर्ये नभसः आकाशस्य पारम् अन्तं प्रयाते गते आह्निकीं गतिं समाप्य लोकान्तरं भास-यितुं प्रस्थिते सायन्तने सन्ध्याकालिके समये वेलायाम् समं तुल्यकालम् आतिष्ठन्त्य-स्यामित्यास्थानी राजसभा ताम् सम्पतन् अहम्पूर्वमहम्पूर्वमितिभावेन समागच्छन् एषः पुरोदृश्यमानः नृपजनः राजलोकः उत् ऊर्ध्वमयनं गतिर्यस्य तादृशस्य सतता-भ्युदयशीलस्य उदयनस्य तदाख्यस्य तव राज्ञो वत्सराजस्य सरोरुहाणाम् कमला-नामा द्युतीः भासः मुष्णन्ति अपहरन्ति तान् कमलशोभातिशायिशोभाशालिनः दृ-शाम् नयनानाम् प्रीतेः प्रमोदस्य उत्कर्षम् अतिशयं कुर्वन्ति ये ते प्रीत्युत्कर्षकृतः नयनानन्दवर्धनान् पादान् सरोरुहद्युतिमुषः कमलशोभापहारिणः दृशां प्रीत्युत्कर्षकृतः नयनासेचकान् इन्दोः चन्द्रमसः पादान् किरणानिव आसेवितुम् उद्वीक्षतो उन्मुखः प्रतीक्षते यथा सन्ध्यासमये लोकाः समस्तदिनानुभूतसन्तापपरिजिहीर्षया नवोदयस्य चन्द्रमसः पादानासेवितुमूर्ध्वमुखाः प्रतीक्षन्ते तथा नित्यनवाभ्युदयभाजस्तव राज्ञः

विदूषक—(सहर्ष लेकर,) आपका कल्याण हो।

(नेपथ्य में वैतालिक पढ़ता है)

अपनी समस्त प्रभाको अस्ताचल की चोटी पर बिखरा कर सूर्य आकाश को पार कर गये, इसी सन्ध्या समय में एक साथ सभी राजागण कमल-कान्तिहारी तथा आंखों की प्रीति बढ़ाने वाले महाराज उदयनके चरणोंकी आराधनाकी प्रतीक्षामें सभाभवनमें पधार रहे हैं। जैसे कमलों को सङ्कुचित करने वाले तथा नयनोंको आनन्दित करने वाले चन्द्रमाकी किरणोंकी सेवामें तारागण आ रहे हों ॥ २३ ॥

सागरिका—(श्रुत्वा सहर्षं परिवृत्य राजानं सस्पृहं पश्यन्ती ।) कहं अअं सो राआ उदअणो जस्स अहं तादेण दिण्णा । ता परप्पेसणदूसिदं पि मे जीविदं एदस्स दंसणेण दाणिं बहुमतं संवुत्तम् । (कथमयं स राजा उदयनो यस्याहं तातेन दत्ता । (दीर्घं निःश्वस्य ।) तत्परप्रेषणदूषितमपि मे जीवितमेतस्य दर्शनेनेदानीं बहुमतं संवृत्तम् ।)

राजा—अये कथमुत्सवापहृतचेतोभिः संध्यातिक्रमोऽप्यस्माभिर्नोपलक्षितः । संप्रति परिणतमहः । देवि पश्य—

उदयनस्याश्रयमिमे सभायां समवेता राजानः प्रतीक्षन्त इति भावः । 'दृशां प्रीत्युत्कर्षकृतः' इति 'सरोरुहद्युतिमुषः' इति च विशेषणं राजपादेषु चन्द्रपादेषु च समानम् । सायन्तनशब्दे 'सायंचिर' मित्यादिना ट्युप्रत्ययस्तुडागमश्च । उपमात्रालङ्कारः । अत्र वैतालिकमुखेन चन्द्रोपमवत्सराजगुणवर्णनया सागरिकायाः समागमहेतुभूतानुरागबीजानुगुण्येनैव विलोभनाद्विलोभनं नाम मुखसन्धेरङ्गम्, तल्लक्षणं यथा—'गुणनिर्वर्णनञ्चैव विलोभनमिति स्मृतम्'। तथा कुसुमायुधव्यपदेशगूढस्य वत्सराजस्यात्रोदयनस्येति नामनिर्देशेनोद्भेदनादुद्भेद इति च मुखसन्धेरङ्गम्, 'बीजार्थस्य प्ररोहो यः स उद्भेद इति स्मृतिः' इति च तल्लक्षणे भरतः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥२३॥

कथमिति सम्भ्रमे, स चाकस्माद्राजदर्शनात्, इतः पूर्वं तु सागरिका राजानं कामत्वेनैव सम्भावयति स्म, सम्प्रति वैतालिकेन तस्यास्तन्द्राऽपाकृता, तत इत्थमुक्तिः । यस्येति षष्ठी सम्बन्धसामान्ये । निःश्वस्य = श्वासं नियम्य । तथाकरणम् खेदभूयस्त्वेन, तच्चात्मदशाविपर्यासकृतम् । परप्रेषणम् = परदास्यभावः । दूषितम् = अवमाननाकलंकितम् । बहुमतम् = अभीष्टम् । अत्र सागरिकायाः सुखागमात्प्राप्तिरूपं मुखसन्धेरङ्गमुक्तम् ॥

उत्सवापहृतचेतोभिः = तदेकाग्रचित्ततया किञ्चिदन्यदचेतयद्भिरित्यर्थः, सन्ध्या-

---

सागरिका—(सुनकर, सहर्ष मुड़कर, सस्पृह नयनों से राजाको देखती हुई) तो क्या ये वेही उदयन हैं जिनके लिये मैं पिताजी द्वारा दी गई । (लम्बी सांस लेकर) यद्यपि मैं इस समय दासी हूँ, दूसरे का हुक्म बजाते रहने से हमारा जीवन दूषित हो रहा है, फिर भी इनके दर्शन हो जानेसे मुझे उस जीवन का लोभ हो आया है ।

राजा—हम लोगों का हृदय उत्सवमें इस तरह लग गया कि हम लोगों को सन्ध्याके आनेका पता भी न चला । अब तो दिन समाप्त हो गया। देवि देखो तो—

उदयतटान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ्निशानाथम्।
परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी ॥ २४ ॥

देवि तदुत्तिष्ठ। आवासाभ्यन्तरमेव प्रविशावः। (सर्वे उत्थाय परि-क्रामन्ति।)

सागरिका—कधं पत्थिदा देवी। भोदु। ता अहंवि तुरिदं गमिस्सं। हद्धी हद्धी। मन्दभाइणीए मए पेक्खिदुमपि चिरं ण पारिदो अअं जणो। (कथं प्रस्थिता देवी। भवतु। तदहमपि त्वरितं गमिष्यामि। [राजानं सस्पृहं दृष्ट्वा। निःश्वस्य।] हा धिक् हा धिक्। मन्दभागिन्या मया प्रेक्षितुमपि चिरं न पारितोऽयं जनः।)

(इति राजानं पश्यन्ती निष्क्रान्ता।)

राजा—(परिक्रामन्।)

तिक्रमः = सायंकालातिपातः। परिणतम् = समाप्तम्, अहः = दिनम्।

उदयतटेति। इयं प्राची दिक् पूर्वा दिशा परिपाण्डुना आसन्नचन्द्रोदयप्रकाशधवलिम्ना मुखेन मध्यभागेन उदयतटान्तरितम् उदयाचलसन्निहितम् निशानाथम् चन्द्रमसम्, रमणी नायिका परिपाण्डुना विरहजनितपाण्डुभावेन मुखेन हृदयस्थितम् मनसि सन्तम् (न तु बहिः, तस्य दूरगतत्वात्) प्रियम् इव सूचयति ज्ञापयति। यथा कस्याश्चन पाण्डुमुख्या वनिताया विलोकनेन धृतोऽनया मनसि कोऽपि प्रिय इति प्रतियन्ति जनास्तद्वदासन्नचन्द्रोदयवशात्सञ्जातधवलिमा प्राचीमुखं प्रेक्ष्य नातिविलम्बभाविनं चन्द्रोदयमाशंसेऽहमिति राजाभिप्रायः। उपमालंकारः। आर्या वृत्तम् ॥ २४ ॥

यह प्राची दिशा उदयाचलकी कन्दरा में वर्तमान चन्द्रमा की सूचना अपने पाण्डुवर्ण मध्यभागके द्वारा दे रही है जैसे कोई रमणी अपने पीले मुखमण्डलसे हृदयस्थित प्रियतम की सूचना देती है ॥ २४ ॥

देवि उठो हम आवासकी ओर चलें (सभी उठकर चल देते हैं)

सागरिका—क्यों, देवी चल पड़ीं अच्छा तब मैं भी शीघ्र जाऊँगी। (राजाको सस्पृह नयनों से देखकर, निःश्वास छोड़कर) हाय, मैं अभागिनी इनको कुछ देर तक देख भी न सकी।

(राजाको देखती हुई जाती है)

राजा—(चलते-चलते)

देवि त्वन्मुखपङ्कजेन शशिनः शोभातिरस्कारिणः
पश्याब्जानि विनिर्जितानि सहसा गच्छन्ति विच्छायताम्।
श्रुत्वा त्वत्परिवारवारवनितागीतानि भृङ्गाङ्गना
लीयन्ते मुकुलान्तरेषु शनकैः सञ्जातलज्जा इव ॥ २५ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

देवीति। देवि, इदं राजमहिषीसम्बोधनम्। शशिनः चन्द्रमसः शोभां श्रियं तिरस्करोति प्रत्यादिशति तादृशेन चन्द्राधिककान्तिनेत्यर्थः, तव मुखमेव पङ्कजं कमलं तेन त्वन्मुखपङ्कजेन त्वदाननारविन्देन विनिर्जितानि पराजितानि अब्जानि जलजानि सहसा एकपद एव विच्छायताम् गतश्रीकताम् गच्छन्ति (तत्) पश्य। चन्द्रपराभविभासा त्वदीयेन मुखकमलेन जलजानि निःश्रीकाणि कृतानि, तानि म्लायन्ति, विलोकय त्वमिदमिति भावः। किञ्च तव परिवाराः परिजनाः सखीदास्यादिमुखाः, वारवनिताः उत्सवे नृत्यगीतादि सम्पादयितुमाकारिता वेश्याश्च तासां गीतानि श्रुत्वा सञ्जातलज्जाः आत्मगीतस्य तद्गीतापेक्षया हीनतया ज्ञानात् समुत्पन्नत्रपा इव भृङ्गाङ्गनाः भ्रमर्यः शनकैः शनैः शनैः मुकुलानाम् कमलकुड्मलानामन्तरेषु गर्भेषु लीयन्ते गूढा भवन्ति। अन्योऽपि सञ्जातलज्जः क्वचिल्लीयते। अत्र प्रतीपहेत्वलङ्कारोत्प्रेक्षाणामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २५ ॥

निष्क्रान्ताः = बहिर्गताः मञ्चदेशादिति शेषः। तथाविधानञ्चाङ्कान्तेऽपेक्षितम्। तदुक्तं दशरूपके—

'एकाहाचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम्।
पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्कं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः ॥'

भरतोऽपि—

'रङ्गं तु ये प्रविष्टाः सर्वेषां भवति तत्र निष्कामः।
बीजार्थयुक्तमुक्तं कृत्वा कार्यं यथार्थरसम्' ॥ इति।

देवि, चन्द्रमाकी शोभाको मात करने वाले तुम्हारे मुखरूप कमलने इन अब्जों (पानीवाले कमलों) को जीत लिया है इसीसे इनमें सहसा म्लानता आती जा रही है। तुम्हारे इन परिजनों तथा गणिकाओंकी गीतके सुननेसे भृङ्गाङ्गनायें फूलोंकी कलियोंमें छिपती जा रही हैं मानो उन्हें अपनी तुच्छता पर लज्जा आ रही

इति मदनमहोत्सवो नाम प्रथमोऽङ्कः ।

अङ्कलक्षणं भरते--

'अङ्क इति रूढिशब्दो भावैश्च रसैश्च रोहयत्यर्थान् ।
नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्मात् भवत्यङ्कः ॥
यत्रार्थस्य समाप्तिर्यत्र च बीजस्य भवति संहारः
किञ्चिदवलग्नबिन्दुः सोऽङ्क इति सदाऽवगन्तव्यः ॥
ये नायका निगदितास्तेषां प्रत्यक्षचरितसंयोगः ।
नानावस्थान्तरितः कार्यस्त्वङ्को विकृष्टस्तु' ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रप्रणीते रत्नावलीप्रकाशे
प्रथमाङ्कप्रकाशः ।

प्रथम अङ्क समाप्त ॥

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति सारिकापञ्जरव्यग्रहस्ता सुसंगता ।)

सुसंगता—हद्धी हद्धी । कहिं दाणिं मम हत्थे सारिआपञ्जरं णिक्खिविअ गदा मे पिअसही साअरिआ । ता कहिं पुण एणं पेक्खिस्सम् । कह एसा खु णिउणिआ इदो ज्जेव आअच्छदि । ता जाव एदं पुच्छिस्सम् । (हा धिक् हा धिक् । कुत्रेदानीं मम हस्ते सारिकापञ्जरं निक्षिप्य गता मे प्रियसखी सागरिका । तत्क पुनरेनां प्रेक्षिष्ये । [अग्रतोऽवलोक्य ।] कथमेषा खलु निपुणिकेत एवागच्छति । तद्यावदेनां प्रक्ष्यामि ।)

(ततः प्रविशति निपुणिका ।)

निपुणिका—(सविस्मयम् ।) अच्चरिअं अच्चरिअं । अणण्णसदिसो पभावो मण्णे देवदाए । उवलद्धो खु मए भट्टिणो वुत्तन्तो । ता गदुअ भट्टिणीए णिवेदइस्सम् । (आश्चर्यमाश्चर्यम् । अनन्यसदृशः प्रभावो मन्ये देवतायाः । उपलब्धः खलु मया भर्तुर्वृत्तान्तः । तद्गत्वा भट्टिन्यै निवेदयिष्यामि ।) [इति परिक्रामति ।]

प्रथमाङ्के सागरिकाया वत्सराजदर्शनेन प्ररूढस्य रतिरूपस्य स्थायिभावस्य तदुपयुक्तविभावानुभावादिभिः परिपोषं दर्शयितुकामः कविर्द्वितीयाङ्कस्यादौ सागरिकायाः प्रवेशं सूचयितुं प्रवेशकमारभते—तत इत्यादिना । सारिकापञ्जरव्यग्रहस्ता = सारिकायाः पञ्जरं करेण दधती ।

एनाम् = निपुणिकाम् । प्रक्ष्यामि = जिज्ञासिष्ये, सागरिकाप्रवृत्तिमिति शेषः ।

अनन्यसदृशः = अतुलनीयः । देवतायाः प्रभावोऽन्यासदृशो भवतीति मन्ये इत्यन्वयः, मन्ये इत्यस्य भवत्यन्तवाक्यार्थः कर्म । उपलब्धः = ज्ञातः । वृत्तान्तः = समाचारः ।

[सारिकाका पिंजड़ा हाथमें लिये सुसंगताका प्रवेश]

सुसंगता—हाय, मेरी सखी सागरिका सारिकाका पिंजड़ा मेरे हाथमें थम्हाकर कहाँ चली गई ? वह मुझे कहाँ मिलेगी ? (आगे देखकर) क्या निपुणिका इधरही आ रही है ? तब इसे ही पूछूंगी ।

(निपुणिकाका प्रवेश)

निपुणिका—(विस्मय से) आश्चर्य है, आश्चर्य है, देवता का प्रभाव असाधारण होता है ! मैंने महाराजकी खबर पा ली, अब जाकर, महारानीसे कहूँ ! (आती है)

सुसं०—(उपसृत्य ।) सहि णिउणिए कहिं दाणिं तुमं विम्हओ[illegible] त्तहिअआ विअ इह ठिदं मं अवधीरिअ इदो अदिक्कामसि । (सखि णिके क्वेदानीं त्वं विस्मयोत्क्षिप्तहृदयेव इह स्थितां मामवधीर्येतोऽतिक्रामसि।)

निपु०—कधं सुसंगदा । हला सुसंगदे सुट्ठु तुए जाणिदं । एदं [illegible] मम विम्हअस्स कारणम् । अज्ज किल भट्टा सिरिपव्वतादो आअ[illegible] सिरिखण्डदासणामधेअस्स धम्मिअस्स सआसादो अकालकुसुमसंज[illegible] दोहलअं सिक्खिअ अत्तणो पडिगिहीदं णोमालिअं कुसुमसमिद्धिसो[illegible] करिस्सदित्ति तहिं एदं वुत्तान्तं जाणिदुं देवीए पेसिदम्हि । तुमं उण पत्थिदा । (कथं सुसंगता । हला सुसंगते सुष्ठु त्वया ज्ञातम् । एतत्खलु विस्मयस्य कारणम् । अद्य किल भर्ता श्रीपर्वतादागतस्य श्रीखण्डदासनामधे धार्मिकस्य सकाशादकालकुसुमसंजननदोहदं शिक्षित्वात्मनः परिगृहीतां नवमा[illegible]

विस्मयोत्क्षिप्तहृदया = आश्चर्यतरङ्गितहृदया । इह = मध्येमार्गं स्थिता[illegible] वर्त्तमानाम् , एतेन दर्शनयोग्यता समर्थिता । अवधीर्य = तिरस्कृत्य, भाषणा[illegible] प्रणयव्यवहारेणासम्भाव्येत्यर्थः । प्रणयिजनेन कृतस्तथाविधो व्यवहारोऽपमान प्रतीयत इति मनोविज्ञानाऽऽधारेयमुक्तिः । अतिक्रामसि = पुरस्सरसि ।

कथमिति सम्भ्रमे, स चाकस्माद्दर्शनात् । ज्ञातम् = अवगतम् , मदीयं विस्[illegible] त्क्षिप्तहृदयत्वं यत्त्वया तर्कितं तदवितथमिति भावः । भर्ता = राजा । श्रीपर्वता[illegible] तदाख्यया प्रसिद्धात् पुण्यपर्वतात् । धार्मिकस्य = धर्माचरणपरायणस्य । [illegible] शात् = समीपतः । अकाले = उचितकालातिरिक्ते समये, तदन्यत्वं नवो[illegible] कुसुमसंजननदोहदम् = पुष्पप्रकटनसाधनक्रियाविशेषम् । शिक्षित्वा = विज्ञाय । [illegible] क्रिययाऽसमये पुष्पं प्रकाशयन्ति तरवस्तामधिगत्येत्याशयः । दोहं ददातीति दो[illegible] 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कः । स च पुष्पोत्पत्तिसाधनभेदः । तथा चोक्तं शब्दा[illegible] तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम् । पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदः [illegible]

सुसंगता—(समीप जाकर) सखि निपुणिके, विस्मयपूर्ण हृदयसे तुम [illegible] जा रही हो जो यहाँ वर्त्तमान रहने पर भी मुझे नहीं टोकती हो।

निपुणिका—क्या सुसंगता है, सखी सुसंगता, तुमने ठीक समझ लिया, विस्मयका यही कारण है कि आज महाराज श्रीपर्वतनिवासी श्रीखण्डदास[illegible] [illegible]

कुसुमसमृद्धिशोभितां करिष्यतीति तत्रैतं वृत्तान्तं ज्ञातुं देव्या प्रेषितास्मि। त्वं पुनः कुत्र प्रस्थिता।

सुसंगता—पिअसहिं साअरिअं अण्णेसिदुम। (प्रियसखीं सागरिका-मन्वेष्टुम्।)

निपुणिका—सहि दिट्ठा मए दे पिअसही साअरिआ गहिदचित्त-फलकवत्तिआसमुग्गआ समुव्विग्गा विअ कदलीघरअं पविसन्ती। ता गच्छ तुमं। अहं पि देवीए सआसं गमिस्सम्। (सखि दृष्टा मया ते प्रिय-सखी सागरिका गृहीतचित्रफलकवर्तिकासमुद्गका समुद्विग्नेव कदलीगृहं प्रविशन्ती। तद्गच्छ त्वम्। अहमपि देव्याः सकाशं गमिष्यामि।)

(निष्क्रान्ते।)

इति प्रवेशकः

तत्क्रिया'। आत्मनः परिगृहीताम् = विशिष्य स्वीयतयाऽङ्गीकृताम्। एतेन ममताऽतिशयावेदनेन तद्दोहदार्थं धार्मिकसकाशतः शिक्षाग्रहणस्योपपादनं कृतम्। कुसुम-समृद्धिशोभिताम् = पुष्पविपुलताऽलङ्कृताम्।

चित्रफलकः = आलेख्यपट्टः, वर्तिका = तूलिका, समुद्गकः = पेटिका, गृहीत-चित्रफलकवर्त्तिकासमुद्गका=करे कृतालेख्यपट्टतूलिकापेटिका। चित्रलेखनसाधनानि हस्ते बिभ्रतीत्यर्थः। समुद्विग्ना = खिन्ना। गच्छ—कदलीगृहम् इति शेषः, तत्रैव त्वयाऽन्विष्यमाणायास्त्वत्प्रियसख्या उपलब्धेः सम्भवात्तत्र त्वया गन्तव्यमित्यर्थः।

निष्क्रान्ते = निर्गते, स्त्रीलिङ्गद्विवचनम्, सुसङ्गतानिपुणिके यथाकार्यं प्रस्थिते इत्यर्थः।

प्रवेशकः, रूपकनिर्माणेऽपेक्ष्यमाणः क्रमविशेषबद्धवाक्यसमुदयः, तत्फलं च

समृद्ध बना देंगे इसीका पता लगानेके लिये देवीने मुझे वहां भेजा था। तुम किधर चली हो?

सुसंगता—प्रियसखी सागरिका को खोजने।

निपुणिका—सखि, मैंने तुम्हारी सखी सागरिकाको चित्रकारीके लायक पट्टिका और कूंची लेकर उद्विग्न दशामें कदलीगृहमें प्रवेश करते देखा है। तुम वहीं जाओ मैं भी देवीके समीप जाऊँगी।

(दोनोंका प्रस्थान)

प्रवेशक

(ततः प्रविशति गृहीतचित्रफलकवर्तिका मदनावस्थां नाटयन्ती सागरिका।)

सागरिका—(निःश्वस्य ।) हिअअ पसीद पसीद । किं इमिणा आअ समेत्तफलेण दुल्लहजणप्पत्थणाणुबन्धेण । अण्णं च । जेण एव्व दिट्ठेण ईदिसो संतावो णं वड्ढदि तं एव्व पुणो वि पेक्खिदुं अहिलससित्ति अ दे मूढदा । कहं अ अदिसिसंस जम्मदो पहुदि सहसंवड्ढिदं इमं जणं प इअ खणमेत्तदंसणपरिचिदं जणं अणुगच्छन्तो ण लज्जसि । अह वा तुह दोसो । अणङ्गसरपडणभीदेण तुए एव्वं अज्ज व्ववसिदम् । भोदु अणङ्ग दाव उवालहिस्सं । भअवं कुसुमाउह णिज्जिअसअलसुरा भविअ इत्थिआजणं पहरन्तो कधं ण लज्जसि । अह वा अणङ्गो सव्वहा मम मन्दभाइणीए मरणं एव्व इमिणा दुण्णिमित्तेण उवत्थिदं ता जाव ण को वि इह आअच्छदि ताव आलेक्खसमप्पिदं तं अ सदं जणं पेक्खिअ जहासमीहिदं करिस्सम् । जइ वि मे अदिसद्धसं वेवदि अअं अतिमेत्तं अग्गहत्थो तहा वि णत्थि तस्स जणस्स अण्ण दंसणाताओ त्ति जहा तहा आलिहिअ णं पेक्खिस्सम् । (हृदय प्रसी प्रसीद । किमनेनायासमात्रफलेन दुर्लभजनप्रार्थनानुबन्धेन । अन्यच्च ये

कथायोजनम्, तल्लक्षणं साहित्यदर्पणे यथा—

'प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा' ।

मदनावस्थाम्—कामयमानस्थितिम् । नाटयन्ती = अङ्गभङ्गया प्रकाशयन्ती । निःश्वस्य = उच्चैः श्वासं गृहीत्वा, तथाकरणं चान्तःसन्तापव्यञ्जकम् । आयासमात्रफलेन=आयास एव आयासमात्रम् (मयूरव्यंसकादित्वात्समास तत्फलं यस्य स आयासमात्रफलस्तेन केवलक्लेशजनकेन । दुर्लभजनप्रार्थनाऽनुबन्धे न=दुर्लभश्चासौ जनश्च दुर्लभजनः वत्सराजरूपः तस्य प्रार्थना तत्प्राप्त्यभिलाषः, तस्

(इसके बाद चित्रकारीकी सामग्री लिये सकामावस्थामें सागरिकाका प्रवेश)

सागरिका—(निःश्वास लेकर) मेरे मन, मान जा मान जा, इस दुर्लभजन प्रार्थनामें तो केवल श्रमही तुम्हारे हाथ रहेगा । और जिन्हें देखनेसे तुम्हारा सन्ताप इतना बढ़ जाता है, उन्हें ही फिर देखना चाहते हो कैसी यह मूर्खता है ? ओ मन, जन्मसङ्गी इस जनको छोड़कर क्षणमात्र परिचित उस आदमीका अनुगम

दृष्टेन त ईदृशः संतापो ननु वर्धते तमेव पुनरपि प्रेक्षितुमभिलषसीत्यहो ते मूढता। कथं चातिनृशंस जन्मतः प्रभृति सह संवर्धितमिमं जनं परित्यज्य क्षणमात्रदर्शनपरिचितं जनमनुगच्छन्न लज्जसे। अथवा कस्तव दोषः अनङ्गशरपतनभीतेन वयैवमद्य व्यवसितम्। (सास्रम्।) भवतु। अनङ्गं तावदुपालप्स्ये। (अञ्जलिं बद्ध्वा।) भगवन्कुसुमायुध निर्जितसकलसुरासुरो भूत्वा स्त्रीजनं प्रहरन्कथं न

अनुबन्धः सततानुवृत्तिस्तेन, असुलभवत्सराजप्राप्तिविषयाभिलाषपोषणेनेत्यर्थः। किमप्यनेन फलं नास्तीति वृथा तवायास इति भावः। अत्र 'हृदय प्रसीद' इत्यारभ्य प्रतिमुखसन्धिः तथा चोक्तं दशरूपके—'अत्र वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुरागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसङ्गताविदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किञ्चिल्लक्ष्यस्य वासवदत्तया च चित्रफलकवृत्तान्तेन किञ्चिदुन्नीयमानस्य दृश्यादृश्यरूपतयोद्भेदः' इति। येनैव दृष्टेन—यदीयेन दर्शनेन। ईदृशः = एवंविधः दुरुपशम इत्यर्थः। मूढता = अविवेकः, स्वसन्तापकारकराजविषयकाभिलाषत्यागोऽत्र हृदयस्याविवेकः। अतिनृशंस = अतिशयक्रूर. 'नृशंसो घातकः क्रूरः' इत्यमरः। सह संवर्धितम् = सहोषितम्, अनवरतसहभावेन स्नेहोदयस्यौचित्यमभिमत्येत्थमुक्तम्। इयम् = मल्लक्षणम्। क्षणमात्रदर्शनपरिचितम् = क्षणमात्रं किञ्चित्कालपर्यन्तं यद्दर्शनं विलोकनं तेन परिचितम्। अनुगच्छन् = अनुधावन्। न चिरपरिचितमात्रं किन्त्वाजन्मनः सहोषितं मल्लक्षणं जनं परित्यज्य क्षणमात्रविलोकनपरिचितं राजानमनुसरतः सागरिकाहृदयस्य क्रूरभावः स्फुट इति तदाशयः। एवं हृदयस्य क्रूरतामुपपाद्य प्रकारान्तरेण तन्निन्दति अथवेति। अनङ्गशरपतनभीतेन = कामबाणप्रहारसञ्जातभयेन, त्वया = मम हृदयेन। एवम् = इत्थम्, आजन्म परिचितं जनं परित्यज्य क्षणमात्रपरिचितानुवृत्तिरूपम्। व्यवसितम् = आचरितम्। मदीये वपुषि कन्दर्पशरप्रहारं सम्भाव्यान्यत्र गतमसीति तवाचरणं नातिनिन्दनीयम्, सर्वस्यापि साधारणतया प्राचीने चिरानुवृत्तेऽप्याश्रये भयसंभवे सत्याश्रयान्तरावलम्बनस्य प्रवृत्तत्वेक्षणादिति तात्पर्यम्। सास्रम् = अश्रुसहितम्, रुदतीत्यर्थः। उपालप्स्ये = निन्दिष्यामि। भगवन् = भगः सामर्थ्यम्, सोऽस्यास्ति, तत्सम्बुद्धौ भगवन्। निर्जितसकलसुरासुरः = विजिताखिलदेवदानवः एतेन समर्थस्य पराक्रमिणश्च कन्दर्पस्य मादृशेऽ-

---

ते तुझे लाज नहीं लगती है? अथवा, तुम्हारा क्या दोष, कन्दर्पके बाणोंसे डर अब तू ऐसा कर रहा है। अच्छा, कन्दर्पको ही उलाहना दूंगी।

(हाथ जोड़कर) भगवन् कामदेव, तुमने जब सभी देवदानवोंको जीत लिया

लज्जसे। (विचिन्त्य।) अथवा अनङ्गोऽसि। (दीर्घं निःश्वस्य।) सर्वथा मन्दभागिन्या मरणमेवानेन दुर्निमित्तेनोपस्थितम्। (फलकमवलोक्य।) तद् कोऽपीहागच्छति तावदालेख्यसमर्पितं तमभिमतं जनं प्रेक्ष्य यथासमीहितं ष्यामि। (सावष्टम्भमेकमना भूत्वा नाट्येन फलकं गृहीत्वा निःश्वस्य।) मेऽतिसाध्वसेन वेपतेऽयमतिमात्रमग्रहस्तस्तथापि नास्ति तस्य जनस्यान्यो दर्शने इति यथातथालिख्यैनं प्रेक्षिष्ये।) [इति नाट्येन लिखति।]

(ततः प्रविशति सुसङ्गता।)

सुसं०—एदं तं कदलीघरअम्। ता पविसामि। एसा मे पिअ साअरिआ। किं उण एसा गुरुआणुराओक्खित्तहिअआ विअ

बलाजने पीडकताया अनौचित्यं व्यञ्जितम्। अनङ्गः = कायरहितः कायसम सद्भाव एवान्तःकरणादिसामग्रीसत्त्वे लज्जासम्भवः, स एव तव नास्तीति तव सलज्जतायास्तदुपकल्पितायाः स्त्रीजने दयाया वेति भावः। मन्दभागिन्या दुर्भाग्यायाः। दुर्निमितेन = दुःसंयोगेन। आलेख्यसमर्पितम्=चित्राङ्कितम्। मतम्=प्रियम् सावष्टम्भम् = दुःखविक्षिप्तं हृदयं बलान्निगृह्येत्यर्थः। एकमना प्रणिहितचित्ता। अतिसाध्वसेन=महत्या लज्जयाऽतिशयितेन भयेन वेत्यर्थः, वे कम्पते। अतिमात्रम् = अत्यर्थम्। अग्रहस्तः = हस्ताग्रभागः। अग्रश्चासौ ह अग्रहस्त इति समानाधिकरणसमासः। अवयवावयविनोरभेदात्सामानाधिकरण

तब इस अबला पर प्रहार करते तुझे लज्जा नहीं आती है? (सोचकर) अथ तुमतो अनङ्ग ही ठहरे। (दीर्घ श्वास लेकर) मुझ अभागीके मरणका कारण उपस्थित हुआ है। (चित्रफलकको देखकर) जबतक कोई यहाँ आ जाता, तब तक अपने प्रियका चित्र आंककर अपना मनोरथ पूर्ण कर (दृढतासे एकाग्र मन होकर अभिनयपूर्वक फलक लेकर निःश्वासके साथ) भयसे मेरे हाथकी अंगुलियाँ कांप रही हैं फिर उन्हें देखनेका कोई दूसरा नहीं है अतः जैसे तैसे चित्र उतार कर ही देखूंगी। (नाट्यपूर्वक चित्र बनाती

(सुसंगता का प्रवेश)

सुसंगता—यही तो कदलीगृह है। प्रवेश करती हूँ। (प्रवेश करके देखकर, आश्चर्यसे) यही तो है मेरी प्यारी सखी–सागरिका। क्या यह प्रेमम होकर कुछ चित्रित करती हुई मुझे नहीं देखती?, अच्छा, तो इसकी आंख बचा देखूंगी कि यह क्या चित्रित कर रही है। (उसकी पीठकी ओर खड़ी होकर

आलिहन्ती ण मं पेक्खदि। भोदु। ता जाव से दिट्ठिपहं परिहरिअ णिरूवइस्सं किं एसा आलिहदित्ति। कहं भट्टा आलिहिदो। साहु साअरिए साहु। अह वा ण कमलाअरं वज्जिअ राअहंसी अण्णहिं अहिरमदि। (एतत्तत्कदलीगृहम्। तत्प्रविशामि। [प्रविश्याग्रतो विलोक्य सविस्मयम्।] एषा मे प्रियसखी सागरिका। किं पुनरेषा गुरुकानुरागोत्क्षिप्तहृदयेव किमप्यालिखन्ती न मां प्रेक्षते। भवतु। तद्यावदस्या दृष्टिपथं परिहृत्य निरूपयिष्यामि किमेषाऽऽलिखतीति। [स्वैरं पृष्ठतोऽस्याः स्थित्वा दृष्ट्वा सहर्षम्।] कथं भर्ता लिखितः। साधु सागरिके साधु। अथवा न कमलाकरं वर्जयित्वा राजहंस्यन्यत्राभिरमते।)

साग०—आलिहिदो खु मए एसो। किं उण अणवरदणिवणन्तबाप्फसलिलेण ण मे दिट्ठी पेक्खिदुं पभवदि। कहं पिअसही सुसंगदा। सहि इदो उवविश। (आलिखितः खलु मयैषः। किं पुनरनवरतनिपतद्बाष्पसलिलेन

तदुक्तं वामनेन—'हस्ताग्रग्रहस्तयोर्गुणगुणिनोर्भेदाभेदात्' इति। यथा तथा = यथाकथञ्चित्। भर्ता = उदयनः।

सविस्मयम् = साश्चर्यम्, तच्चात्र सागरिकादशाविपर्यासदर्शनजन्यम्। गुरुकानुरागोत्क्षिप्तहृदया = अत्यारूढप्रेमवशीकृतचित्ता। आलिखन्ती = चित्रयन्ती। दृष्टिपथं परिहृत्य = तद्दर्शनपथादात्मानं वञ्चयित्वा, तदलक्षितेत्यर्थः। निरूपयिष्यामि = द्रक्ष्यामि, दृष्ट्वा निश्चेष्यामीति वा। सहर्षम् = सानन्दम्, स चात्र सागरिकायाः स्वानुरूपे पुंस्यनुरागोदयस्य दर्शनाद् बोध्यः। भर्ता = उदयनः, कमलाकरम् = कमलवनम्, वर्जयित्वा = परित्यज्य। यथा राजहंसी स्वभावपरतन्त्रा कमलवन एव रमते तथैव महागुणाया महावंशप्रभवायाश्चास्याः स्वानुरूपे वत्सराज एवानुरागः सम्भवति नान्यत्रेति वृथा साधुवाद इत्यथवाकोट्युदयः।

आलिखितः = चित्रितः। एषः = उदयनः। अनवरतनिपतद्बाष्पसलिलेन = सततप्रवृत्ताश्रुजलेन। प्रेक्षितुं प्रभवति = अश्रुव्याप्ततया दर्शनप्रतिबन्धादिति भावः। (एतावत्पर्यन्तं सागरिका पृष्ठदेशे निभृतं स्थितां स्वसखीं सुसङ्गतां नावैति, तेन च

देखकर, हर्षसे) क्या महाराज का चित्र बना रही है, धन्य सागरिका, धन्य। अथवा कमलाकरको छोड़कर दूसरी जगह राजहंसी क्या अनुराग करेगी?

सागरिका—चित्र तो मैंने बना लिया, किन्तु रहरहकर मेरी आंखें भर आती हैं, देखूं किस तरह? [मुँह उठाकर आँसू रोकती हुई सुसंगताको देखकर

न मे दृष्टिः प्रेक्षितुं प्रभवति [मुन्नमुत्तानीकृत्याश्रूणि निवारयन्ती सुसंगतीं दृष्ट्वा ... रीयेण फलकं प्रच्छादयन्ती सविलक्षस्मितम् ।] कथं प्रियसखी सुसंगता । ... इत उपविश ।)

सुसं०—(उपविश्य बलात्फलकमाकृष्य ।) सहि क्को एसो तुए ... आलिहिदो । (सखि क एष त्वयाऽत्रालिखितः ।)

साग०—(सलज्जम् ।) सहि पउत्तमअणमहूसवे भअवं अणङ्गो । (सखि प्रवृत्तमदनमहोत्सवे भगवाननङ्गः ।)

सुस०—(सस्मितम् ।) अहो दे णिउणत्तणं । किं पुण सुण्णं ... एदं चित्तं पडिभादि । ता अहं पि आलिहिअ रतिसणाहं करिस्सं ... (अहो ते निपुणत्वम् । किं पुनः शून्यमिवैतच्चित्रं प्रतिभाति । तदहमप्यालि...

हृदयगतं प्रकटं मन्त्रयति, तत एवमुक्तम्) उत्तानीकृत्य = ऊर्ध्वं कृत्वा; तथा... चाश्रुनिवारणार्थमन्यथाऽवनतमुख्यास्तस्या नयनाभ्यां निपतन्नश्रुप्रवाहात्प्रेयसि... पयसाऽऽविलयेत्तच्चात्यनिष्टं स्यादिति भावः । प्रच्छादयन्ती = आवृण्वती, सविल... स्मितम् = सलज्जाहासम् , लज्जा स्वरहस्योद्घाटनसम्भवेन, हासश्च प्रियस... सङ्गमप्रभवेण प्रमोदेन ।

बलात् = निवारयन्तीमपि सागरिकां पराभूय ।

प्रवृत्तमदनमहोत्सवे = वर्तमाने मदनपूजोत्सवे । अनङ्गः = कामदेवः, आ... खित इति योजनीयम् ।

सस्मितम् = ईषद्धासपूर्वकं, तच्चात्र सागरिकाकृतापलापेऽप्रत्ययं द्योतयति ।

अहो इत्याश्चर्ये । निपुणत्वम् = चातुर्यम् , यदनङ्गमपि चित्रितवत्यसि, अ... स्फुटप्रतीतमप्यर्थमर्थान्तरतया समर्थयसीत्युपहासः, स च सख्या कृतत्वेन मर्मस्पृ... शून्यमिव = अपूर्णतया रिक्तमिव । प्रतिभाति = प्रतीयते । आलिख्य = चित्रान्त...

चादरसे चितफलकको ढांकती हुई लज्जित मुस्कानके साथ क्या सखी सुसं... है, अरी आ इधर बैठ ।

सुसंगता—(बैठकर बलपूर्वक चित्रफलक खींचकर) सखि, तूने यह किस... चित्र लिखा है ?

सागरिका—(जरा लजाकर) इस मदनमहोत्सवमें भगवान् कन्दर्पका ।

सुसंगता—(मुस्कुराकर) धन्य है तुम्हारी निपुणता । किन्तु यह चित्र सू...

रतिसनाथं करिष्यामि ।) [वर्तिकां गृहीत्वा नाटयेन रतिव्यपदेशेन सागरिकां लिखति ।]

साग०—(विलोक्य सासूयम् ।) सुसंगदे कीस तुए अहं एत्थ आलिहिदा । (सुसंगते कस्मात्त्वयाहमत्रालिखिता ।)

सुसं०—(विहस्य ।) सहि किं अआरणं कुप्पसि । जादिसो तुए कामदेवो आलिहिदो तादिसी मए रइ आलिहिदा । ता अण्णधासंभाविणि किं तुह एदिणा आलविदेण । कहेहिं दाव सव्वं वुत्तन्तम् । (सखि किमकारणं कुप्यसि । यादृशस्त्वया कामदेव आलिखितस्तादृशी मया रतिरालिखिता । तदन्यथासंभाविनि किं तवैतेनालपितेन । कथय तावत्सर्वं वृत्तान्तम् ।)

मङ्कयित्वा, रतिसनाथम् = सम्मिलितरतिकम् , कामदेवचित्रस्य रतिचित्रं विनाऽपूर्णतया तच्चित्रनिर्माणेन त्वयाऽऽरब्धं कार्यं पूरयित्वा सखीकार्यं करिष्यामीति भावः । रतिव्यपदेशेन = रतिच्छलेन, रतिचित्रनिर्माणव्याजेनेत्यर्थः ।

कस्मात् = कुतो हेतोः, कामचित्रपार्श्वे मच्चित्रस्यालेखे कारणस्य त्वयैवोपपाद्यत्वमित्यर्थः ।

अकारणम्=हेतुं विना । कोपकारणस्यापराधस्यानुपलब्धेरित्थमुक्तम् । यादृश इति=यथा त्वया राजानं चित्रयित्वापि कामदेवश्चित्रित इति व्याहृत्य सत्यमपलपितं तथा मयाऽपि त्वां चित्रयित्वा रतिश्चित्रितेत्युक्त्वा वस्तुभावो निह्नुतस्तदलं तव कोपेन, 'यश्चोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि तादृशः । नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे' इति न्यायादिति प्रघट्टकार्थः । अन्यथासम्भाविनि=अन्यथा वास्तवादन्येन प्रकारेण संभावयति उत्प्रेक्षते तच्छीले सत्यापलापपरे । किन्तवैतेनालपितेन कामदेवचित्रमिदमिति तदुक्तेः किमपि फलं नास्ति यथार्थवस्तुनस्तव सख्या मयोहितत्वादित्याशयः ।

—ता लग रहा है । मैं इसे रतियुक्त करूँगी । (कूची लेकर रतिके बहाने सागरिका का चित्र बनाती है)

सागरिका—(देखकर, रंजसे) सुसंगते, तुमने यहां हमारा चित्र क्यों बनाया?

सुसंगता—(हँसकर) व्यर्थ क्यों रंज होती हो ? जैसे तुमने कामदेव चित्रित किया उसी तरह मैंने रति लिख दी । तुम उलटा मतलब लगाकर मुझ पर बिगड़ती हो इससे क्या लाभ । सच्ची बात बताओ ।

सागo—(सलज्जा स्वगतम्।) णं जाणिदम्हि पिअसहीए। पिअ
महदी क्खु मे लज्जा। ता तहा करेसु जहा ण को वि अवरो एदं वुत्
जाणेदि। (ननु ज्ञातास्मि प्रियसख्या। [सुसंगतां हस्ते गृहीत्वा प्रकाशम्।]
सखि महती खलु मे लज्जा। तत्तथा कुरु यथा न कोऽप्यपर एतं वृत्तान्तं जानाति

सुसंo—सहि मा लज्ज। ईदिसस्स कण्णारअणस्स अवस्सं
ईदिसे वरे अहिलासेण होदव्वम्। तहवि जहा ण कोवि अवरो एदं वुत्
जाणिस्सदि तह करेमि। एदाए उण मेधाविणीए सारिआए एत्थ कारणे
होदव्वम्। कदा वि एसा इमस्स आलावस्स गहिदक्खरा भविअ
वि पुरओ मन्तइस्सदि। (सखि मा लज्जस्व। ईदृशस्य कन्यारत्नस्यावश्यं
दृशे वरे अभिलाषेण भवितव्यम्। तथापि यथा न कोऽप्यपर एतं वृत्तान्तं ज्ञास्
तथा करोमि। एतया पुनर्मेधाविन्या सारिकयात्र कारणेन भवितव्यम्। कदा

ज्ञातास्मि = अवगतमनोभावसंवृत्तास्मि। हस्ते = हस्तावच्छेदेन, सुसंगतां
हस्तमालम्ब्येत्यर्थः। अपरः = त्वद्भिन्नः। एतं वृत्तान्तम् = मम हृदये राजवि
कोऽनुरागो विद्यते इति प्रवृत्तिम्।

ईदृशस्य = त्वादृशस्येत्यर्थः। कन्यारत्नस्य = अनूढबालिकाश्रेष्ठस्य,
कन्यापदेनाविवाहितायाः योग्यवरविषयाभिलाषस्यौचित्यं व्यञ्जितम्। ईदृशे=
पमे 'चकास्ति योग्येन हि योग्यसङ्गमः' इति न्यायात्त्वादृशस्य कन्याश्रेष्ठस्य
तुल्ये पुरुषपुङ्गवे युक्तेन रतिरिति तथा कुर्वती त्वं मा लज्जिष्ठा इति भावः। तथा
यद्यप्यस्य वृत्तान्तस्य प्रकाशीभावोऽपि न मर्यादां व्याहन्ति तथापि त्वदनुरोधवशात्
गोपायितास्मि प्रवृत्तिमिमामिति भावः।

मेधाविनी = तन्नामा सारिका, धीर्धारणावती मेधा, साऽस्त्यस्याः सा मे
विनीति तन्नाम्नो योगार्थः। अत्र=अस्य त्वदनुरागवृत्तान्तस्य बहुलीभावे। अत्र

सागरिका—(लज्जासहित, स्वगत) इसने मेरा रहस्य जान लिया! (सु
ताका हाथ पकड़कर, प्रकाशमें) मुझे बड़ी लज्जा मालूम पड़ती है, अतः
यत्न करो कि कोई दूसरा इस रहस्यको नहीं जान पाये।

सुसंगता—लज्जा मत कर, तुम्हारी सी लड़कीका अभिलाष ऐसे ही वरके
होना चाहिये। फिर भी कोई इस वृत्तान्तको नहीं जाने इसका यत्न करूं
यह मेधाविनी सारिका ही इसमें कारण हो सकती है, क्योंकि यह हमारे क

पास्यालापस्य गृहीताक्षरा भूत्वा कस्यापि पुरतो मन्त्रयिष्यते।)

सागo—ता किं दाणिं एत्थ करइस्सम्। अदोवि अहिअदरं मे संतावो वड्ढदि। (तत्किमिदानीमत्र करिष्यामि! अतोऽप्यधिकतरं मे संतापो वर्धते।) मदनावस्थां नाटयति।]

सुसंo—(सागरिकाया हृदये हस्तं दत्त्वा।) सहि समस्सस समस्सस। जाव इमाओ दिग्घिआओ णलिणीवत्ताइं मुणालिआओ अ गिण्हिअ लहुं आअच्छामि (सखि समाश्वसिहि समाश्वसिहि। यावदस्या दीर्घिकाया नलिनीपत्राणि मृणालिकाश्च गृहीत्वा लघ्वागच्छामि।) [निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य च नाट्येन नलिनीपत्रैः शयनीयं मृणालैर्वलयानि च रचयित्वा परिशिष्टानि नलिनीपत्राणि सागरिकाया हृदये निक्षिपति।]

लापस्य = आवयोर्वार्त्तालापस्य। गृहीताक्षरा=अक्षराणि गृहीतवती अभ्यस्तवती। सारिका हि मनुष्यैः कृतं वार्त्तालापं तथैवाच्युतबिन्दुविसर्गं पुनरावर्त्तयन्ति, तदीयमपि मेधाविनी नाम सारिकाऽऽवयोर्वार्त्तालापं प्रकाशयितुमीष्ट इत्यस्ति भयमिति भावः।

किमिदानीमत्र करिष्यामि = कथमेनां वाचालां सारिकामस्य रहस्यस्य प्रकाशनतो निवारयिष्यामीत्यर्थः। अतोऽपि = एतद्रहस्यप्रकाशभयतोऽपि। राजविषयकाभिलाषस्तु सन्तापकारणमस्त्येवेत्यपिना व्यज्यते।

हृदये हस्तं दत्त्वा=वक्षसि करमारोप्य, तथाकरणं चाश्वासनप्रकारः। समाश्वसिहि=संज्ञां लभस्व, दीर्घिकायाः = वाप्याः। नलिनीपत्राणि = कमलिनीदलानि। मृणालिकाः=विसदण्डान्। यद्यपि मृणालमिति बहुशो नपुंसके प्रयुज्यमानं दृश्यते तथापि स्त्रियामपि क्वचित्प्रयुज्यत एव, यथा भवभूतिः-'परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु' इति। लघु=शीघ्रम्। नलिनीदलानां बिसदण्डानामाहरणञ्च सन्तापापनुत्तये क्रियत इति सम्प्रदायः॥

कथनको किसीके आगे दुहरा देगी।

सागरिका—तब क्या किया जाय। इससे तो हमारा ताप और बढ़ रहा है। (काम-पीड़ाका अभिनय करती है।)

सुसंगता—(सागरिकाकी छाती पर हाथ रखकर) सखी, धीरज धरो, धीरज धरो, जब तक मैं इस वापीमें से कमलके पत्ते और कमल-नाल लेकर शीघ्रतासे आ रही हूँ। (जाकर, फिर प्रवेश कर, नलिनी-पत्रोंसे शयन तथा वलयोंका निर्माण कर बचे हुए पत्तोंको सागरिकाकी छातीपर रखती है।)

सागा०—सहि अवणेहि इमाइं णलिणीवत्ताइं मुणालवलआइं। अलं एदेहिं। कीस अआरणे अत्ताणं आआसेसि। णं भणामि। (स्वगतम्) अपनयेमानि नलिनीपत्राणि मृणालवलयानि च। अलमेतैः। किमित्यकारण आत्मानमायासयसि। ननु भणामि।)

दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गुरुई परव्वसो अप्पा।
पिअसहि विसमं प्पेम्मं मरणं सरणं णवरमेक्कम्॥
(दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा।
प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं शरणं नवरमेकम्॥ १॥)

(इति मूर्च्छति।)

अपनय=अपसारय, मृणालवलयानि=बिसदण्डरचितानि वलयानि। अकारणं विना फलम्। आयासयसि=खेदयसि। त्वया विधीयमानेऽपि नलिनीदलमृणालिकादेः मदर्थेऽनुपयोगे मदीयस्य तापस्य शमयितुमशक्यत्वात्तवायं प्रयासो निष्फल इति भावः।

दुर्लभजनेति। दुर्लभे मादृशजनेन दुष्प्रापे जने उदयनलक्षणे अनुरागः मदीयः स्नेहबन्धः अस्तीति शेषः, तदनायासेन प्रियलाभान्नास्ति मन्मदनकष्टनिवारणसम्भावनेति भावः। लज्जा त्रपा च गुर्वी सत्कुलप्रसूतत्वाद्विशाला, अतः स्वयं गत्वापि कामवेदना शमयितुं न शक्यत इत्याशयः। आत्मा परवशः परस्य वासवदत्तालक्षणस्य जनस्य वशः अधीनः। एवञ्च लज्जां विहायापि तत्रात्मसमर्पणं न सम्भवतीति भावः। नन्वेवं सर्वानर्थमूलं प्रेमैव परित्यज्यतां तत्राह—प्रेम विषमम् उदयनविषयकोऽनुरागश्चातिमहान्। अतश्च तत्त्यागोऽपि न सुकर इति भावः। अतः एकं केवलम् मरणम् मृत्युः एव नवरम् सर्वश्रेष्ठम् निरापत् शरणम् रक्षितृ अन्यो मृत्योर्नास्ति मत्त्राणोपाय इति तात्पर्यम्। 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः। अत्र नागरिकया मदनवेदनानिवारणोपायादर्शनात् तापनं नाम प्रतिमुखाङ्गमुक्तम्। 'उपायादर्शनं यत्तु तापनं नाम तद्भवेत्' इति च तल्लक्षणम्॥ १॥

सागरिका—सखि, हटाओ नलिनीपत्र और मृणालवलय, यह व्यर्थ है, क्यों तकलीफ उठा रही हो। कहती तो हूँ—

मैंने दुर्लभजन पर अनुराग किया है, लज्जा अधिक है, स्वतन्त्र भी नहीं, प्यारी सखी, इस स्थितिमें प्रेम करना एक भयानक व्यापार है, अब तो केवल मृत्यु ही शरण है॥ १॥

(मूर्च्छित होती है)

सुसं०—(सकरुणम् ।) सहि साअरिए समस्सस समस्सस । (सखि सागरिके समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।)

(नेपथ्ये ।)

कण्ठे कृत्तावशेषं कनकमयमधः श्रृङ्खलादाम कर्षन्-
क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरणरणत्किङ्किणीचक्रवालः ।
दत्तातङ्कोऽङ्गनानामनुसृतसरणिः संभ्रमादश्वपालैः
प्रभ्रष्टोऽयं प्लवङ्गः प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरायाः ॥ २ ॥

सकरुणम् = सा च करुणा सखीं मूर्च्छितां पश्यन्त्याः सुसङ्गतायाः तद्विपदुपनिपातसंभावनाजनिता ।

कण्ठे कृत्तेति । मन्दुरायाः अश्वरक्षणागारतः, 'वाजिशाला तु मन्दुरा' इत्यमरः । प्रभ्रष्टः निर्गतः अश्वपालैः अश्वरक्षणावेक्षणाद्यधिकृतैः पुरुषैः सम्भ्रमात् त्वरावशात् अनुसृता अनुगता सरणिः पद्धतिः यस्य तादृशः । वाजिशालातः पलायमानः स्वरक्षाधिकृतैर्ग्रहणार्थमनुगम्यानश्चेत्यर्थः । अयम् प्लवङ्गः वानरः कण्ठे स्थितम् कृत्तस्य त्रोटितस्य शेषम् अवशिष्टम् कनकमयम् सुवर्णनिर्मितं तत्प्रचुरं वा श्रृङ्खलादाम बन्धनरज्जुम् अधः कर्षन् भूमौ आकर्षन् हेलया लीलया चलाः गतियुक्ताः ये चरणाः तेषु रणत् शब्दायमानम् किङ्किणीनाम् क्षुद्रघण्टिकानाम् चक्रवालं मण्डलं यस्य तथाभूतः । द्वाराणि क्रान्त्वा अतिक्रम्य अङ्गनानाम् वनितानाम् दत्तः जनितः आतङ्कः भयं येन तादृशः । नृपतेः राज्ञः मन्दिरं भवनम् प्रविशति । अश्वशालातो निर्गतः स्वरक्षकानुगम्यमानमार्गः कनकमयं दाम कण्ठे लग्नं भूमावाकर्षन् चञ्चलचरणरणत्किङ्किणीको वनिताजनभयकारी च वानरो द्वाराणि क्रान्त्वा राजभवनं प्रविशतीति सरलार्थः । 'चक्रवालं तु मण्डलम्' इत्यमरः । स्वभावोक्तिरलंकारः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ २ ॥

सुसंगता—(दयापूर्वक) सखि सागरिके धीरज धरो २ ।

(नेपथ्यमें)

रहनेकी जगहसे खुला हुआ बन्दर राजभवनमें प्रवेश कर रहा है, उसके पालक घबड़ाए हुए उसका पीछा कर रहे हैं, स्त्रियाँ भयभीत हो रही हैं, उसके पाँवोंमें बँधा घुँघुरू बज रहा है, वह दरवाजे लाँघता जा रहा है, और उसके गलेमें बँधी हुई सोनेकी जंजीर लटक रही है, जिसे तोड़कर वह आया है ॥ २ ॥

अपि च—

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादपास्य त्रपा-
मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः॥ ३॥

सुसं०—(आकर्ण्याग्रतोऽवलोक्य ससंभ्रममुत्थाय सागरिकां हस्ते गृहीत्वा) सहि उट्ठेहि उट्ठेहि। एसो खु दुट्ठवाणरो इदो ज्जेव आअच्छदि।

नष्टमिति। मनुष्येषु मानवजातिषु गणनायाः स्वपरिसङ्कथानस्य अभा[वात्] विरहात् त्रपाम् पलायनजनिताम् लज्जाम् अपास्य परित्यज्य त्रासाद् भ[यात्] वर्षवरैः नपुंसकैर्नष्टम् पलायितम्। पुंस्त्रीरूपकोटौ मानवप्रभेदेऽगण्यतया लज्जा[-] कारणस्य मानुष्यकस्य स्वस्मिन्ननभियानेन नपुंसकानां गणेन राजान्तःपुरे [...] मानेन पलायनमारब्धमिति भावः। (त्रासात्) अयम् वामनः खर्वाकृतिः पु[...] कञ्चुकिनः वृद्धब्राह्मणस्य यत् कञ्चुकम् बृहद्गात्रावरणम् तस्य अन्तः अभ्यन्त[रम्] विशति, खर्वः कञ्चुकिकञ्चुके स्वं गोपयितुं निलीयत इति तात्पर्यम्। कि[रातैः] (त्रासात्) पर्यन्ताश्रयिभिः नगरप्रान्तमाश्रयद्भिः निजस्य नाम्नः 'किरात' इत्य[भि-] धानस्य सदृशम् योग्यम् कृतम्, किरम् प्रान्तदेशम् अतन्तीति किराता [इति] तद्व्युत्पत्तेः। आत्मनाम् स्वेषाम् ईक्षणम् वानरकर्त्तृकम् दर्शनम् आशङ्कन्ते [इति] आत्मेक्षणाशङ्किनः कुब्जाः (त्रासात्) शनकैः मन्दं मन्दम् नीचतयैव स्वभा[वतः] खर्वत्वेऽपि पुनरतिशयेन खर्वीकृतदेहतया यान्ति पलायन्ते। एषां वर्षवरवा[मन-] किरातकुब्जानां राजान्तःपुरे रक्षणादौ परिचर्यायां चोपयोगित्वेनावस्थानम्, त[था च] साहित्यदर्पणे-'अथान्तःपुरसहायाः'इत्यधिकृत्य तद्दवरोधे'वामनषण्ढकिरातम्लेच्छा-] भीराः शकारकुब्जाद्याः' इति। अत्रापि स्वभावोक्तिः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥

और, हमारी मनुष्योंमें तो गणना है ही नहीं फिर लज्जा किस बातकी? ऐ[सा] सोचकर नपुंसक भाग खड़े हुए, ये वामन कञ्चुकीके झूलमें भयसे प्रवेश कर[रहे] हैं, किरातगण अपने नामके अनुकूल कतराते जा रहे हैं, कुब्जोंको यह भय है [कि] कहीं हम देख न लिये जाँय इसलिये खूब झुक कर चल रहे हैं॥ ३॥

सुसंगता—(सुनकर, आगे देखकर, घबड़ाकर उठकर, सागरिकका हाथ पक[ड़-] कर) सखी, उठो, उठो, यह दुष्ट वानर इधर ही आ रहा है। इसलिये छुप[...]

अलक्खिदं तमालविडवान्धआरे पविसिअ इमं अदिवाहेम। (सखि उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। एष खलु दुष्टवानर इत एवागच्छति। तदलक्षितं तमालविटपान्धकारे प्रविश्यैनमतिवाहयावः)। (तथा कृत्वा उभे सभयं पश्यन्त्यौ स्थिते।)

साग०—सुसंगदे कहं तुए चित्तफलहओ उज्झिदो। कदावि कोपि तं पेक्खदि। (सुसङ्गते कथं त्वया चित्रफलक उज्झितः। कदापि कोऽपि तं प्रेक्षते।)

सुसं०—अइ सुत्थिदे किं अत्त वि चित्तफलएण करिस्ससि। एसो क्खु दधिभत्तलम्पडो सारिआपञ्जरं उग्घाडिअ अवक्कन्दो दुट्ठवाणरो। मेहाविणी वि उड्डीणा एषा गच्छदि। ता एहि। लहुं अणुसरम्ह। इमस्स आलावस्स गहिदक्खरा कस्स वि पुरदो मन्तइस्सदि। (अयि सुस्थिते किमद्यापि चित्रफलकेन करिष्यसि। एष खलु दधिभक्तलम्पटो सारिकापञ्जरमुद्घाट्यापक्रान्तो दुष्टवानरः। मेधाविन्यप्युड्डीनैषा गच्छति। तदेहि। लघ्वनुसरावः। अस्यालापस्य गृहीताक्षरा कस्यापि पुरतो मन्त्रयिष्यते।)

अलक्षितम् = रहस्यभावेन, अन्यो यथा न पश्येत्तयेत्यर्थः। तमालानाम् श्यामतया प्रसिद्धानां वृक्षविशेषाणाम् विटपाः शाखाः तैः (कृते) अन्धकरे तमसि। एनम् = दुष्टवानरम्। अतिवाहयावः = व्यतियापयावः, यावदयमग्रे याति तावत्प्रतिपालयाव इति भावः। सभयम् = भयेन सह, तच्च दुष्टवानरोपनिपातसम्भावनाकृतं बोध्यम्।

सुस्थिते = स्थिरे, त्वराकारणे समापन्नेऽप्यचलत्वेनायमुपहासः। तच्च त्वराकारणं वानरकृतं सारिकापञ्जरोद्घाटनम्, यतस्तत्कृतरहस्यभेदनसम्भवः। दध्ना संस्कृतं भक्तम् दधिभक्तम् 'अन्नेन व्यञ्जनम्' इति समासः। तत्र लम्पटः लुब्धः। अपक्रान्तः = पलायितः। ननु उद्घाटयतु वानरः सारिकायाः पञ्जरम्, किमेतावता

इस तमाल वृक्षके नीचे छिपकर इसे आगे बढ़ जाने दें। (वैसा करके दोनों सभय देखती रहती हैं)

सागरिका—सुसंगते, क्या तुमने चित्रफलक वहीं छोड़ दिया ? कहीं कोई उसे देख लेगा ?

सुसंगता—अरी भोली, अब चित्रफलक लेकर क्या करेगी ? यह दही-भातका लोभी वानर सारिकाके पिञ्जड़ेको खोलकर चला गया, मेधाविनी (सारिका) भी यह उड़ी जा रही है। चलो, जल्दी इसका पीछा करें, नहीं तो हमारे वार्त्तालापको वह किसीके पास दुहरा देगी।

साग०—सहि एव्वं करेम्ह । (सखि एवं कुर्वः ।) [इति परिक्रामतः ।
(नेपथ्ये ।)

ही ही भो अच्चरिअं अच्चरिअम् । (ही ही भोः आश्चर्यमाश्चर्यम् ।)

साग०—(विलोक्य सभयम् ।) सुसङ्गदे जाणिअदि पुणो वि सो दुट्ठ
वाणरो आअच्छदित्ति । (सुसङ्गते ज्ञायते पुनरपि स दुष्टवानर आगच्छतीति

सुसं—(विदूषकं दृष्ट्वा विहस्य) अइ काअरे मा भेहि भत्तुणो पास
अज्जवसन्तओ क्खु एसो (अयि कातरे मा बिभीहि । भर्तुः पार्श्ववर्ती आर्य
वसन्तकः खल्वेषः ।)

साग०—(सस्पृहमवलोक्य ।) सहि सुसंगदे दंसणीओ क्खु अअं
जणो । (सखि सुसङ्गते दर्शनीयः खल्वयं जनः ।)

नश्छिन्नं सारिका तु तदन्तरेव वर्त्तत इति नास्ति त्वराकारणमिति वृथा तवाप
हास इति मनसिकृत्याह—मेधाविन्यपीति । उड्डीना = उत्प्लुता । उत्प्लुते
'डीङ् विहायसा गतौ' इत्यस्मात् क्तप्रत्ययः । ओदित्त्वान्निष्ठानत्वम् । अनुसरा
धावावः, येन तां गृहीत्वो रहस्यं चेदमित्थं गोपयितुं प्रभवाव इत्याशयः ।

एवम् = यथाचिन्तितं कुर्वः पलायमानां सारिकान्धर्तुं चेष्टावह इत्यर्थः ।

बिभीहि = भयङ्कुरु, भयकारणस्य वानरोपसर्पणस्य दूरपराहतत्वादिति भा

पार्श्ववर्ती = नित्यसहचरः, आर्यवसन्तकः = पूज्यः वसन्तकनामा
राज्ञो विदूषकः । वसन्तक इति विदूषकस्य संज्ञा च 'कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्म
षभाषाद्यैः' हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः' इति साहित्यदर्पण
स्मारयति ।

दर्शनीयः = द्रष्टुं योग्यः, तथात्वं च राजसहचरत्वेन । प्रियपरिजनेषु वनि
स्वभावतोऽनुरागस्योदयात् सागरिकाया एवमुक्तिः ।

सागरिका—हाँ ऐसा ही करें । (दोनों चलती है ।)
(नेपथ्यमें)

अहा हा ! आश्चर्य, आश्चर्य ।

सागरिका—(देखकर, भयसे) सुसङ्गते मालूम पड़ता है वह दुष्ट वानर
आ रहा है ।

सुसङ्गता—(विदूषक को देखकर, सहास) ओरी कायर, डर मत, ये रा
साथ रहनवाले आर्य वसन्तक हैं ।

सागरिका—(सस्पृह देखकर) सखि सुसंगते, तब तो ये दर्शनीय हैं ।

सुसंगता—अइ सुत्थिदे किं इमिणा दिट्ठेण। दूरे भोदि क्खु सारिआ। ता एहि। अणुसरम्ह। (अयि सुस्थिते किमनेन दृष्टेन। दूरे भवति खलु सारिका। तदेहि। अनुसरावः।)

(उभे निष्क्रान्ते।)

(ततः प्रविशति प्रहृष्टो विदूषकः।)

विदूषकः—ही ही भो अच्चरिअं अच्चरिअम्। साहु रे सिरिखण्डदास धम्मिअ साहु। जेण दिण्णमेत्तेण ज्जेव्व तेण दोहदएण ईदिसी णोमालिआ संवुत्ता जेण णिरन्तरुब्भिण्णकुसुमगुच्छसोभिअविडवा उवहसन्ती विअ लक्खिअदि देवीपरिगहिदं माधवीलदं। ता जाव गदुअ पिअवअस्सं वद्ढावइस्सम्। एसो क्खु पिअवअस्सो तस्स दोहदस्स लद्धपच्चअदाए परोक्खंवि तं णोमालिअं पच्चक्खं विअ कुसुमिदं पेक्खन्तो हरिसुप्फुल्ललोअणो इदो ज्जेव आअच्छदि। ता जाव णं उवसप्पामि। (ही ही भोः आश्चर्यमाश्चर्यम्। साधु रे श्रीखण्डदास धार्मिक साधु। येन दत्तमात्रेणैव तेन दोहदेनेदृशी नवमालिका संवृत्ता येन निरन्तरोद्भिन्नकुसुमगुच्छशोभितविटपा उपहसन्तीव लक्ष्यते देवीपरिगृहीतां माधवीलताम्। तद्यावद्गत्वा प्रियवयस्यं वर्धयिष्यामि।

दूरे भवति = दूरवर्त्तिनी जायते, विप्रकृष्टा जायत इति यावत्।

ही ही भोः इति हर्षसूचको निपातः, 'ही ही विदूषकः' इत्युक्तत्वात्। दत्तमेव दत्तमात्रम् तेन दत्तमात्रेण = प्रयुक्तमात्रेण। निर्गतमन्तरं समयव्यवधानं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा उद्भिन्नाः विकसिताः ये कुसुमगुच्छकाः पुष्पस्तबकाः तैः शोभिताः विराजिताः विटपाः शाखाः यस्याः सा तादृशी सततोद्भिन्नपुष्पस्तबकशोभमानशाखाचयेत्यर्थः। उपहसन्ती = निन्दन्ती। देवीपरिगृहीताम् = वासवदत्तया राज्या स्वीयतयाऽङ्गीकृताम्। वर्धयिष्यामि = दिष्ट्या वर्धसे नवमालिकायाः कुसुम-

---

सुसंगता—अरी पगली, इसे देखकर क्या होगा? सारिका दूर भागती जा रही है, चलो उसका पीछा करें।

(दोनों का प्रस्थान)

(प्रहृष्ट विदूषक का प्रवेश)

विदूषक—अहा हा। आश्चर्य, आश्चर्य, धन्य श्रीखण्डदास धन्य, उसके द्वारा दिये गये दोहदसे शीघ्र ही नवमालिकाकी डालियाँ निरन्तर विकसित फूलोंसे इस तरह लद गई जिससे मालूम पड़ता है कि वह देवीकी माधवीलताका परि-

(परिक्रम्यावलोक्य च।) एष खलु प्रियवयस्यस्तस्य दोहदस्य लब्धप्रत्य परोक्षामपि तां नवमालिकां प्रत्यक्षामिव कुसुमितां प्रेक्षमाणः हर्षोत्फुल्ललोच एवागच्छति। तद्यावदेनमुपसर्पामि।)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा।)

राजा—(सहर्षम्।)

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुरुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरतैरातन्वतीमात्मनः।

प्रसवेनेत्यभिधाय प्रियवयस्यस्य हर्षं समेधयिष्यामीति भावः। लब्धप्रत्ययतया= तविश्वासतया। परोक्षाम् = नयनागोचरम्, प्रत्यक्षाम् = अक्षिविषयम्। कुसुमि म् = सञ्जातपुष्पोद्गमाम्। हर्षोत्फुल्ललोचनः=प्रमोदविकसितनेत्रः। अयमाश राजा धार्मिकश्रीखण्डदासप्रदत्तायामोषधौ परत्र परीक्षितायां तथा विश्वसिति यथा दत्तमात्र एव तद्दोहदे पुष्पं प्रकटितमवधार्य प्रसन्नवदनस्तदवलोकनायेत आया तदुचितं मम तदुपसर्पणमिति।

यथानिर्दिष्टः = हर्षोत्फुल्लनेत्रः।

सहर्षम् = सानन्दम्, अत्र हर्षश्च नवमालिकायाः पुष्पोद्गमस्यावश्यंभावि प्रत्ययेन।

उद्दामेति। अहम् उद्दामम् अत्यर्थम् उद्गताः प्रकाशमिताः कलिकाः कोर यस्यास्ताम् अन्यत्र उद्दामा दुर्दमनीया उत्कलिका उत्कण्ठा यस्यास्तादृश विपाण्डुरुचिम् पाण्डुराभाम् लतायाः पुष्पितत्वात् कामिन्याश्च विरहकृतवैक्लव्य तथा भावः। क्षणात् सद्य एव प्रारब्धा प्रकान्ता जृम्भा विकासः गात्रभङ्गश्च यया तथाभूताम्। कामिन्या गात्रभङ्गश्च सात्त्विकभावोदयजन्मेति बोध्यम्। अवि निरन्तरैः श्वसनोद्गमैर्वातसञ्चरणैः निःश्वासैश्च आत्मनः स्वस्याः आयासम् सञ्चारज

हास कर रही हो। तब तक जाकर प्रियमित्रको बधाई दे आऊं। (चलकर देखकर) हमारे मित्रको उस दोहद क्रिया पर इतना अधिक विश्वास है कि नव लिकाको बिना देखे ही उसे कुसुमित मानकर आंखोंमें हर्ष भरे वे इधर ही रहे हैं। तब उनके पास चलूँ।

(यथोक्त रूपमें राजाका प्रवेश)

राजा—(सहर्ष) कलियोंसे लदी, श्वेत कान्तिवाली, जिसकी कलियां खि लगी हैं ऐसी तथा वायुके झोंकोंसे तकलीफका अनुभव करनेवाली तथा मदनह

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥ ४ ॥

तद्वृत्तान्तमुपलब्धुं गतो वसन्तकोऽद्यापि नायाति।

विदूषकः—(सहसोपसृत्य।) जअदु जअदु पिअवअस्सो। भो वअस्स दिट्ठिआ वड्ढसि। (जयतु जयतु प्रियवयस्यः। भो वयस्य दिष्ट्या वर्धसे।) [जेण दिण्णमेत्तेण ज्जेव्व तेण दोहएण ईदिसी णोमालिआ संवुत्तेत्यादि पठति।]

राजा—वयस्य कः सन्देहः। अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः। पश्य—

क्लान्तिम् कामवेदनाश्च आतन्वतीम् प्रकाशयन्तीम् अन्याम् देवीभिन्नाम् समदनाम् सकामाम् नारीम् अङ्गनामिव समदनां मदनवृक्षाश्रिताम् इमाम् नवमालिकां नामोद्यानलताम् पश्यन् दर्शनेन सम्भावयन् अत एव च विलम्बमानः देव्याः वासवदत्तायाः मुखम् ध्रुवम् निश्चितम् कोपेन मद्विलम्बजनितरोषेण इतरनायिकादर्शनानुमिततद्विषयानुरागोद्भावितमन्युना च विपाटला विशेषेण वक्तवर्णा द्युतिः कान्तिर्यस्य तत्तादृशं करिष्यामि। यथा कश्चन नायकः काञ्चिदन्यां स्त्रियं कामयमानां सानुरागया दृशा वीक्षमाणः स्वस्त्रियाः कोपमुत्पादयति तथैवात्र लतायां दृष्टेरासक्ततया विलम्बमानोऽहं देव्याः कोपं जनयिष्यामीति भावः। श्लेषालङ्कार उपमा च। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। अत्र कविना चतुर्थं पताकास्थानकमुपनिबद्धम्, तथा च तल्लक्षणम्—'द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः। प्रधानार्थान्तराक्षेपी पताकास्थानकं परम्' ॥ इति 'उद्दामोत्कलिकाम्' इत्यादिविशेषणानां सुश्लिष्टतया द्व्यर्थ इति विशेषलक्षणस्य सङ्गतिः ॥ ४ ॥

वृत्तान्तमुपलब्धुम्=समाचारं ज्ञातुम्, नवमालिका पुष्पिता न वेति ज्ञातुमिति भावः।

मणिमन्त्रौषधीनाम्=मणयश्च मन्त्राश्च औषधयश्चेतीतरेतरयोगद्वन्द्वः, तासाम्।

लिपटी इस उद्यानलताको देखता हुआ मैं आज वासवदत्ताके मुखको कोपसे आरक्त बना दूँगा जैसे मैं किसी उत्कण्ठावाली, पाण्डुवर्ण, अंगड़ाइयाँ लेती हुई, निःश्वाससे खेद प्रकट करनेवाली तथा सकाम ललनाको देखता होऊँ ॥ ४ ॥

उसीकी खबर लाने वसन्तक गया था वह अब तक नहीं आया है।

विदूषक—(सहसा समीप आकर) जय हो मित्रकी। बधाई है। (दोहदके करते ही नवमालिकाके फूल निकल आये यही दुहराता है)

राजा—मित्र इसमें क्या सन्देह? मणि, मन्त्र तथा दवाओं का प्रभाव अचिन्त्य होता है। देखो—

कण्ठे श्रीपुरुषोत्तमस्य समरे दृष्ट्वा मणिं शत्रुभि—
र्नष्टं मन्त्रबलाद्वसन्ति वसुधामूले भुजङ्गा हताः ।
पूर्वं लक्ष्मणवीरवानरभटा ये मेघनादाहताः
पीत्वा तेऽपि महौषधेर्गुणनिधेर्गन्धं पुनर्जीविताः ॥ ५॥

तदादेशय मार्गं येन वयमपि तदवलोकनेन चक्षुषः फलमनुभवामः ।

प्रभावः = सामर्थ्यम् , येन प्रयुक्तमात्रेणाकाल एव कुसुमोद्गमः कारित इति महान् प्रभावस्तस्येति भावः ।

कण्ठे श्रीति । समरे युद्धे पुरुषेषु उत्तमः पुरुषोत्तमः पुरुषश्रेष्ठः श्रिया युक्तः पुरुषोत्तमः श्रीपुरुषोत्तमः तस्य (पुरुषोत्तमशब्दे सुप्सुपेति समासः परत्र च शाक-पार्थिवादित्वात्समासः) विष्णोः कण्ठे गलप्रदेशे मणिम् कौस्तुभाख्यं रत्नं दृष्ट्वा अवलोक्य शत्रुभिः रिपुभिः नष्टम् विद्रुतम् (अदृश्यत्वं गतम्) इदं मणिप्रभावं गमयति । (एवम्) मन्त्राणाम् वराः श्रेष्ठाः मन्त्रवराः तैः (हेतुभिः) हताः भ्रष्टप-राक्रमतया हतकल्पाः भुजैः भोगैः गच्छन्तीति भुजङ्गाः सर्पाः, खचो डित्त्वाट्टिलोपः । वसुधायाः रत्नगर्भायाः भुवः मूले पाताले वसन्ति । यदि मन्त्रप्रभावो नाभविष्यदिमे पातालवासिनः सर्पाः स्वविषैः समग्रमपि संसारं व्याकुलयिष्यन्निति भावः । ये लक्ष्मणश्च वीराश्च ते वानरभटाश्च ते पूर्वं मेघनादाहताः=इन्द्रजिता पञ्चत्वं गमिताः तेऽपि गुणनिधेः गुणाकरस्य महौषधेः सञ्जीवन्याः गन्धम् पीत्वा नासिकयाऽऽघ्राय (पानमत्राघ्राणपरम्) जीविताः पुनरुज्जीविताः । एभिर्दृष्टान्तैः प्रमापितो मणिमन्त्रौ-षधीनां प्रभाव इति भावः । लक्ष्मणाद्युज्जीवनविषये वाल्मीकिरामायणमपि प्रमाणम् । तथा च तत्र युद्धकाण्डे ७४ तमे सर्गे 'तावप्युभौ मानुषराजपुत्रौ तं गन्धमाघ्राय महौषधीनाम् । बभूवतुस्तत्र तदा विशल्यावुत्तस्थुरन्ये च हरिप्रवीराः ।' सर्वे विशल्या विरुजः क्षणेन हरिप्रवीराश्च हताश्च ये स्युः । गन्धेन तासां प्रवरौषधीनां सुप्ता निशान्तेष्विव संप्रबुद्धाः' ॥ इति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५ ॥

आदेशय = प्रदर्शय । मार्गम् = नवमालिकाऽऽश्रयभूतस्योद्यानस्य पन्थानम् ।

लड़ाईके मैदानमें भगवान्‌के गलेमें मणि देखकर ही दुश्मन भाग खड़े हुए । मन्त्रके बलसे ही सर्पगण पातालमें वास करते हैं, और लक्ष्मण तथा वीर वानरगण, जो मेघनादद्वारा मारे गये थे, गुणोंकी निधि औषधिकी गन्धके लगनेसे ही पुनरुज्जीवित हो गये ॥ ५ ॥

अब रास्ता बतलाओ जिससे हम भी उसे देखकर आँखोंको कृतार्थ करें ।

विदूषकः—(साटोपम् ।) एदु एदु भवं । (एत्वेतु भवान् ।)
राजा—गच्छाग्रतः ।

(उभौ सगर्वं परिक्रमतः ।)

विदूषकः—(आकर्ण्य सभयं परावृत्य राजानं गृहीत्वा ससंभ्रमम् ।) भो वअस्स एहि पलाअम्ह । (भो वयस्य एहि पलायावहे ।)
राजा—किमर्थम् ।
विदूषकः—एअस्सि वउलपाअवे कोवि भूदो पडिवसदि । (एतस्मिन्वकुलपादपे कोऽपि भूतः प्रतिवसति ।)
राजा—(धिङ् मूर्ख विस्रब्धं गम्यताम् । कुत ईदृग्विधानामत्र प्रभावः ।)
विदूषकः—भो एसो क्खु फुडक्खरं एव्वं मन्तेदि । ता जइ मम वअणं न पत्तिआअसि ता अग्गदो भविअ सव्वं एव्व दाव आअण्णेहि ।

तदवलोकनेन = नवमालिकयोद्भावितस्य पुष्पस्तबकस्य वीक्षणेन । चक्षुषः फलम् = नयनस्य साफल्यम्, अभीष्टवस्तुदर्शनमेव नयनलाभस्य फलमित्यभिप्रत्येत्यमुक्तम् ।
साटोपम् = आटोपेन गर्वेण सहितम् ।
बकुलपादपे = केसरवृक्षे । 'अथ केसरे बकुलः' इत्यमरः । भूतः = पिशाचः, 'भूतं क्ष्मादौ पिशाचादौ' इति मेदिनी ।
धिङ् मूर्खेत्यत्र धिगिति भयनिन्दाद्योतकत्वेन मूर्खपदे द्वितीया न । विस्रब्धम्= सविश्वासम् , स च प्रेतसम्भावनाऽत्र नास्तीति प्रत्ययरूपः । ईदृशानाम् = भूतप्रेतपिशाचराक्षसादीनाम् । प्रभावः = सामर्थ्यम् ।

विदूषक—(गर्वसे) आइये ।
राजा—आगे चलो ।

(दोनों सगर्व चलते हैं)

विदूषक—(सुनकर, भयपूर्वक लौटकर, राजाको पकड़कर घबड़ाया हुआ) मित्र, आओ भाग चलें ।
राजा—क्योंजी ।
विदूषक—इस बकुल वृक्षपर कोई भूत रहता है ।
राजा—धिङ् मूर्ख, निर्भय होकर चलो, यहाँ भूतका क्या सम्भव ?
विदूषक—अजी, यह तो साफ बोल रहा है, यदि मेरी बातपर श्रद्धा न हो तो

(ओः एष खलु स्फुटाक्षरमेव मन्त्रयते। तद्यदि मम वचनं न प्रत्येषि तदग्र भूत्वा स्वयमेव तावदाकर्णय।)

राजा—(तथा कृत्वा श्रुत्वा च।)

स्पष्टाक्षरमिदं यस्मान्मधुरं स्त्रीस्वभावतः।
अल्पाङ्गत्वादनिर्ह्रादि मन्ये वदति सारिका ॥ ६ ॥

(ऊर्ध्वं निरूप्य।) कथं सारिकैवेयम्।

विदूषकः—(ऊर्ध्वमवलोक्य।) आः कथं सच्चं एव्व सारिआ। दासीएधीए किं तुए जाणिदं सव्वं ज्जेव्व वसन्तओ आअदित्ति। ता चि मुहुत्तअम्। जाव इमिणा पिसुणजणहिअअकुडिलेण दण्डकट्ठेण परि विअ कइत्थफलं इमादो वउलपाअवादो आहणिअ भूमीए तुमं पाड

स्फुटाक्षरम् = विस्पष्टवर्णम्। अतो मदुक्तावविश्वासस्य कारणं नास्तीत्यर्थः। प्रत्येषि = विश्वसिषि।

स्पष्टाक्षरमिति। इदम् श्रूयमाणम् स्पष्टानि अविकलतया स्फुटानि अक्षराणि यस्य तत् स्पष्टाक्षरं (मन्त्रणं) यस्मात् स्त्रीस्वभावतः मधुरम् अश्रुतिकटुं अल्पं लघु अङ्गं शरीरं यस्याः सा अल्पाङ्गा सूक्ष्मदेहा तस्या भावस्तस्मात् अल्पाङ्गत्वात् अनिर्ह्रादि नोच्चैः श्रयमाणम् तस्मात् सारिका वदतीति मन्ये संभावयामि। एतत् श्रूयमाणमन्त्रणस्यापरुषवर्णतयाऽऽकर्ण्यमानत्वात्स्त्रीजनभाषितमिति निर्णये जातेऽनु श्रूयमाणतया चाल्पाङ्गजीवोच्चारितमिदमिति च निश्चये सारिकाध्वनित्वप्रत्ययो प्रमाणान्तरमपेक्षत इति भावः ॥ ६ ॥

निरूप्य = निपुणं रूपयित्वा विलोक्य। अनुमितमप्यर्थं प्रत्यक्षतो गृह्णन्ति परीक्षकास्तथेदं राजकर्तृकं सारिकाऽवेक्षणं बोध्यम्।

आगे बढ़कर खुद सुन लीजिये।

राजा—(आगे बढ़कर और सुनकर) स्पष्ट अक्षर स्त्री-स्वभावसे मधुर छोटे अङ्गोंसे निकलने के कारण धीमी यह आवाज अवश्य सारिका की है ॥ ६ ॥

(ऊपरकी ओर देखकर) क्यों, सारिका ही तो है।

विदूषक—(ऊपर देखकर) आः! क्या सारिका ही है? (क्रोधसे उठाकर) कलमुहीं, क्या तुमने ठीक ही समझ लिया कि वसन्तक डरता

स्सम्। (आः कथं सत्यमेव सारिका। [सरोषं दण्डकाष्ठमुद्यम्य।] आः दास्याः पुत्रि किं त्वया ज्ञातं सत्यमेव वसन्तको बिभेतीति। तत्तिष्ठ मुहूर्त्तम्। यावदनेन पिशुनजनहृदयकुटिलेन दण्डकाष्ठेन परिपक्कमिव कपित्थफलमस्माद् बकुलपादपादाहत्य भूमौ त्वां पातयिष्यामि।) [इति हन्तुमुद्यतः।]

राजा—(निवारयन्।) मूर्ख किमप्येषा रमणीयं व्याहरति। तत्किमेनां त्रासयसि। शृणुवस्तावत्।

(उभावाकर्णयतः।)

विदूषकः—(आकर्ण्य।) भो वअस्स सुदं तुए जं एदाए मन्तिदं। एसा भणादि सहि को एसो तुए एत्थ आलिहिदो। सहि पउत्तमअणमहूस्सवे भअवं अणङ्गोत्ति। पुणोवि एसा भणादि सहि कीस तुए अहं एत्थ आलिहिदा। सहि किं अआरणं कुप्पसि। जादिसो तुए कामदेओ आलिहिदो तादिसी मए रई आलिहिदेत्ति। ता अण्णधासम्भाविणि किं तुए एदिणा आलविदेण। कहेहि सव्वं वुत्तन्तम्। भो वअस्स किं ण्णोदम्? (भो वयस्य श्रुतं त्वया यदेतया मन्त्रितम्। एषा भणति सखि क एष त्वयात्रालिखितः। सखि प्रवृत्तमदनमहोत्सवे भगवाननङ्ग इति। पुनरप्येषा भणिति सखि कस्मात्त्वयाहमत्रालिखिता। सखि किमकारणं कुप्यसि। यादृशस्त्वया कामदेव

दास्याः पुत्रि, असत्कुलजे, एतेन निन्दा गम्यते, 'षष्ठ्या आक्रोशे' इति वैकल्पिकः, षष्ठ्या अलुक्। पिशुनजनहृदयकुटिलेन = पिशुनजनः दुर्जनः, तस्य हृदयचित्तमिव कुटिलं वक्रं तेन। आहत्य = आघातं कृत्वा। यथा पक्वं कपित्थफलमेकेनैवाघातेन 'भूमिं श्रयति' तथा मयाऽऽहता त्वमप्यवश्यं भूमिमाश्रयिष्यसीति भावः।

रमणीयम् = मनोहरम्, व्याहरति = वक्ति, 'व्याहार उक्तिर्लपितं भाषणं वचनं वचः' इत्यमरः। त्रासयसि = भीषयसे। त्रासश्चात्र दण्डदर्शनादिरूपः।

जरा ठहरजा। अब तक दुष्टजन हृदयके समान वक्र इस काष्ठ दण्डसे पके हुए कैंत के समान तुमको इस बकुल वृक्षसे नीचे गिराता हूँ। (मारनेको उद्यत होता है)

राजा—(रोकता हुआ) यह कुछ सुन्दर बात कह रही है, बेवकूफ, इसे तूं क्यों डराता है, तब तक सुनें तो।

(दोनों सुनते हैं)

विदूषक—मित्र, सुना आपने, जो इसने कहा? यह कहती है—'सखी तुमने यहाँ किसे चित्रित किया है?' 'सखी, इस मदन महोत्सवमें भगवान कामदेवको'।

आलिखितस्तादृशी मया रतिरालिखितेति। तदन्यथासंभाविनि किं तवैतेनालपितेन कथय सर्वं वृत्तान्तम्। भो वयस्य किं न्विदम्।

राजा—वयस्यैवं तर्कयामि। कयापि हृदयवल्लभोऽनुरागादालिख्य कामदेवव्यपदेशेन सखीपुरतोऽपह्नुतः। तत्सख्याऽपि प्रत्यभिज्ञाय वैदग्ध्यादसावपि तत्रैव रतिव्यपदेशेनालिखितेति।

विदू०—(छोटिकां दत्त्वा।) भो वअस्स जुज्जदि। एव्वं क्खु एदं। (भो वयस्य युज्यते। एवं खल्वेतत्।)

किं न्विदम् = सारिकामन्त्रितम्, यदनयोच्यते तस्य कः प्रसङ्ग इति विदूषकस्य जिज्ञासा। सारिका यथाश्रुतं नातिचिरवृत्तं सुसङ्गतासागरिकयोर्वार्त्तालापमावर्त्तयतिस्मेति स्पष्टम्।

तर्कयामि = संभावयामि, अर्थस्य समन्वयनं हि राज्ञस्तर्कस्य लिङ्गम्। हृदयवल्लभः=प्राणप्रियः। अनुरागात्=स्नेहात्। आलिख्य=चित्रयित्वा। कामव्यपदेशेन=कामदेवस्य चित्रमिति व्याजं कृत्वा। अपह्नुतः=गोपितः, प्रत्यभिज्ञाय=मत्प्रियसख्याः स्नेहिनश्चित्रमिदमिति विज्ञाय। वैदग्ध्यात् = नैपुण्यात्। असौ = प्रियतमचित्रनिर्मात्री स्वसखी। अयमत्राभिसन्धिः—द्वयोः समप्राणयोः सख्योरेकस्याः क्वचित् कन्दर्पप्रतिमे पुंसि जाते मनोवन्धे तया स्वमनोविनोदनाय स्वप्रियचित्रमालिखितं तत्सख्या चित्रं दृष्ट्वा कस्य चित्रमिदमिति जिज्ञासायां प्रकटीकृतायां कामदेवस्येति मृषा कथितं परन्तु सख्याः कामयमानदशामवेक्ष्य तया यथार्थं वस्तुहितं ततः तामुपहसितुमिव तथापि तच्चित्रपार्श्वे रतिचित्रमङ्कितमिति।

फिर यह कहती है 'तूने मुझे यहां क्यों चित्रित किया?' 'सखी विना कारण के रंज होती है। जैसा तुमने कामदेव का चित्र बनाया, वैसा ही मैंने रति का' 'दूसरी ही तरह सोचनेवाली तुम्हारे इस कथनसे क्या, सारी बातें कहो।' मित्र यह क्या गोरखधन्धा है?

राजा—मित्र, मैं सोचता हूँ किसीने स्नेहसे अपने प्रियतमका चित्र आंक और कामके बहाने उसे सखीसे छिपाना चाहा। सखी ताड़ गई, और उसने चतुरतापूर्वक रतिके छलसे उसे चित्रित कर दिया।

विदूषक—(चुटकी बजाकर) यह हो सकता है ऐसा ही है।

राजा—वयस्य तूष्णीं भव। पुनरप्येषा व्याहरति।

विदू०—भो एसा भणादि सहि मा लज्ज। ईदिसस्स कण्णारअणस्स अवस्सं एव्व ईदिसे वरे अहिलासेण होदव्वम्। भो वअस्स जा एसा आलिहिदा सा क्खु कण्णा दंसणीआ। (भो एषा भणति सखि मा लज्जस्व। ईदृशस्य कन्यारत्नस्यावश्यमेवेदृशे वरेऽभिलाषेण भवितव्यम्। भो वयस्य यैषाऽऽलिखिता सा खलु कन्या दर्शनीया।)

राजा—यद्येवमवहितौ शृणुवस्तावत्। अस्त्यत्रावकाशो नः कुतूहलस्य। (इत्युभावाकर्णयतः।)

विदूषकः—भो वअस्स सुदं तुए जं एदाए मन्तिदम्। सहि अवणेहि इमाइं णलिणीवत्ताइं मुणालवलआइं अ। अलं एदिणा। कीस अआरणे अत्ताणं आआसेसि। (भो वयस्य श्रुतं त्वया यदेतया मन्त्रितम्। सखि अपनयेमानि नलिनीपत्राणि मृणालवलयानि च। अलमेतेन। कथमकारण आत्मानमायासयसि।

राजा—वयस्य न केवलं श्रुतमभिप्रायोऽपि लक्षितः।

विदूषकः—भो मा तुमं पण्डिअव्वगव्वं उव्वह। अहं दे एदाए

तूष्णीं भव = मौनं भजस्व, येन शृणुवः सारिकया मन्त्र्यमाणं शेषं वृत्तमिति भावः।

दर्शनीया = द्रष्टुं योग्या, असाधारणरूपसम्पदुपेतेत्यर्थः।

अवहितौ = दत्तावधानौ। अवकाशः = स्थानम्। कुतूहलस्य = कौतुकस्य।

राजा—चुपचाप रहो। यह फिर बोलती है।

विदूषक—अजी, यह कहती है, 'सखी लज्जा मत करो, ऐसी कन्यारत्नका ऐसे वरमें अनुराग होना उचित ही है। मित्र, इसमें जो कन्या चित्रितकी गई है वह देखने लायक है।

राजा—यदि ऐसी बात है तब तो ध्यान देकर सुनें। इसमें हमारे लिये कुतूहलका स्थान है।

विदूषक—मित्र सुना आपने; यह कह रही है कि हटाओ इन नलिनीपत्रों और मृणालवलयों को। व्यर्थ क्यों अपने को थका रही हो?

राजा—मित्र, केवल सुनाही नहीं, अभिप्राय भी समझ लिया।

विदूषक—अजी, मत पाण्डित्यका गर्व करो। मैं भी तुम्हारी इस सारिकाके

मुहादो सुणिअ सव्वं वाक्खाणइस्सम्। ता सुणम्ह। अज्ज वि कुरकुर
अदि एव्व एसा सारिआ दासीएधीआ। (भो मा त्वं पाण्डित्यगर्वमुद्वह।
अहं त एतस्या मुखाच्छ्रुत्वा सर्वं व्याख्यास्यामि। तच्छृणुवः। अद्यापि कुरकुराय
एव एषा सारिका दास्याः पुत्री।)

राजा—युक्तमभिहितम्। (पुनराकर्णयतः।)

विदूषकः—भो वअस्स एसा क्खु सारिका दासीएदुहिदा चतुव्वे
बम्हणो विअ रिचाइं पढिदुं पवुत्ता। (भो वयस्य एषा खलु सारि
दास्या दुहिता चतुर्वेदी ब्राह्मण इव ऋचः पठितुं प्रवृत्ता।)

राजा—वयस्य कथय किमप्यन्यचेतसा मया नावधारितं किमनये
-क्तमिति।

विदूषकः—भो एदं एदाए पडिदम्। (भो एतदेतया पठितम्।)

दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गुरुई परव्वसो अप्पा।
पिअसहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं णवरमेक्कम्॥ ७॥

एतस्याः = सारिकायाः। सारिकामुखादाकर्ण्य स्वपाण्डित्यगर्वप्रकाशनं त
-नोचितमित्याशयः। कुरकुरायते = शब्दायते।

चतुर्वेदी = चतुरः वेत्ति इति तच्छीलः, चत्वारो वेदा यस्य स इति, चतुर्
वेदयो वा यस्येति वा न विग्रहः कार्य आद्ये 'न कर्मधारयादि'ति व्युत्पत्तिविरोधा
दन्त्ये नान्तत्वानापत्तेश्च। तस्मान्मदुक्त एव विग्रहः, तत्र वेदान् इति विशेष्यमध्या
:हार्यमिति चिन्तकाः। ऋचः = मन्त्रान्।

:मुखसे सुनकर सबका व्याख्यान कर सकता हूँ। अभी भी यह कलमुंही कुरकुरा
:ही रही है।

राजा—ठीक कहते हो। (दोनों सुनते हैं)

विदूषक—अजी मित्र, यह सारिका अभी भी चतुर्वेदी ब्राह्मण की तरह ऋचायें
बोल रही है।

राजा—बताओ तो इसने क्या कहा? मैं जरा अन्यमनस्क हो गया था।

विदूषक—इसने कहा कि—दुर्लभजन से स्नेह करती हूँ, लज्जा अधिक है

दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा।
प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं शरणं न वरमेकम्॥ ७॥

राजा—(सस्मितम्।) साधु भवन्तं महाब्राह्मणं मुक्त्वा कोऽन्य एवमृचामभिज्ञः।

विदूषकः—तदो किं णु क्खु एदं। (ततः किं नु खल्विदम्।)

राजा—ननु गाथेयम्।

विदूषकः—किं गाथा। (किं गाथा।)

राजा—कयापि श्लाघ्ययौवनया प्रियतममनासादयन्त्या जीवितनिरपेक्षयोक्तम्।

विदूषकः—(उच्चैर्विहस्य।) भो किं एदेहिं वक्कभणिदेहिं। उज्जु एव्व

दुर्लभजनानुराग इति। अस्य व्याख्या द्वितीयाङ्क प्रथमश्लोके द्रष्टव्या॥७॥

महाब्राह्मणम् = अभिधया प्रशंसा, व्यञ्जनया तु निन्दा, 'शङ्खे तैले तथा मांसे वैद्ये ज्योतिषिके द्विजे। यात्रायां पथि निद्रायां महच्छन्दो न दीयते' इति स्मरणान्निन्दाव्यञ्जना।

गाथा = प्राकृतभाषोपनिबद्धार्यादिच्छन्दो गीतिः। 'गाथा श्लोके संस्कृतान्यभाषायां गेयवृत्तयोः' इति मेदिनी।

श्लाघ्यम् = लोभनीयं यौवनं यस्यास्तया सुन्दर्या, प्रियतमम् = अभीष्टवल्लभम्। अनासादयन्त्या = अलभमानया। जीवितनिरपेक्षया = मर्तुं सन्नद्धया।

स्वतंत्र भी नहीं हूँ। प्रियसखि, इस स्थितिमें प्रेम करना भयानक है, अब तो मेरे लिये मृत्यु ही शरण है॥ ७॥

राजा—(हंसकर) ठीक है, ऐसे महाब्राह्मणको छोड़कर इन ऋचाओंको कौन समझेगा?

विदूषक—आखिर यह है क्या बला?

राजा—अजी यह गाथा है।

विदूषक—क्या गाथा?

राजा—किसी तरुणीने प्रियतमके नहीं मिलनेसे हताश होकर इस तरह कहा है।

विदूषक—(जोरसे हंसकर) इस तरह वक्रोक्ति क्यों करते हो। सीधे क्यों

किं ण भणासि जहा मं अणासादअन्तीएत्ति । अण्णहा को अण्णो कुसु मचावववदेसेण एवं णिण्हवीअदि । (भोः किमेतैर्वक्रभणितैः । ऋज्व्जेव किं न भणसि यथा मामनासादयन्त्येति । अन्यथा कोऽन्यः कुसुमचापव्यपदेशेन निहूयते !) हस्ततालं दत्त्वोच्चैर्विहसति ।)

राजा—(ऊर्ध्वमवलोक्य ।) धिङ् मूर्ख किमुच्चैर्हसता त्वयेयमुत्त्रासिता येनोड्डीयान्यत्र क्वापि गता ।

(उभौ निरूपयतः ।)

विदूषकः—(विलोक्य ।) भो एसा क्खु कअलीघरं एव्व गदा । ता एहि । लहुं अणुसरम्ह (भो एषा खलु कदलीगृहमेव गता । तदेहि । लघ्वनुसरावः ।)

राजा—

दुर्वारां कुसुमशरव्यथां वहन्त्या
कामिन्या यदभिहितं पुरः सखीनाम् ।

वक्रभणितैः = कुटिलैर्वचनैः । ऋजु = सरलम् । निहूयते = गोप्यते, कस्यान्यस्य कामसमा छवियं लिखित्वा कामव्यपदेशेनापह्नुवीत काचन वनिताऽतः कामसुन्दरस्य तवैवेयं यशोगाथेति विदूषकस्याभिप्रायः ।

दुर्वारामिति । दुःखेन कष्टेन वार्यते प्रतिक्रियत इति दुर्वारा ताम् असुखप्रतिकार्याम् कुसुमशरस्य कामस्य व्यथाम् कामदेवकृतामुत्पीडाम् वहन्त्या भुञ्जानया कामिन्या सुन्दर्या सखीनां समप्राणानां स्त्रीसुहृदाम पुरः अभिहितम् आत्मनोऽनुरू

नहीं कहते कि–मेरे नहीं मिलने से । अन्यथा कौन है ऐसा जो कामदेवके बहाने चित्रित किया जाय । (ताली देकर हंसना)

राजा—(ऊपरकी ओर देखकर) धिङ् मूर्ख, तुमने ठहाका लगाकर डरा दिया और यह उड़ गई ।

(दोनों देखते हैं)

विदूषक—(देखकर) यह तो कदलीगृहकी ओर गई है, जल्दी चलो पीछा करें।

राजा—दुर्दमनीय कामपीडाको सहती हुई कामिनी अपनी सखियों से

तद्भूयः शिशुशुकसारिकाभिरुक्तं
धन्यानां श्रवणपथातिथित्वमेति ॥ ८ ॥

विदूषकः—एदु एदु भवं। (एत्वेतु भवान्।) [परिक्रामतः।]

विदूषकः—भो एदं क्खु कअलीघरम्। जाव पविसम्ह। (भोः एतत्खलु कदलीगृहम्। यावत्प्रविशावः।)

(उभौ प्रविशतः।)

विदूषकः—भो गदा दासीएधीआ। एत्थ दाव मन्दमारुदुव्वेल्लन्तबालकअलीदलसीदले सिलातले उपविसिअ मुहुत्तअं वीसम्ह। (भोः गता दास्याःपुत्री। अत्र तावन्मन्दमारुतोद्वेल्लद्बालकदलीदलशीतले शिलातल उपविश्य मुहूर्तं विश्राम्यावः।)

गस्य व्यञ्जकं विलापादिकमुक्तम् तद् भूयः पुनः शिशवश्च शुकाश्च सारिकाश्च ताभिः उक्तम् धन्यानाम् भाग्यवताम् श्रवणस्य पन्थाः श्रवणपथः श्रोत्रविवरम्। 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' इति समासान्तोऽप्रत्ययः, तस्य अतिथित्वम् विषयभावम् एति गच्छति। स्वस्मिन्ननुरागं दधानया विरहिण्या स्वानुरागव्यञ्जकं सखीनां पुरतो यदुच्यते तद् बालकैः शुकैः सारिकाभिश्चावर्त्यमानं शृण्वन्तः पुरुषा धन्यास्तादृशसौभाग्यलाभादिति भावः। अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलंकारोऽनुप्रासश्च। प्रहर्षिणी वृत्तम्। तल्लक्षणं यथा—म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम् ॥ ८ ॥

मन्देति। मन्देन अनुल्बणेन मारुतेन वायुना उद्वेल्लन्ति कम्पमानानि यानि बालकदलीनां दलानि पत्राणि तैः शीतले शिशिरे। मन्दपवनचलितकदलीदलजनितशीतभावे इत्यर्थः। शिलातले = शिलाखण्डे।

कुछ कहती है, उसे सुनकर दुहराने वाली, शुकों सारिकाकी और बच्चों की शुभ बोली धन्य पुरुषही सुन पाते हैं ॥ ८ ॥

विदूषक—आइए। (दोनों चलते हैं)

विदूषक—यही तो कदलीगृह है। चलें इसमें प्रवेश करें।

(दोनों प्रवेश करते हैं)

विदूषक—यहां थोड़ा विश्राम करलें क्योंकि यहांका शिलातल हवासे चलित कदलीपत्रों द्वारा शीतल कर दिया गया है।

राजा—यदभिरुचितं भवते।

(इत्युपविशतः।)

राजा—(निःश्वस्य। दुर्वारामित्यादि पुनः पठति।)

विदूषकः—(पार्श्वतोऽवलोक्य।) भो एदेण क्खु उग्घाडिअदुवाए ताए सारिआए पञ्जरेण होदव्वम्। एसो वि सो चित्तफलओ। जाव णं गेण्हामि। भो वअस्स दिट्ठिआ वढ्ढसि। (भो एतेन खलूद्घाटितद्वारेण तस्याः सारिकायाः पञ्जरेण भवितव्यम्। एषोऽपि स चित्रफलकः। यावदेनं गृह्णामि। (फलकं गृहीत्वा निरूप्य च सहर्षम्।) भो वयस्य दिष्ट्या वर्धसे।

राजा—(सकौतुकम्।) वयस्य किमेतत्।

विदू०—भो एदं क्खु तं जं मए भणिदम्। तुमं ज्जेव एत्थ आलिहिदो। को अण्णो कुसुमचावव्ववदेसेण णिण्हवीअदित्ति। (भोः एतत्खलु तद्यन्मया भणितम्। त्वमेवात्रालिखितः। कोऽन्यः कुसुमचापव्यपदेशेन निहूयत इति।)

उद्घाटितद्वारेण = उन्मुक्तकपाटेन। 'स चित्रफलकः' यद्विषये सारिकावचनेनोत्कण्ठाऽऽविर्भावितेति योजनीयम्।

दिष्ट्या वर्धसे = महत्ते सौभाग्यमित्यर्थः।

अत्र विदूषकः—भो वयस्य, दिष्ट्या वर्धसे। राजा—(सकौतुकम्) 'कोन्यो···अपदिश्यते इत्यादिना तत्रावकाशो भवतः किमु स्यात्' इत्यन्तेन सन्दर्भेण राजविदूषकसागरिकासुसङ्गतानामन्योन्यवचनेनोत्तरोत्तरानुरागबीजोद्घाटनात्प्रगमनभितिप्रतिमुखसन्धेरङ्गमुक्तं वेदितव्यम्, 'प्रगमनं वाक्यं स्यादुत्तरोत्तरम्' इति च तल्लक्षणम्।

राजा—जैसी तुम्हारी इच्छा। (दोनों बैठते हैं)

राजा—(निःश्वास लेकर-'दुर्दमनीय कामपीड़ा' दुहराता है)

विदूषक—(चारों ओर देखकर) यही खुला हुआ सारिका का पिंजड़ा है, और यही चित्रफलक है। जब तक इसे लेलें। (फलकको देखकर, सहर्ष) बधाई है मित्र।

राजा—(कौतुकसे) यह क्या है?

विदूषक—यह वही है जो मैंने कहा था। तुमही इसमें चित्रित हो। दूसरा कौन कन्दर्पके छलसे चित्रित होगा?

राजा—(सहर्षं हस्तौ प्रसार्य ।) सखे दर्शय दर्शय ।

विदूषकः—ण दे दंसइस्सम् । सा वि कण्णआ एत्थ ज्जेव आलिहिदा चिट्ठदि । ता किं पारितोसिएण विणा ईदिसं कण्णारअणं दंसीअदि । (न ते दर्शयिष्यामि । सापि कन्यकात्रैवालिखिता तिष्ठति । तत्किं पारितोषिकेण विनेदृशं कन्यारत्नं दर्श्यते ।)

राजा—(कटकमर्पयन्नेव बलाद् गृहीत्वा विलोक्य सविस्मयम् ।)

लीलावधूतपद्मा कथयन्ती पक्षपातमधिकं नः ।
मानसमुपैति केयं चित्रगता राजहंसीव ॥ ९ ॥

पारितोषिकेण = प्रसादचिह्नभूतेनोपायनेन, परितोषः प्रयोजनमस्येत्यर्थे ठञ् ।

लीलावधूतेति । लीलया विलासेन स्वीयेन सौन्दर्यातिशयस्य विलासेनेत्याशयः, अवधूता तिरस्कृता पद्मा लक्ष्मीः यया सा लीलावधूतपद्मा निजसौन्दर्यपराजितश्रीका, पक्षे लीलया सलीलसंचरणेन अवधूतानि चालितानि पद्मानि कमलानि यया सा लीलावधूतपद्मा निजसलीलसञ्चरणचालितकमलवना चित्रगता चित्रफलके आलिखिता पक्षे चित्रं विचित्रं गतम् गमनं यस्याः सा चित्रगता विचित्रगमना इयम् चित्रे दृश्यमाना का कतमा नः अस्माकम् (सम्बन्धे) अधिकम् सविशेषम् पक्षे पातः पक्षपातः तम् पक्षपातम् अनुकूलभावम् (स चात्र स्वचित्रेण सह चित्रणं) राजहंसी मराली इव मानसम् मनः पक्षे तदाख्यम् सरः उपैति प्राप्नोति । अयमाशयः—यथा काचन मराली स्वसञ्चरणकम्पितपद्मवना विचित्रगमना पक्षौ कम्पयन्ती च मानसाख्यं सरो गाहते तद्वत् स्वसौन्दर्यलीलाविजितकमलासौन्दर्या स्वसहचित्रणेन मद्विषये समधिकं पक्षपातं प्रथयन्ती चित्रगता मम मनसि प्रविशन्ती च केयं ललनेति । 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिता' इति राजहंसीपरिचयः । श्लेषोपमे अलङ्कारौ । आर्याभेदो वृत्तम् ॥ ९ ॥

राजा—(सहर्ष हाथ फैलाकर) मित्र दिखाओ दिखाओ ।

विदूषक—आपको नहीं दिखाऊंगा । वह कन्याभी इसमें चित्रित है, क्या विना पारितोषिकके ही ऐसी कन्या दिखलाई जाती है ? ।

राजा—(कटक उतारकर देता हुआ बलात् लेकर, देखकर आश्चर्यसे)

अपनी लीलासे कमलको हिलाती हुई तथा हमारे ऊपर पक्षपात रखने वाली यह चित्रगता कौन रमणी है जो हमारे दिलमें पैठरही है जैसे अपनी चालसे कमलवनको कम्पित करने वाली राजहंसी मानसरोवरमें पैठ रही हो ॥ ९ ॥

अपि च—

विधायापूर्वपूर्णेन्दुमस्या मुखमभूद् ध्रुवम्।
धाता निजासनाम्भोजविनिमीलनदुःस्थितः॥ १०॥

(ततः प्रविशति सागरिका सुसंगता च।)

सुसं०—सहि ण समासादिदा अम्हेहिं सारिआ। ता चित्तफलअं पि दाव इमादो कदलीघरादो गेण्हिअ लहुं आगच्छम्ह। (सखि न समासादितावाभ्यां सारिका। तच्चित्रफलकमपि तावदस्मात्कदलीगृहाद् गृहीत्वा लघु आगच्छावः।)

साग०—सहि एवं करेम्ह। (सखि एवं कुर्वः।)

(उभे परिक्रामतः।)

विधायेति। धाता ब्रह्मा अस्याः कन्यायाः मुखम् अपूर्वपूर्णेन्दुम् पूर्वं निर्मितः इत्यपूर्वः पूर्वनिर्मितविलक्षणः तादृशम् पूर्णः अविकलकलः इन्दुः चन्द्रः तम् अपूर्वम् पूर्णेन्दुम् अपूर्वपूर्णेन्दुम् (कलङ्कराहित्यात्सदैव पूर्णत्वाच्चास्य मुखचन्द्रस्य अपूर्वत्वम्) विधाय सृष्ट्वा ध्रुवम् निश्चितम् निजं स्वीयम् यत् आसनमेव अम्भोजं कमलम् स्वावासपद्मम् तस्य विनिमीलनेन सङ्कोचेन दुःस्थितः कष्टां दशामापन्नः अभूत् सञ्जातः। एतन्मुखनिर्माणात् पूर्वं ब्रह्मणः कमलं चन्द्रमसः कलाभिः सह निमीलनं नापत्तस्य निश्येवोदयादधिकसमये कलावैकल्याच्च, एतन्मुखस्य तु सततोदितत्वेन सदा पूर्णकलत्वेन च तद्वासपद्मं सदा सङ्कुचदेव तिष्ठतीति महत्कष्टं ब्रह्मण आपतितमिति भावः। चन्द्रापेक्षया मुखे व्यतिरेको व्यङ्ग्यः। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः॥ १०॥

चित्रफलकमपीति। अयमाशयः-सारिका यस्या ग्रहणे आवामुद्युक्ते आ

और—विधाता इस नायिकाके अद्भुत पूर्ण चन्द्ररूप मुखका निर्माण कर एकबारगी अपने आश्रयभूत कमलके सङ्कुचित हो जानेसे उलझनमें पड़ होंगे॥ १०॥

(सागरिका तथा सुसंगता का प्रवेश)

सुसंगता—सखी, सारिकाको तो हम नहीं पासकीं, चित्रफलक तो इस कदली गृहसे लेती चलें।

सागरिका—हाँ, ऐसाही करूंगी। (दोनों चलती हैं)

विदूषकः—भो वअस्स कीस उण एसा अवणदमुही आलिहिदा ।
(भो वयस्य कस्मात्पुनरेषाऽवनतमुख्यालिखिता ।)

सुसं०—(आकर्ण्य ।) सहि जहा वसन्तओ मन्तेदि तहा तक्केमि भट्टिणा वि एत्थ ज्जेव्व होदव्वम् । ता कअलीगुम्मन्तरिदाओ भविअ पेक्खम्ह दाव । (सखि यथा वसन्तको मन्त्रयते तथा तर्कयामि भर्त्राप्यत्रैव भवितव्यम् । तत्कदलीगुल्मान्तरिते भूत्वा प्रेक्षावहे तावत् ।)

(उभे पश्यतः ।)

राजा—वयस्य पश्य पश्य । (विधायापूर्वपूर्णेन्दुमित्यादि पुनः पठति ।)

सुसं—सहि दिट्ठिआ वढ्ढसि । एसो दे हिअअवल्लहो तुमं ज्जेव्व णिव्वण्णअन्तो चिट्ठदि । (सखि दिष्ट्या वर्धसे । एष ते हृदयवल्लभस्त्वामेव निर्वर्णयंस्तिष्ठति ।)

साग०—(सलज्जम् ।) कीस परिहासशीलदाए इमं जणं लहुं करेसि ।
(कस्मात्परिहासशीलतयेमं जनं लघुं करोषि ।)

सा तु ग्रहीतुं न पारिता, अतोऽस्त्येवैकं रहस्योद्भेदद्वारम् , चित्रफलकमपि रहस्यांशतो भिन्द्यादतस्तदपि गोपयितुं प्रयतनीयमिति । अवनतमुखी = आनतवदना ।

भवितव्यम् = भूयते, वसन्तकशब्देन तत्सद्भावमनुमिमानया सख्या वसन्तकस्य राजसहचरत्वप्रत्ययेन राजसद्भावस्तर्क्यते, हस्तिदर्शनेन हस्तिपकस्यानुमानं यथा तथा । कदलीनाम् गुल्मः स्तम्बः तेन अन्तरिते प्रच्छन्ने । राजा तत्रास्ति न वा ? सन्नपि वा किञ्चेष्टयते ? इत्यादि वृत्तं कदलीवृक्षान्तरे आवां पश्याव इत्याशयः, तथा प्रच्छादनञ्च वासवदत्ताज्ञाऽनुरोधेन । पश्य पश्येति द्विरुक्तिराग्रहव्यञ्जनाय, स च राज्ञश्चित्रहृतचित्ततां गमयति ।

निर्वर्णयन् = निपुणं निरीक्षमाणः ।

परिहासशीलतया=विनोदप्रियतया । राजानुरागविषयतायां मादृशे जनेऽभावेन

विदूषक—मित्र, इसका सिर झुका हुआ क्यों चित्रित किया गया है ?

सुसंगता—(सुनकर) जब वसन्तक बोल रहे हैं तो मैं समझती हूँ महाराज भी यहीं होंगे । आओ इस कदलीवृक्षों की ओट से देखलें । (दोनों देखती हैं)

राजा—मित्र देखो, देखो, ('अद्भुत पूर्णचन्द्र' इत्यादि दुहराता है)

सुसंगता—सखी बधाई है, ये तुम्हारे हृदयवल्लभ तो तुम्हें ही निहार रहे हैं ।

सागरिका—(लजाते) क्यों खिल्लीमें मेरा अपमान कर रही हो ?

विदू०—(राजानं चालयित्वा ।) णं भणामि । कीस एसा अवण
आलिहिदेत्ति । (ननु भणामि । कस्मादेषाऽवनतमुख्यालिखितेति ।)

राजा—ननु सारिकयैव सकलमावेदितम् ।

सुसं०—सहि दंसिदं क्खु मेहाविणीए अत्तणो मेहावित्तणम् । (
दर्शितं खलु मेधाविन्याऽऽत्मनो मेधावित्वम् ।)

विदू०—भो वअस्स अवि सुहाअदि दे लोअणम् । (भो वयस्य
सुखयति ते लोचनम् ।)

साग०—(ससाध्वसमात्मगतम् ।) किं एसो भणिस्सदित्ति जं
जीविदमरणाणं अन्तरे वट्टामि । (किमेष भणिष्यतीति यत्सत्यं जीवितमरण
न्तरे वर्ते ।)

तथा कथनं मदुपहासो मम लघुत्वं व्यञ्जयेदलभ्यप्रार्थितयेति भावः ।

चालयित्वा = कम्पयित्वा, तदाकरणञ्च राज्ञोऽभिमुखीकरणार्थम्, एते
राज्ञोऽन्यमनस्कता चित्रगतचित्तता वा व्यञ्जिता ।

मेधावित्वम् = धारणाशालित्वम्, तथाधारणासद्भाव एव सकृदाकर्णितस्य
पस्याविकलमावर्त्तयितुं शक्यत्वात् । मेधावित्वमित्यत्र मेधाविन्या भावो मेधा
मिति न विग्रहः कार्यः, किन्तु मेधाविशब्दस्य सामान्यनपुंसकत्वमास्थाय त्व
कृत्वोक्तरूपमुपपाद्यम् । अन्यथा 'मेधाविनी' पदस्य तद्धितान्तत्वेन *गुणवाच
भावात् 'त्वतलोर्गुणवचनस्ये'ति पुंवद्भावो न स्यात् ।

सुखयति=आनन्दयति, सुखमस्त्यस्येति सुखि ततस्तत्करोतीति णिच्, टिलो

जीवितमरणयोः = जीवनस्य मरणस्य च । यदि सुखयतीदि स्वीकृति

विदूषक—(राजाको झुका कर) पूछ रहा हूँ इसका शिर झुका हुआ
चित्रित किया गया है ?

राजा—ये सारी बातें सारिका ही कह चुकी है ।

सुसंगता—मेधाविनी सारिकाने अपनी मेधा प्रकट कर दी ।

विदूषक—मित्र, क्या तुम्हारी आखोंको यह ठंडी कर रही है ?

सागरिका—(लज्जापूर्वक स्वगत) ये क्या कहते हैं, इस समय मैं जी
और मरणके बीचमें लटक रही हूँ ।

---

* गुणवचनशब्देन समस्तकृदन्ततद्धिताव्ययसर्वनामजातिसङ्ख्यासंज्ञाशब्दातिरिक्त
गृह्यते इत्याकडारसूत्रे भाष्यस्वरसः । तदभिप्रायोऽत्र प्रकाशयत्यः ।

राजा—सुखयतीति किमुच्यते।—

कृच्छ्रादूरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले
मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरङ्गविषमे निस्पन्दतामागता।
मद्दृष्टिस्तृषितेव संप्रति शनैरारुह्य तुङ्गौ स्तनौ
साकाङ्क्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने॥ ११॥

तद्धृदये स्थानलाभस्य सम्भावनया जीवितत्वम्, अथ निषेधकोटिस्तदा स्वावमाननाजन्यकष्टानुभवो मरणादतिरिच्यत इति तथोक्तिः।

किमुच्यते = कथनं विनापि तस्यार्थस्य मदीयचेष्टया त्वयानुमातुं शक्यत्वात्, ईदृशस्य रूपस्य विषये एतादृशस्य प्रश्नस्यारसिकैरेवोत्थापनीयत्वात्तदुत्तरणप्रयासस्य चानावश्यकत्वादिति भावः।

कृच्छ्रादिति। मम दृष्टिः मद्दृष्टिः कर्तृपदमिदम्, जातावेकवचनम्, अस्याः चित्रलिखितायाः सुन्दर्याः ऊर्वोः युगम् ऊरुयुगम् जङ्घायुगलम् कृच्छ्रात् प्रयासात् व्यतीत्य अतिक्रम्य। [ऊरुयुगव्यतिक्रमे प्रयासश्च तयोरन्योन्यमिलितत्वेन तत्र सञ्चारस्य दुष्करतया, तयोरतिशयशोभाशालितया ततः प्रयाणे दृष्टेरनीहया वा। नितम्बस्थले कटिपश्चाद्भागे सुचिरम् बहुकालपर्यन्तं भ्रान्त्वा चङ्क्रमणं विधाय। एतेन नितम्बस्यायामशालित्वं व्यज्यते तथासत्येव चिरभ्रमणावसरसम्भवात्। (ततः उपर्यारोहणे) तिस्रः वल्यः त्रिवली उदरवर्त्तिरेखाचिह्निता स्थली, 'दिक्सङ्ख्ये संज्ञायाम्' इति समासः। तस्याः तरङ्गैः (तरङ्गवत् निम्नोन्नतैरवस्थानैः) विषमे कठिनसञ्चारे मध्ये मध्यभागे निःस्पन्दताम् गतिराहित्यम् आगता प्राप्ता। कठिनसञ्चारे मध्यभागे भ्रमन्त्याः दृष्टेरशक्त्या गतिरोधस्यावश्यंभावात्। (गतिरोधजनके दुर्गमेऽपि प्रयासमास्थाय चरन्ती) [मद्दृष्टिः] तृषिता समुत्पन्नपिपासा इव शनैः मन्दं मन्दम् तुङ्गौ उन्नतौ स्तनौ कुचौ आरुह्य आक्रम्य सम्प्रति आरोहानन्तरम् जलस्य अश्रुपयसः लवान् कणान् प्रस्यन्दयति स्रावयतीति जललवप्रस्यन्दि तद्द्विवचने जललवप्रस्यन्दिनी अश्रुपयःकणाविले लोचने नयने साकाङ्क्षम् आकाङ्क्षा

राजा—अच्छी लगती है इसके बारेमें क्या कहना है, देखो—

किसी तरह ऊरु देशको लांघकर और देरतक नितम्बों पर चक्कर काटकर इसकी त्रिवली रूप तरङ्गोंसे उलझी हुई मेरी आंखें प्यासी सी होकर धीरे-धीरे इसके ऊंचे स्तनों पर चढ़कर जलकी बूंदें गिराती हुई इसकी आंखोंको उत्सुकतासे देख रही हैं॥ ११॥

सुसं०—सहि सुदं तुए। (सखि श्रुतं त्वया।)

साग०—(विहस्य।) तुमं एव्व सुणु जाए आलेहविण्णाणं ए
वण्णीअदि। (त्वमेव शृणु यस्या आलेख्यविज्ञानमेवं वर्ण्यते।)

विदूषकः—भो वअस्स जस्स उण ईदिसीओ वि एव्वं समागमं ब
मण्णन्ति तस्स वि अत्तणो उवरि को पराहवो जेण एत्थ एव्व ता
आलिहिदं अत्ताणअं ण पेक्खसि। (भो वयस्य यस्य पुनरीदृश्योऽप्येवं सम
गमं बहु मन्यन्ते तस्याप्यात्मन उपरि कः परिभवः येनात्रैव तयाऽऽलिखितमात्म
न प्रेक्षसे।)

अभिलाषस्तया सहितं यथा स्यात्तथा मुहुः वारं वारम् ईक्षते पश्यति। मम नय
मेतच्चित्रविलोकनेऽतिप्रयासेनोरुयुगादग्रेगत्वा नितम्बदेशे च भ्रान्त्वा भ्रान्तं स
त्रिवल्या विषमे मध्यभागे सञ्चरणासमर्थमिव निःस्पन्दभावमालम्ब्य यथाकथञ्चि
स्थाय तृषामिवानुभवदुच्चौ स्तनावारुह्य साश्रे नयने साकाङ्क्षमीक्षते, अन्योऽ
कश्चित्पथिको यथा क्वचित्पर्वतोपत्यकायां भ्रमन् क्वचन सङ्कीर्णं पन्थानं कथञ्चिदति
क्रम्य दैवान्महति चत्वरे सञ्चरणात्सञ्जातश्रमतयाऽऽत्मानमशक्तमिवानुभव
गमनस्यावश्यकत्वेन प्रेर्यमाणः काञ्चिदुच्चां शिलामारुह्य श्रमापनुत्तये तृषां शम
कुतश्चन रन्ध्रात्स्रवत्स्रोतः साभिलाषमवलोकते तद्वदिति भावः। उत्प्रेक्षाऽलङ्कार
शार्दूलविक्रीडितं वृत्तं, लक्षणं प्रागुक्तम् ॥ ११ ॥

आलेख्यविज्ञानम् = चित्रनिर्माणपाटवम्। त्वया मम चित्रं लिखितं तदेव भ
वर्णयति तत्त्वदीयमेव चित्रनिर्माणपाटवं स्तूयते तेन तवैव तच्छ्रवणेऽधिकारो
ममेति भावः।

ईदृश्यः=यासु तवापि चक्षू रज्यति तादृश्यः। बहु मन्यन्ते=हृदयेन कामयन्ते
तस्यापि=स्वकाम्यमानसुन्दरीजनसमाद्रियमाणस्यापि तव। आत्मन उपरि=
स्वविषये। परिभवः = अनादरः। अत्रैव = अस्मिन्नेव चित्रफलके, एतेन प्रयत्न
न्तरानपेक्षोक्ता।

सुसङ्गता—सखी, सुना तुमने ?

सागरिका—सुनो तुम, जिसकी चित्राङ्कन-कलाकी ऐसी प्रशंसा की जा रही है

विदूषक—मित्र, जिसके समागमको ऐसी सुन्दरियाँ भी चाहती हों, उस
अपने प्रति ऐसा अनादर कि आप इसी फलक पर उतारी गई अपनी छवि
दृष्टिपात तक नहीं करते।

राजा—(निर्वर्ण्य ।) वयस्य अनयाऽऽलिखितोऽहमिति यत्सत्यं ममात्मन्येव बहुमानस्तत्कथं न पश्यामि । पश्य—

भाति पतितो लिखन्त्यास्तस्या बाष्पाम्बुशीकरकणौघः ।
स्वेदोद्गम इव करतलसंस्पर्शादेष मे वपुषि ॥ १२ ॥

सागरिका—(आत्मगतम् ।) हिअअ समस्सस समस्सस । मणोरथो वि दे एत्तिअं भूमिं ण गदो । (हृदय समाश्वसिहि समाश्वसिहि । मनोरथोऽपि त एतावतीं भूमिं न गतः ।

बहुमानः = अत्यादरः, स चैतादृशसुन्दरीकर्तृकस्वचित्राङ्कनानुमिततदनुरागपात्रताया आत्मनि प्रत्ययेन ।

भातीति । लिखन्त्याः मम चित्रमङ्कयन्त्याः तस्याः बाष्पाम्बुशीकरकणौघः बाष्पाम्बूनाम् अश्रुजलानाम् शीकराः बिन्दवः तेषाम् कणाः अतिसूक्ष्मांशाः तेषाम् ओघः समूहः मे मम चित्राङ्किताया मम मूर्तेरित्यर्थः, वपुषि तनौ पतितः विप्रकीर्णः, तस्याः चित्राङ्केन मयि स्नेहं प्रदर्शयन्त्याः सुन्दर्याः करतलसंस्पर्शात् चित्रनिर्माणनान्तरीयकतया जायमानात् पाणिसम्पर्कात् स्वेदोद्गमः (जायमानः सात्त्विकभावरूपः) घर्मोदयः इव भाति शोभते । मां लिखन्त्या नयनाभ्यां पतताश्रुणः कणेन यन्मम चित्रे पतितं मन्ये मम तत्करस्पर्शेन स्वेदोद्गम इव तदजायतेति भावः । असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिः ॥ १२ ॥

समाश्वसिहि = धैर्यं धारय । एतावतीं भूमिं न गतः = एतत्पर्यन्तं न प्रसृतः, यावत्पर्यन्तं त्वं स्वसाफल्यमकामयथास्ततोऽधिकं साफल्यं जातं यद्भर्त्राऽऽत्मनेत्यमुक्तम् ।

राजा—(देखकर) इसने मुझे चित्रित किया है इससे मेरा आदर अपने प्रति बढ़ गया है, फिर देखूँगा क्यों नहीं ? देखो—चित्र बनाते समय उसके हाथकी कुछ स्वेद-बिन्दुएं हमारे चित्र पर पड़ गयी हैं वे ऐसी मालूम पड़ती हैं मानो उसके हाथके स्पर्शसे हमारी देह में पसीना चल पड़ा हो ॥ १२ ॥

सागरिका—(स्वगत) हृदय, धीरज धरो २, तुम्हारा तो इतना बड़ा मनोरथ भी नहीं हुआ।

सुसं०—सहि तुमं एव्व एका सलाहणीआ जाए भट्टा वि एवं म-अदि। (सखि त्वमेवैका श्लाघनीया यथा भर्ताप्येवं मन्यते।)

विदूषकः—(पार्श्वतोऽवलोक्य।) भो वअस्स एदं सरसकमलिणीद-मुणालविरइदं ताए एव्व मअणावत्थासूअअं सअणीअं लक्खीअदि। (भो वयस्य एतत्सरसकमलिनीदलमृणालविरचितं तस्या एव मदनावस्थासू-शयनीयं लक्ष्यते। (

राजा—वयस्य निपुणमुपलक्षितम्। तथा हि—

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत-
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।

एका=सजातीयद्वितीयरहिता, एतेन भर्त्तुः सर्वाधिकस्त्वयि राग उक्त इति व्यञ्जितम्।

तस्याः-यस्या विषये त्वमेवमात्थ, यया चैतच्चित्रमङ्कितम्। सरसकमलिनीद-मृणालविरचितम्=प्रत्यग्राहृतैर्नलिनीपत्रैर्मृणालैश्च निर्मितम्। मदनावस्थासूचकम् कामदशाप्रत्यायकम्, शयनीयम्=(शेतेऽत्रेत्यधिकरणेऽनीयर्बाहुलकात्) शय्या।

निपुणम्=युक्तम्, उपलक्षितम्=तर्कितम्। कामावस्थाशयनीयमिदमिति यत्त्वया तर्कितं तद्युक्तमूहितमित्यर्थः।

परिम्लानमिति। पीनस्तनजघनसङ्गात् स्तनौ च जघनं च स्तनजघनं प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः पीनं च तत्स्तनजघनम् पीनस्तनजघनम् तस्य सङ्गात् सम्पर्कात् उभयतः द्वयोर्भागयोः परिम्लानम् सर्वतः म्लापितम्। स्तनजघनवर्तितापसम्पर्कात्तदुभयभागावच्छेदेनातिम्लायदित्यर्थः। तनोः कृशस्य मध्यस्य अन्तः मध्यभागे परिमिलनम् सम्पर्कम् अप्राप्य अनासाद्य हरितम् अग्लपितम्। म-

---

सुसंगता—सखी, इसमें तुम्हारी ही तारीफ है जो राजा द्वारा इस तरह वर्णित होती हो।

विदूषक—(इधर उधर देखकर) यह ताजे कमलपत्र और मृणालोंसे बना गया शयनीय उसीकी कामावस्था का सूचक मालूम पड़ रहा है।

राजा—मित्र, तुमने ठीक समझा है, क्योंकि—

स्थूल स्तन और जघन देश जहां आकर मिला वह स्थान मुरझा हुआ। मध्यभाग में क्षीणता के कारण जितने अंशमें स्पर्श नहीं हुआ उतना भाग हरा

इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्गयाः संतापं वदति नलिनीपत्रशयनम् ॥ १३ ॥

अपि च—

स्थितमुरसि विशालं पद्मिनीपत्रमेतत्-
कथयति न तथान्तर्मन्मथोत्थामवस्थाम्।
अतिगुरुपरितापम्लापिताभ्यां यथास्याः
स्तनयुगपरिणाहं मण्डलाभ्यां ब्रवीति ॥ १४ ॥

भागस्य कृशत्वेन नितम्बकुचदेशयोः स्थूलतया च शयानायास्तस्या मध्यभागस्योपरि स्थितत्वेन तदसंसक्तं तदधः शयनीयमसन्तप्तत्वेन हरितमिव प्रतिभासत इति भावः। (तथा) श्लथे मनसिजतापप्रभावात्स्वधारणासमर्थे ये भुजौ लते इव भुजलते तयोः आक्षेपाः इतस्ततः प्रक्षेपाः वलनानि चलनानि च तैः व्यस्तः विघटितः न्यासः रचना यस्य तत् व्यस्तन्यासम् इदम् पुरोवर्त्ति नलिनीपत्रशयनम् कमलिनीदलनिर्मितं शयनीयम् कृशाङ्गयाः तन्व्याः सन्तापम् कुसुमशरप्रहारजन्यपीडाम् वदति कथयति। अत्राचेतनस्य शयनीयस्य वदनमनुपपद्यमानमाविष्कारं लक्षयति तदतिशयश्च व्यङ्गयः। शिखरिणी वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' इति ॥ १३ ॥

स्थितमिति। अस्याः एतच्छयनीये किञ्चित्कालं पूर्वं शयितवत्याः सुन्दर्याः उरसि वक्षसि स्थितम् लब्धवासम् विशालम् दीर्घम् एतत् पद्मिनीपत्रम् नलिनीदलम् तथा तेन प्रकारेण (तावतांशेन) अतिगुरुपरितापम्लापिताभ्याम् अतिमहता सन्तापेन कदर्थिताभ्याम् मण्डलाभ्याम् मण्डलाकृतिशोषचिह्नाभ्याम् अन्तर्मन्मथोत्थाम् अन्तर्वर्त्तिकामकृताम् अवस्थाम् स्थितिम् न ब्रवीति प्रकाशयति यथा यावतांशेन स्तनयुगपरिणाहम् स्तनद्वयविशालताम् ब्रवीति प्रकाशयति। 'परिणाहो विशालता'

रहा। हाथोंके पटकनेसे कुछ अग्रिमभाग अस्त-व्यस्त हो रहा है, इस तरह यह शयनीय उस कृशाङ्गीकी काम-पीड़ाको सूचित कर रहा है ॥ १३ ॥

और—यह विशाल कमलिनी दल, जिसे सन्ताप-शान्त्यर्थ हृदय पर रखा गया था, और जिस पर मण्डलाकार शोष चिह्न बन गया है, उस तरह स्पष्टतापूर्वक उसकी मानस कामपीड़ाको नहीं बताता है, जितनी खूबीके साथ उसके स्तनद्वयकी विशालताको ॥ १४ ॥

विदूषकः—(नाट्येन मृणालिकां गृहीत्वा।) भो वअस्स अअं अवरो ताए एव्व पीणत्थणुम्हाकिलिस्सन्तकोमलमुणालहारो। ता पेक्खदु भवं। (भो वयस्य अयमपरस्तस्या एव पीनस्तनोष्मक्लिश्यमानकोमलमृणालहारः। तत्प्रेक्षतां भवान्।)

राजा—(गृहीत्वोरसि विन्यस्य।) अयि जडप्रकृते—

परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात्-
किं शोषमायासि मृणालहार।

इत्यमरः। अयमाशयः—अनया सन्तापशान्तये हृदि न्यस्तपूर्वमेतत्पद्मपत्रं स्तनोष्मणा मण्डलाकारेण शुष्कमजनि, तेन चाधुना दृश्यमानेन तथा तत्तापो न प्रख्यायते यथा स्तनपरिणाहः प्रकाश्यत इति। मालिनी वृत्तम्। 'न न म य ययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति च तल्लक्षणम्॥ १४॥

मृणालिकाम् = मृणालनिर्मितां सन्तापशान्तावुपयुज्यमानां मालाम्।

पीनस्तनोष्मक्लिश्यमानकोमलमृणालहारः = पीनौ स्थूलौ यौ स्तनौ कुचौ तयोः य ऊष्मा कामवह्निजनितो दाहः तेन क्लिश्यमानः म्लानीकृतः यः मृणालस्य कमलनालस्य हारः माला।

गृहीत्वा = आदाय, मालामिति शेषः। विन्यस्य=आधाय, तथाकरणं च स्नेहपात्रोपभुक्ते वस्तुनि ममत्वव्यञ्जनद्वारा स्वस्नेहिजनेऽनुरागप्रकर्षमावेदयतीति बोध्यम्।

जडप्रकृते=अचेतन, एतेन तस्य ज्ञानरहितत्वेन वृथाखेदानुभवस्योपहासः कृतः।

परिच्युत इति। मृणालहार हे कमलनालनिर्मितमाले तत्कुचकुम्भमध्यात् कुचौ कुम्भौ इव कुचकुम्भौ 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति समासः। तस्याः कुचकुम्भौ तत्कुचकुम्भौ तयोः मध्यात् मध्यभागात् परिच्युतः स्खलितः (त्वम् इति) किम् पुनः शोषम् शुष्कताम् आयासि प्रपद्यसे। तत्कुचकुम्भद्वयान्तराले स्थानानुपलब्धिकृतस्तव खेदः किमर्थं इति भावः। तावकस्य सूक्ष्मतन्तोः अतिकृशस्य सूत्रस्य अपि तत्र तत्कुचकुम्भान्तरे अवकाशः स्थानम् न स्यादिति

विदूषक—(अभिनयपूर्वक मृणालिकाको उठाकर) यह भी उसीके पीनस्तनोंके सन्तापसे झुलसा हुआ मृणालहार है। आप इसे तो देखिये।

राजा—(लेकर कलेजे पर रखकर) ओ जड़ प्रकृति !

उसके कुचकुम्भों पर तुम नहीं रह सके इसमें सूखनेकी कौनसी बात है।

न सूक्ष्मतन्तोरपि तावकस्य
तत्रावकाशो भवतः किमु स्यात् ॥ १५ ॥

सुसं०—(स्वगतम् ।) हद्धी हद्धी । गुरुआणुराओक्खित्तहिअओ भट्टा असंबद्धं पि मन्तेदुं पउत्तो । ता ण जुत्तं अदो वरं उवेक्खिदुम् । भोदु । एव्वं दाव । सहि । जस्स किदे तुमं आगदा सो अअं ते पुरदो चिट्ठदि । (हा धिक् हा धिक् । गुर्वनुरागोत्क्षिप्तहृदयो भर्ताऽसंबद्धमपि मन्त्रयितुं प्रवृत्तः । तन्न युक्तमतः परमुपेक्षितुम् । भवतु । एवं तावत् । (प्रकाशम् ।) सखि । यस्य कृते त्वमागता सोऽयं ते पुरतस्तिष्ठति ।)

साग०—(सासूयम् ।) सुसंगदे कस्स किदे अहं एत्थ आगदा । (सुसंगते कस्य कृतेऽहमत्रागता ।)

शेषः, (तदा) भवतः किमु स्यात् । तयोः कुचयोरत्यर्थपरिणाहितया मृणालसूत्रस्यापि प्रवेशस्य तयोरन्तराले असम्भवेन मृणालहारस्य यदि नावकाशस्तत्र तदा न खेत्तव्यं मृणालहारेणेति भावः । उपजातिश्छन्दः, तल्लक्षणं यथा 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः, उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ । अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' इति ॥ १५ ॥

गुर्वनुरागोत्क्षिप्तहृदयः=गुरुः दुर्दमनीयः यः अनुरागः प्रेम तेन उत्क्षिप्तम् आकुलितम् हृदयं चेतः यस्य सः महतानुरागेण भ्रान्तचित्त इत्यर्थः । असम्बद्धम् = असमञ्जसम् , जडेपि मृणालहारे चेतनवद्व्यवहारात्तस्य भ्रान्तचित्तत्वं प्रतीत्येत्युक्तम् । न युक्तमुपेक्षितुम् = सागरिकासङ्गमायोत्ताम्यतोऽस्य तस्या दर्शने विलम्बेनालं तेन तदर्थं मया यतनीयमिति भावः । यस्य = राज्ञः चित्रफलकस्य वेति द्व्यर्थं सुसङ्गतावचनम् ।

कस्य कृतेऽहमागता = एतद्वचनं स्वस्यागमने कारणं विस्मृतं प्रत्याययति, तेन चोन्मादावस्था व्यज्यते ।

उसमें तुम्हारे सूक्ष्मतन्तुके लिये भी जब जगह नहीं तब तुम्हारे लिये कहांसे होती ? ॥ १५ ॥

सुसंगता—(स्वगत) हाय ! गहरे स्नेहसे व्याकुल-हृदय होकर हमारे स्वामी अब कुछ असंबद्ध भी बोलने लगे । अब उपेक्षा करना भला नहीं है । अच्छा, तबतक यही सही (प्रकाश) सखि, जिसके लिये तू आयी थी वह तो तुम्हारे सामने ही है ।

सागरिका—(भौंह टेढ़ी करके) सुसङ्गता, मैं किसके लिये यहाँ आयी थी ?

सुसं०—(विहस्य ।) अइ अण्णसङ्किदे णं चित्तफलअस्स । ता गेण्ह एदम् । (अयि अन्यशङ्किते ननु चित्रफलकस्य तद् गृहाणैतम् ।)

साग०—(सरोषम् ।) अकुसलम्हि तुह ईदिसाणं आलावाणम् । ता अण्णदो गमिस्सम् । (अकुशलास्मि तवेदृशानामालापानाम् । तदन्यतो गमिष्यामि । (इति गन्तुमिच्छति ।)

सुसं०—(सागरिकां हस्ते गृहीत्वा ।) अइ असहणे इह चिट्ठ दाव मुहुत्तअं जाव इमादो कदलीघरादो चित्तफलअं गण्हिअ आअच्छामि । (अयि असहने इह तिष्ठ तावन्मुहूर्तं यावदस्मात्कदलीगृहाच्चित्रफलकं गृहीत्वागच्छामि ।)

साग०—सहि एव्वं करेहि । (सखि एवं कुरु ।)

(सुसंगता कदलीगृहाभिमुखं परिक्रामति ।)

विदू०—(सुसंगतां दृष्ट्वा ससंभ्रमम् ।) भो वअस्स पच्छादेहि एदं चित्तफलअं । एसा क्खु देवीए परिचारिआ सुसंगदा आगदा । (भो वयस्य प्रच्छादयैतं चित्रफलकम् । एषा खलु देव्याः परिचारिका सुसंगतागता ।)

अन्यशङ्किते = मां प्राणप्रियामपि सखीमन्यत्वेन शङ्कमाने, येनैवं स्वागमनकारणज्ञानमपलपसीति भावः । एतम् = चित्रफलकम्, भर्त्तारं वेति द्व्यर्थम् ।

सरोषम् = रोषश्च सुसङ्गतोक्तेर्द्वितीयार्थमनुसन्धाय, स च नवसमागमतरुणीस्वभावसम्भवः । अकुशला = अदक्षा, अनभिज्ञा ।

असहने = कोपने, मुहूर्त्तम् = किञ्चित्क्षणपर्यन्तम् ।

ससम्भ्रमम् = सभयम्, स च देवीपरिचारिकागमनजन्यः, तयाऽस्य रहस्यव्यापारस्य देव्यै निवेदयितुं शक्यत्वाद्भयम् ।

सुसंगता—(हंसकर) तुम्हें तो सब जगह दूसरी ही शङ्का रहती है । चित्रफलकके लिये आई थी, लेलो वह ।

सागरिका—(रोषपूर्वक) मैं तुम्हारी ये सारी बातें नहीं समझती, मैं यहांसे चली जाऊंगी (जाना चाहती है)

सुसंगता—(सागरिकाका हाथ पकड़कर) अरी बिगड़ैल, थोड़ी देर यहां ठहर, जब तक मैं इस कदलीगृहमेंसे चित्रफलक लिये आती हूँ ।

सागरिका—हाँ, ऐसा हो करो । (सुसंगता कदलीगृहकी तरफ चलती है)

विदूषक—(सुसंगताको देख घबड़ाकर) मित्र, इस चित्रपटको छिपाओ, यह महारानीकी परिचारिका सुसंगता आरही है ।

(राजा पटान्तेन फलकं प्रच्छादयति ।)

सुसं०—(उपसृत्य ।) जअदु जअदु भट्टा । (जयतु जयतु भर्ता ।)

राजा—सुसंगते स्वागतम् । इहोपविश्यताम् ।

(सुसंगतोपविशति ।)

राजा—सुसंगते कथमहमिहस्थो भवत्या ज्ञातः ।

सुसं०—(विहस्य ।) भट्टा ण केवलं तुमं अअं पि चित्तफलएण सह सव्वो वुत्तन्तो मए विण्णादो। ता गदुअ देवीए णिवेदइस्सम् । (भर्तः, न केवलं त्वमयमपि चित्रफलकेन सह सर्वो वृत्तान्तो मया विज्ञातः। तद्गत्वा देव्यै निवेदयिष्यामि ।)

विदू०—(अपवार्य सभयम् ।) भो वअस्स सव्वं संभावीअदि। मुहरा क्खु एसा गब्भदासी। ता पारितोसिएण संपीणेहि णम् । (भो वयस्य सर्वं संभाव्यते । मुखरा खल्वेषा गर्भदासी । तत्पारितोषिकेण संप्रीणयैनाम् ।)

राजा—युक्तमुक्तं भवता । (सुसङ्गतां हस्ते गृहीत्वा ।) सुसंगते क्रीडामात्रमेवैतत् । अकारणं त्वया देवी न खेदयितव्या । इदं ते पारितोषिकम् । (कर्णाभरणं प्रयच्छति ।)

मुखरा = बहुभाषिणी । सम्प्रीणय = प्रसादय । (येनेयं त्वदीयमिदं रहस्यं देव्यै न निवेदयेत्)

क्रीडामात्रम् = न वस्तुतत्त्वम्, अत एतस्य देव्यै निवेदनं न युज्येतेति भावः ।

(राजा चित्रपटको चादरमें छिपाता है)

सुसंगता—जय हो महाराज की ।

राजा—सुसंगते, स्वागत, यहाँ बैठो । (सुसंगता बैठती है)

राजा—सुसंगते, मैं यहां हूँ यह खबर तुम्हें कैसे लगी ?

सुसंगता—(हंसकर) मैं इतनी ही नहीं, चित्र-फलकके विषयमें भी पूरी जानकारी रखती हूँ । सब जाकर देवीसे कहूँगी ।

विदूषक—(मुंह फेरकर, सभय) मित्र, इससे सब संभव है। यह दासी बड़ी मुंहफट है, इसे पारितोषिक देकर तृप्त करें ।

राजा—तुम ठीक कहते हो । (सुसंगताका हाथ पकड़कर) अरी सुसंगता, यह सब क्रीडामात्र है, व्यर्थं तुम देवीको तकलीफ मत पहुँचाना, यह रहा तुम्हारा पारितोषिक । (कर्णाभरण देता है)

सुसं०—(प्रणम्य सस्मितम् ।) भट्टा अलं सङ्काए । मए वि भट्टिणो पसाएण कीलिदं एव्व । ता किं कण्णाभरणेण । एसो ज्जेव मे गुरुओ पसाओ जं कीस तुए अहं एत्थ चित्तफलए आलिहिदत्ति कुविदा मे पिअसही साअरिआ । ता गदुअ पसादेदु णं भट्टा । (भर्तः अलं शङ्कया । मयापि भर्तुः प्रसादेन क्रीडितमेव । तत्किं कर्णाभरणेन । एष एव मे गुरुः प्रसादो यत्कस्मात्त्वयाहमत्र चित्रफलके आलिखितेति कुपिता मे प्रियसखी सागरिका । तद्गत्वा प्रसादयत्वेनां भर्ता ।)

राजा—(ससंभ्रममुत्थाय ।) कासौ कासौ ।

सुसं०—इदो इदो भट्टा । (इत इतो भर्ता ।)

विदू०—भो गण्हामि एदं चित्तफलअम् ! कदा वि पुणो वि एदिणा कज्जं भविस्सदि । (भो गृह्णाम्येतं चित्रफलकम् । कदाऽपि पुनरप्येतेन कार्यं भविष्यति ।)

भर्तुः प्रसादेन = तव प्रसन्नतामनुमाय, क्रीडितम् = तव सर्वोऽपि वृत्तान्तो मया ज्ञायत इति विनोद एव कृतः, न त्वत्र मम मनोबन्धोऽतो रहस्यमिदं सत्यतो प्रतीत्य देव्यै निवेदयिष्यामीति मा शङ्किष्ठा इति तदाशयः । गुरुः प्रसादः = महत्पारितोषिकम् । तव चित्रं सागरिकाऽङ्कितवती, तत्पार्श्वे चाहं तस्याश्चित्रं निरमां तेन मम सखी सागरिका मयि कोपमधात् , तत्सत्यं यदि मयि प्रसन्नोऽसि तर्हि गत्वा मम सखीमपगतरुषं विधेहि स एव मयि ते महाननुग्रहः स्यादिति प्रघट्टकार्थः।

ससम्भ्रमम् = वेगेन, स चात्रात्युत्कण्ठां सूचयति ।

सुसंगता—(प्रणाम करके, हंसकर) महाराज, आपको व्यर्थ सन्देह होता है मैं भी तो आपकी कृपासे विनोद ही कर रही थी । यह कर्णाभरण क्यों दे रहे हैं मेरी सखी सागरिका मुझपर बहुत बिगड़ी हुई है कि इस चित्रपट पर तूने मेरी छवि क्यों अङ्कित की अतः आप यदि प्रसन्न हैं तो जाकर उसे मनावें मेरे लिये सबसे बड़ा पारितोषिक यही होगा ।

राजा—जल्दीसे उठकर वह कहां है, कहां है ।

सुसंगता—महाराज, इधर आवें ।

विदूषक—यह चित्रफलक रखलूं। कभी फिर इसकी जरूरत पड़ सकती है

सुसं०—भट्टा इयं सा। (भर्तः इयं सा।)

(सर्वे कदलीगृहान्निष्क्रामन्ति।)

साग०—(राजानं दृष्ट्वा सहर्षं ससाध्वसं सकम्पं च स्वगतम्।) हद्धी हद्धी। एदं पेक्खिअ अतिसद्धसेण न सक्कणोमि पदादो पदं वि गन्तुम्। ता किं दाणिं एत्थ करिस्सम्। (हा धिक् हा धिक्। एतं प्रेक्ष्याति-साध्वसेन न शक्नोमि पदात्पदमपि गन्तुम्। तत्किमिदानीमत्र करिष्यामि।)

विदू० (सागरिकां दृष्ट्वा।) ही ही भाः अच्चरिअं अच्चरिअम्। ईदिसं रूवं माणुसलोए ण पुणो दीसदि। ता तक्केमि पआवइणो वि एदं णिम्मविअ विम्हओ समुप्पण्णोत्ति। (ही ही भोः आश्चर्यमाश्चर्यम्। ईदृशं रूपं मनुष्यलोके न पुनर्दृश्यते। तत्तर्कयामि प्रजापतेरप्येतन्निर्माय विस्मयः समुत्पन्न इति।)

राजा—वयस्य ममाप्येवं मनसि वर्तते।

सा = सागरिका। अत्र 'सुसङ्गता' 'प्रसादयतु' इत्यनेन सन्दर्भेण सुसंगता-वचसा 'सागरिका मयाऽऽलिखिता तया च त्वमि'ति सूचयता प्रसादोपन्यासेन बीजोद्भेदनादुपन्यास इति प्रतिमुखसन्धेरङ्गमिदमिति, 'क्वासौ क्वासौ' इत्यत्र च सागरिकानुरागबीजस्य दृष्टनष्टस्य वत्सराजेनानुसरणात्परिसर्प इति प्रतिमुखसन्धे-रङ्गमुक्तमिति चावगन्तव्यम्।

सहर्षम् = अभीष्टजनदर्शनजन्मात्र हर्षः। ससाध्वसम् = आकस्मिकेन प्रिय-दर्शनेन साध्वसम्, सकम्पम् = कम्पोऽपि तथैव। साध्वसेन = भयेन, पदात्पदम् = एकमपि पदम्, अतो नास्ति पलायनोपाय इति भावः।

प्रजापतेः = ब्रह्मणः। एतत् = अस्या रूपम्। विस्मयः = आश्चर्यम्।

एवम् = यथा त्वयोक्तं तथा।

सुसंगता—महाराज, यही तो है वह। (कदली-गृहसे सब निकलते हैं।)

सागरिका—(राजाको देखकर, हर्ष लज्जा और कम्पके साथ, स्वगत) हाय, इन्हें देखकर अत्यन्त भयके कारण मैं हिल भी नहीं सकती, अब क्या करूँ।

विदूषक—(सागरिकाको देखकर) आश्चर्य, ऐसा रूप तो मनुष्य-लोकमें कहीं नहीं देखा जाता, मैं समझता हूँ विधाता भी बनाकर एकबार अवश्य अचम्भेमें पड़ गये होंगे।

राजा—मैं भी यही समझता हूँ।

दृशः पृथुतरीकृता जितनिजाब्जपत्रत्विष-
श्चतुर्भिरपि साधु साध्विति मुखैः समं व्याहृतम्।
शिरांसि चलितानि विस्मयवशाद् ध्रुवं वेधसा
विधाय ललनां जगत्त्रयललामभूतामिमाम् ॥ १६ ॥

साग०—(सासूयं सुसङ्गतामालोक्य) सहि ईदसो चित्तफलओ
आणीदो। (सखि ईदृशः चित्रफलकस्त्वयाऽऽनीतः। (इति गच्छति।)

राजा—
दृष्टिं रुषा क्षिपसि भामिनि यद्यपीमां
स्निग्धेयमेष्यति तथापि न रूक्षभावम्।

दृश इति। जगत्त्रयललामभूताम् जगताम् भुवनानां त्रयं जगत्त्रयम् तस्य ल
मभूता भूषणभूता ताम् त्रिजगदलङ्काररूपाम् इमाम् प्रत्यक्षदृश्याम् ललनाम् वि
सृष्ट्वा वेधसा ब्रह्मणा विस्मयवशात्, आश्चर्यपारवश्यात् ध्रुवम् अवश्यम् जि
जाब्जपत्रत्विषः जिताः पराजिताः निजस्य स्वावासभूतस्य अब्जस्य कमलस्य प
णाम् त्विषः कान्तयो याभिः तादृश्यः परास्तस्वासनपत्रपत्रप्रभाः दृशः स्वनय
पृथुतरीकृताः विस्फारिताः। (तथा) चतुर्भिरपि चतुस्सङ्ख्याकैरपि मुखैः स
तुल्यकालम् साधु साधु इति व्याहृतम् उक्तम्। शिरांसि मस्तकानि च चलि
चलीकृतानि। चलेः पचाद्यजन्तात्तत्करोतीति णिच्, ततश्च कर्मणि क्तः। अन्
ऽप्याश्चर्यचकितो दृशौ विस्फारयति साधु साध्विति व्याहरति शिरश्चालयति
तद्वत् ब्रह्माप्येनां ललनां निर्माय कुत ईदृशं रूपमजनीति विस्मयेन तास्ता आ
चेष्टाश्चक्र इति भावः। अतिशयोक्तिरलङ्कारः, पृथ्वी वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'
जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' इति ॥ १६ ॥

दृष्टिमिति। भामिनि कोपने 'कोपना सैव भामिनी'त्यमरः। यद्यपि इ
दृष्टिम् रुषा कोपेन क्रोधं प्रकाशयितुमित्यर्थः, क्षिपसि तथापि स्निग्धा स्नेहवर्षिणी
तव दृष्टिः रूक्षताम् रूक्षभावम् न एष्यति यास्यति, स्वभावस्निग्धाभ्यां तव नयना

इस त्रिलोक-सुन्दरी रमणीको बना चुकने पर ब्रह्मा भी आँखें फाड़कर दे
लगे होंगे उनके चारों मुखोंसे एक साथ साधुवाद निकला होगा, और विस्म
निश्चय ही उनके शिर हिलने लगे होंगे ॥ १६ ॥

सागरिका—(रोषसे, सुसंगताको देखकर) चित्रपट तो तुम खूब ले आ
(जाती है)

राजा—यद्यपि तुम क्रोधसे आँखें दिखा रही हो, तथापि स्वभावतः स्नेह

त्यक्त्वा त्वरां व्रज पदस्खलितैरयं ते
खेदं करिष्यति गुरुर्नितरां नितम्बः ॥ १७ ॥

सुसं०—भट्टा अदिकोवणा क्खु एसा। ता हत्थे गेण्हिअ पसादेहि गम्। (भर्तः अतिकोपना खल्वेषा। तद्धस्ते गृहीत्वा प्रसादयैनाम्।)

राजा—(सानन्दम्।) यथाह भवती। (सागरिकां हस्ते गृहीत्वा स्पर्शसुखं नाटयति।)

विदू०—भो एसा क्खु तुए अपुव्वा सिरी समासादिदा। (भोः एषा खलु त्वयाऽपूर्वा श्रीः समासादिता।)

राजा—वयस्य सत्यम्।

श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः ॥ १८ ॥

रूक्षभावो नालम्बितुं शक्य इति वृथा ते कोपप्रकाशनप्रयास इति भावः। त्वराम् शीघ्रगामित्वम् त्यक्त्वा व्रज याहि, (अन्यथा) ते तव गुरुः विशालः नितम्बः कटिपश्चाद्भागः (तव) पदस्खलितैः पदानामव्यवस्थितैः पातैः खेदं करिष्यति व्यथामनुभविष्यति। अतश्च त्वया स्वहितार्थमनुध्यायन्त्या गमने न त्वरणीयमिति तात्पर्यम्। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १७ ॥

कोपना = क्रोधशीला, 'क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च' इति ताच्छील्ये युच्।

सानन्दम् = सहर्षम्, स चाभिलषितप्राप्तेः।

सत्यम् = त्वया 'अपूर्वा श्रीः समासादिता' इति यदुक्तं तदवितथमित्यर्थः।

श्रीरेषेति। एषा सागरिका श्रीः लक्ष्मीः, अस्याः पाणिः करः अपि पारिजातस्य कल्पवृक्षप्रभेदस्य पल्लवः किसलयम्। अन्यथा अस्याः पाणेः पारिजातपल्ल-

---

इन आंखोंमें रूखापन कहांसे आवेगा ? जल्दीबाजी मत करो, धीरे धीरे जाओ, पैर फिसलने पर तुम्हारे इस भारी नितम्बको बहुत कष्ट होगा ॥ १७ ॥

सुसंगता—महाराज, यह बड़ी बिगडैल है, इसे हाथ पकड़ कर मनाइए।

राजा—(सानन्द) आप जैसे कहें। (सागरिकाका हाथ पकड़ता है, स्पर्शसुखका अभिनय)

विदूषक—अजी, आपने तो यह अपूर्व लक्ष्मी प्राप्त कर ली।

राजा—मित्र, ठीक कहते हो,

यह लक्ष्मी ही है और इसके हाथ पारिजात-पल्लव हैं, यदि ऐसा न होता तो इन हाथोंसे पसीनेके छलसे यह अमृत कैसे चूता ? ॥ १८ ॥

सुसं०—सहि अदिणिठ्ठुरा दाणिं सि तुमं जा एवं भट्टिणा ह[illegible]
गिहीदा वि कोवं ण मुञ्चसि। (सखि अतिनिष्ठुरेदानीमसि त्वं यैवं भर्त्रा ह[illegible]
गृहीतापि कोपं न मुञ्चसि।)

साग०—(सभ्रूभङ्गम्।) अइ सुसङ्गदे अज्ज वि ण विरमेसि। ([illegible]
सुसंगते अद्यापि न विरमसि।)

राजा—अयि प्रसीद। न खलु युक्तः सखीजन एवंविधः कोपा[illegible]
बन्धः।

वत्वाभावे एषः पाणिः स्वेदस्य सात्त्विकभावरूपस्य घर्मस्य छद्म मिषम् यस[illegible]
स्वेदच्छद्मा स चासौ अमृतद्रवः सुधारसः स स्वेदच्छद्मामृतद्रवः घर्मव्याजेन सु[illegible]
रसः कुतः कस्मात् कारणात् स्रवति च्यवते इत्यर्थः। अमृतस्रावो हि पारिजा[illegible]
पल्लवात्प्रसिद्धः, एतत्पाणेः पारिजातपल्लवत्वाभावे ततः स्वेदमिषेणामृतद्रवस्रव[illegible]
संभवेत्तस्मात्पारिजातपल्लवत्वमेतत्पाणावभ्युपेयं तेन चास्याः श्रीरूपात्वं समर्थित[illegible]
भावः॥ १८॥

अत्र 'राजा (सागरिकां हस्ते गृहीत्वा) इत्यारभ्य स्वेदच्छद्मामृतद्र[illegible]
इत्यन्तेन ग्रन्थेन नायकयोः साक्षादन्योन्यदर्शनादिना सविशेषानुरागोद्घाटनात्पुष्पा[illegible]
प्रतिमुखसन्धेरङ्गम्।

अतिनिष्ठुरा = अतिकठोरहृदया, अन्या मानिन्यः प्रियेण करे गृहीते [illegible]
मुञ्चन्ति त्वं तु तथा न विधत्स इति तवातिनिष्ठुरत्वम्।

सभ्रूभङ्गम् = भ्रुवोर्भङ्गः, उन्नयनं तच्च कोपव्यञ्जकम्। विरमसि = निवर्[illegible]
स्वव्यापारादयुक्तभाषणात्मकादिति शेषः।

अत्र 'सखि अतिनिष्ठुरासि' इत्यादिना 'विरमसी' त्यन्तेन ग्रन्थेन अनुराग[illegible]
जोद्घाटनान्वयेन धृतिरित्यङ्गं प्रदर्शितम्, 'धृतिः स्यान्नर्मजा द्युतिः' इति च तल्लक्षण[illegible]

एवंविधः = एतादृशः, (यं मयाऽनुनीयमानाऽपि न मोक्तुमिच्छसि, येन [illegible]
तव सखी चेखिद्यते) कोपानुबन्धः = क्रोधक्रमः, दीर्घरोष इति भावः।

सुसंगता—सखी, तुम बड़ी निर्दयता कर रही हो, महाराज इस तरह तुम्ह[illegible]
हाथ पकड़ें फिर भी तुम नहीं मानती।

सागरिका—(भ्रूभङ्ग के साथ) सुसङ्गता, अभी भी नहीं रुकती?

राजा—मान जाओ, सखियों पर इस तरह क्रोध नहीं करना चाहिये।

विदू०—एसा क्खु अवरा देवी वासवदत्ता। (एषा खल्वपरा देवी वासवदत्ता।)

(राजा सचकितं सागरिकाया हस्तं मुञ्चति।)

साग०—(ससंभ्रमम्।) सुसंगदे किं दाणिं एत्थ करिस्सम्। (सुसंगते किमिदानी मत्र करिष्ये।)

सुसं०— सहि एदं तमालवीथिअं अन्तरिअ णिक्कमम्ह। (सखि एतां तमालवीथिकामन्तरयित्वा निष्क्रामावः।)

(निष्क्रान्ते।)

राजा—(पार्श्वतोऽवलोक्य।) वयस्य क सा देवी वासवदत्ता।

विदू०—भो ण जाणामि क सा। मए एसा क्खु अवरा देवी वासवदत्ता अदिदीहरोसदाएत्ति भणिदं। (भो न जानामि क सा। मया एषा खल्वपरा देवी वासवदत्ताऽतिदीर्घरोषतयेति भणितम्।)

अपरा = अन्या, सैव कोपना त्वदनुनयेनापि कोपोपशममकुर्वतीति चेति विदूषकस्य विवक्षा, राजा तु एका सागरिका त्वयाऽनुनीयत इयमपरा रोषकलुषा वासवदत्ता प्राप्तेति विदूषकोक्तेरभिप्रायं निरधारयत्।

सचकितम् = सर्पदष्ट इव वेगेनाश्चर्यरसमग्नमुद्रया च। तथाकरणं च देवीकोपसम्भावनया बोध्यम्।

अत्र = देव्या अत्रागमने। सागरिकयाऽपि देव्या आगमनमेव विदूषकेणोक्तं परिज्ञातमत एवेत्थमुक्तम्।

पार्श्वतः=प्रान्तदेशे, यत्रागताया देव्या दर्शनस्य संभवस्तत्र स्वपार्श्वे इत्यर्थः।

विदूषक—यह भी दूसरी वासवदत्ता ही मालूम देती है। (राजा अकचकाकर सागरिका का हाथ छोड़ता है)

सागरिका—(घबड़ा कर) अब मैं क्या करूं।

सुसङ्गता—सखी, इसी तमालवीथीके बीचसे निकल चलें। (दोनोंका प्रस्थान)

राजा—(चारों ओर देखकर) कहां हैं देवी वासवदत्ता?

विदूषक—वह कहां हैं सो मैं क्या जानूं। मैंने तो कहा कि क्रोधमें यह भी वासवदत्ता ही है।

राजा—धिङ् मूर्ख।

प्राप्ता कथमपि दैवात्कण्ठमनीतैव सा प्रकटरागा ;
रत्नावलीव कान्ता मम हस्ताद् भ्रंशिता भवता ॥ १९ ॥

(ततः प्रविशति वासवदत्ता काञ्चनमाला च ।)

वासवदत्ता—हञ्जे कञ्चणमाले अध केत्तिअ दूरे दाणिं सा अज्जउत्तेण परिगिहीदा णोमालिआ। (हञ्जे काञ्चनमाले अथ कियद्दूर इदानीं साऽऽर्यपुत्रेण परिगृहीता नवमालिका ।)

काञ्चनमाला—भट्टिणि एदं कदलीघरअं अदिक्कमिअ दीसदि एव्व। (भर्त्रि एतत्कदलीगृहमतिक्रम्य दृश्यत एव ।)

प्राप्तेति । कथमपि केनापि प्रकारेण दैवात् भाग्यानुकूल्यात् प्राप्ता लब्धा (सागरिका रत्नमाला च) प्रकटरागा स्फुटस्नेहा पक्षे प्रकटकान्तिश्च कान्ता प्रिया सागरिकाऽन्यत्र रमणीया सा सागरिका रत्नावली मणिमाला इव कण्ठमनीता अपरिहिता अनालिङ्गिता च भवता त्वया मम हस्ताद् भ्रंशिता नाशिताऽदर्शनं नीतेत्यर्थः । यथा कश्चन भाग्यवशाद्दीप्तवर्णां रत्नमालां प्राप्य यावत्कण्ठे निदधाति तावदेव तत्सहचरस्य दोषेण सा नश्यति तथैव भाग्योदयेन प्रकटानुरागा सागरिका मयाऽधिगता यावन्मम कण्ठे लगति सा प्रिया तावदेव वासवदत्तात्रागतेति त्वद्वचसा भीता पलायितेति धिक् त्वामिति भावः । श्लेषोपमयोरङ्गाङ्गिभावः सङ्करः ॥ १९ ॥

अत्र 'राजा-धिङ् मूर्ख'इत्यारभ्य...'भ्रंशिता भवता' इत्यन्तेन सन्दर्भेण वत्सराजस्य सागरिकासमागमरूपहितस्य वासवदत्ताप्रवेशसूचकेन विदूषकवचसा निरोधात् निरोधनाख्यं प्रतिमुखसन्धेरङ्गं प्रदर्शितं वेदितव्यम् ॥

दृश्यत एव = पार्श्वे एवास्य कदलीगृहस्य वर्त्तते सा नवमालिकेत्याशयः।

राजा—मूर्ख ! तुझको धिक्कार है ।

दैववश किसी तरह मिली हुई अनुरागपूर्ण-हृदया वह मेरी प्यारी रत्नमालाकी तरह मुझे मिली किन्तु मेरे गले लगानेके पहलेही तुमने उसे खो दिया ॥ १९ ॥

(वासवदत्ता तथा काञ्चनमालाका प्रवेश)

वासवदत्ता—अरी काञ्चनमाला, अब वह महाराजकी नवमालिका कितनी दूरीपर होगी ?

काञ्चनमाला—इसी कदलीगृहके उस पारसे तो दीखती है ।

वासव०—ता आदेसेहि मग्गम् । (तदादेशय मार्गम् ।)

काञ्चन०—एदु एदु भट्टिणी । (एत्वेतु भर्त्री ।)

राजा—वयस्य क्वेदानीं प्रिया द्रष्टव्या ।

काञ्चन०—भट्टिणि जहा समीवे भट्टा मन्तेहि तह तक्केमि भट्टिणीं एव्व पडिवालअन्तो चिट्ठदिति । ता उवसप्पदु भट्टिणी । (भर्त्रि यथा समीपे भर्ता मन्त्रयते तथा तर्कयामि भर्त्रीमेव प्रतिपालयंस्तिष्ठतीति । तदुपसर्पतु भर्त्री ।)

वासव०—(उपसृत्य ।) जअदु जअदु अज्जउत्तो । जयतु जयत्वार्यपुत्रः ।)

राजा—(अपवार्य ।) वयस्य प्रच्छादय चित्रफलकम् ।

विदूषकः—(कक्षायां फलकं प्रक्षिप्योत्तरीयेण प्रच्छादयति ।)

वासव०—अज्जउत्त अह कुसुमिदा णोमालिआ । (आयपुत्र अथ कुसुमिता नवमालिका ।)

राजा—देवि प्रथममिहागतैरप्यस्माभिस्त्वं चिरयसीति नैव दृष्टा । तदेहि । सहितावेव तां पश्यावः ।

प्रिया = सागरिका ।

चित्रफलकम् आलेख्यपट्टम् (यथा देव्या दृष्टिस्तत्र न पतेत्तथा प्रच्छादयेत्यर्थः)

कक्षायाम् = पार्श्वबाहोरन्तरालदेशे । उत्तरीयेण = उपरितनवस्त्रेण । उत्तरस्मिन् देहभागे भवमुत्तरीयम् ।

चिरयसि = विलम्बसे । अत्र प्रथममागत्यापि तवानुपस्थितौ त्वत्प्रतीक्षयैव न तामहमैक्षिषीति भावः ।

वासवदत्ता—अच्छा, मार्ग बताती चल ।

काञ्चनमाला—आइए महारानी ।

राजा—मित्र, अत्र प्रिया कहां मिलेगी ?

काञ्चनमाला—महारानी, समीपमें जो महाराज कुछ बातें करते हैं, मालूम होता है वह आपकी ही प्रतीक्षामें हैं । आप चलें ।

वासवदत्ता—(समीप जाकर) जय हो आर्यपुत्रकी ।

राजा—(मुंह फेरकर) मित्र, चित्रफलक छिपालो ।

विदूषक—(बगलमें चित्रपट रखकर चादरसे ढांपता है)

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, आपकी नवमालिका पुष्पित हुई ?

राजा—देवि, यद्यपि मैं पहलेही यहां आ गया, लेकिन आपने देर कर दी इससे उसे अभी नहीं देखा है, अब हम दोनों साथ ही देखेंगे ।

वासव०—(निर्वर्ण्य ।) अज्जउत्त मुहरागादो एव्व मए जाणिदं जहा कुसुमिदा णोमालिआत्ति । ता ण गमिस्सम् । (आर्यपुत्र मुखरागादेव मया ज्ञातं यथा कुसुमिता नवमालिकेति । तन्न गमिष्यामि ।)

विदू०—ही ही भो जिदं जिदं अम्हेहिं । (ही ही भोः जितं जितमस्माभिः ।) (इति बाहू प्रसार्य नृत्यति । नृत्यतः कक्षान्तरात्फलकः पतति ।)

(राजा अपवार्य विदूषकमङ्गुल्या तर्जयति ।)

विदू०—(अपवार्य ।) भो मा कुप्प । तूण्हीओ चिट्ठ । अहं एव्व एत्थ जाणिस्सम् । (भो मा कुप्य । तूष्णीकस्तिष्ठ । अहमेवात्र ज्ञास्यामि ।)

काञ्चन०—(फलकं गृहीत्वा निरूप्यापवार्य ।) भट्टिणि पेक्ख दाव किमेत्थ चित्तफलए आलिहिदं । (भर्त्रि प्रेक्षस्व तावत्किमत्र चित्रफलके आलिखितम् ।)

वासव०—(निरूप्यापवार्य ।) कञ्चणमाले अअं अज्जउत्तो । इअं उण

मुखरागात् = त्वन्मुखकान्तिप्रकर्षं दृष्ट्वा, ल्यब्लोपे पञ्चमीयम् ।

नृत्यतः = गात्रविक्षेपं कुर्वतः, यद्गोपयितु कक्षायां न्यस्तं तदेवाकाले नृत्यता प्रकाशमानीतमेतादृशमनवधानं च विदूषकस्य स्वाभाविकतयोपनिबध्यते ।

मा कुप्य = अस्य चित्रफलकस्य पतनेन मयि रोषं न कुरु । अत्र 'मा' इति 'ओ मा नो ना निषेधवचना' इति समर्थितो माशब्दः, न तु माङ्शब्दस्तद्योगे हि लुङ् स्यात् । एवमन्यत्राप्यूह्यम् ।

वासवदत्ता—(भलीभांति देखकर) आर्यपुत्र, आपके चेहरेके देखनेसे ही मालूम पड़ रहा है कि नवमालिका फूली है । तब मैं नहीं जाती ।

विदूषक—ह ह ह, हम लोगोंकी जीत रही । (हाथ उठाकर नाचता है, और बगलसे चित्रपट गिरता है)

[राजा मुंह फेरकर इशारेसे विदूषकको सचेत करता है]

विदूषक—(मुंह फेरकर) रंज मत हों, आप चुप रहें, केवल मैं ही जानूंगा।

काञ्चनमाला—(फलकको उठाकर देखकर, मुंह फेरकर) महारानी, देखिए तो इसमें क्या अङ्कित है ?

वासवदत्ता—(देखकर, मुंह फेरकर) काञ्चनमाले, ये हैं आर्यपुत्र, और यह

साअरिआ। किं ण्णेदम्। (काञ्चनमाले अयमार्यपुत्रः। इयं पुनः सागरिका। किं न्वेतत्।)

काञ्चन०—भट्टिणि अहं पि एदं एव्व चिन्तेमि। (भर्त्रि अहमप्येतदेव चिन्तयामि।)

वासव०—(सकोपहासम्।) अज्जउत्त केण एदं आलिहिदम्। (आर्यपुत्र, केनेदमालिखितम्।)

राजा—(सवैलक्ष्यस्मितम्। अपवार्य।) वयस्य किं ब्रवीमि।

विदू०—(अपवार्य।) भो मा चिन्तेहि। अहं उत्तरं दाइस्सम्। भोदि मा अण्णथा संभावेहि। अत्ता किल दुक्खेण आलिहीअदित्ति मम वअणं सुणिअ पिअवअस्सेण एतं आलेक्खविण्णाणं दसिदम्। (भो मा चिन्तय। अहमुत्तरं दास्यामि। (प्रकाशं वासवदत्तां प्रति।) भवति मान्यथा संभावय। आत्मा किल दुःखेनालिख्यत इति मम वचनं श्रुत्वा प्रियवयस्येनैतदालेख्यविज्ञानं दर्शितम्।)

राजा—यथाह वसन्तकस्तथैवैतत्।

किं न्वेतत् = कथमिदमुपपन्नमिति भावः। वासवदत्तायाः सततजागरूकतयैवं प्रश्नः।

सवैलक्ष्यस्मितम् = विलक्षस्य भावो वैलक्ष्यम्, 'विलक्षो विस्मयान्विते' इत्यमरः। वैलक्ष्यद्योतकं स्मितम् वैलक्ष्यस्मितम्, तेन सहितं यथा स्यात्तथा। एतच्च (अपवारणक्रियाविशेषणमिदम्)

आलेख्यविज्ञानम् = चित्राङ्कनपाटवम्, मया कथितस्य मिथ्यात्वमुपपादयितुमेवायं स्वमाङ्कयदिति भावः।

सागरिका है। यह क्या बात है?

काञ्चनमाला—मैं भी तो यही सोच रही हूँ।

वासवदत्ता—(कोपकी हंसीसे) महाराज, यह किसका शिल्प है।

राजा—(विस्मयके साथ मुख फेरकर) मित्र! क्या कहूँ?

विदूषक—(मुँह घुमाकर) अजी, चिन्ता मत कीजिये, मैं उत्तर दूंगा। (प्रकाश, वासवदत्तासे) महारानी, कुछ दूसरा मत मानें। मैंने महाराजसे कहा कि अपना चित्र बनाना दुष्कर होता है इसीपर उन्होंने अपनी छवि अङ्कित की।

राजा—हां वसन्तक ठीक कह रहा है।

वासव०—(फलकं निर्दिश्य।) अज्जउत्त एसावि जा अवरा तुह समीवे आलिहिदा ता किं अज्जवसन्तअस्स विण्णाणम्। (आर्यपुत्र एषापि यापरा तव समीप आलिखिता तत्किमार्यवसन्तकस्य विज्ञानम्।)

राजा—(सविस्मयम्।) देवि अलमन्यथा शङ्कया। इयं हि कापि कन्यका स्वचेतसैव परिकल्प्यालिखिता। न तु दृष्टपूर्वा।

विदू०—भोदि सच्चं सच्चम्। सवामि बम्हसुत्तेण जइ ईदिशी कदावि अम्हेहिं दिट्ठपुव्वा। (भवति सत्यं सत्यम्। शपे ब्रह्मसूत्रेण यदीदृशी कदाप्यस्माभिर्दृष्टपूर्वा।)

काञ्च०—(अपवार्य।) भट्टिणि घुणक्खरं वि कदावि संभवदि जेव्व। (भर्त्रि घुणाक्षरमपि कदापि संभवत्येव।)

वास०—(अपवार्य।) अइ उज्जुए वसन्तओ क्खु। ण जाणासि तुमं एदस्स वक्कभणिदाइं। अज्जउत्त मम उण एदं चित्तफलअं पेक्खन्तीए सीसवेअणा समुप्पण्णा। ता गमिस्सं अहम्। (अयि ऋजुके वसन्तकः खल्वेषः। न जानासि त्वमेतस्य वक्रभणितानि (प्रकाशम्।) आर्यपुत्र मम पुनरेत-

---

ब्रह्मसूत्रेण = यज्ञोपवीतेन। शपे = शपथं करोमि।

घुणाक्षरम् = घुणाख्यः क्षुद्रकीटविशेषः काष्ठमुत्कृन्तन् यदृच्छया रेखाविशेषं जनयति, सैव रेखा कदाचिदक्षरत्वेन गृह्यते, अतो यदृच्छयाऽन्यसंवादि किञ्चिदपि घुणाक्षरमुच्यते। यथात्र राज्ञा काचित् स्वपरिकल्पिता बालिकाऽङ्किता, सा वासवदत्तया सागरिकात्वेन विज्ञायते।

ऋजुके = सरले, एतत्कपटानभिज्ञे इत्यर्थः। वक्रभणितानि=कुटिलभाषितानि।

वासवदत्ता—(चित्रपट दिखलाकर) महाराज, और यह जो दूसरी आपके नजदीक चित्रित की गई है क्या यह आर्यवसन्तककी कला है?

राजा—(हँसकर) देवी, अन्यथा मत मानें। मैंने कल्पनासे एक कन्याको चित्रमें अङ्कित किया था, मैंने इसे कभी देखा नहीं है।

विदूषक—महारानी, यह बिलकुल सत्य है, मैं यज्ञोपवीत की शपथ करता हूँ कि हम लोगोंने ऐसी कन्या कहीं नहीं देखी।

काञ्चनमाला—(मुँह घुमाकर) कभी-कभी घुणाक्षर न्याय भी तो होता ही है।

वासवदत्ता—(मुँह फिराकर) अरी सरले, यह वसन्तक है, तुम इसकी टेढ़ी बातें क्या जानोगी। (प्रकाश) आर्यपुत्र, मेरा तो इस चित्रपटके देखनेसे माथा

चित्रफलकं प्रेक्षमाणायाः शीर्षवेदना समुत्पन्ना । तद्गमिष्याम्यहम् । (प्रस्थिता ।)

राजा—(पटान्ते गृहीत्वा ।) देवि !—

प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते
करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः ।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि च ज्ञास्यसि मृषा
किमेतस्मिन्वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे ॥ २० ॥

वासवदत्ता—(सविनयं पटान्तमाकर्षन्ती ।) अज्जउत्त मा अण्णधा सभावेहि । सच्च एव्व मं सीसवेअणा बाधेदि । ता गमिस्सम् । (आर्यपुत्र मान्यथा संभावय । सत्यमेव मां शीर्षवेदना बाधते । तद्गमिष्यामि ।)

(उभे निष्क्रान्ते ।)

शीर्षवेदना = शिरःपीडा । सा च राज्ञः परगतचित्तत्वप्रत्ययेन बोध्या । अत्र 'वासवदत्ता (फलकं निर्दिश्य) आर्यपुत्र' इत्यादिना 'शीर्षवेदना समुत्पन्ना' इत्यन्तेन सन्दर्भेण वासवदत्तया वत्सराजस्य सागरिकाविषयकानुरागस्योद्भेदनात्प्रत्यक्षनिष्ठुराभिधानलक्षणं वज्रमित्यङ्गं दर्शितम् ॥

प्रसीदेति । प्रसीद मयि प्रसन्ना भव इति ब्रूयाम् कथयेयम् इदम् एतादृशम् कथनम् कोपे क्रोधे असति अविद्यमाने न घटते न युज्यते. अकुपितजनानुनयनस्य तत्कोपनव्यापारपर्यवसायित्वादियं कुपिता न वेति निर्धारणमन्तराऽनुनयवचनमनुचितमिति भावः । पुनः भूयः एवम् न करिष्यामि विधास्यामि इति अभ्युपगमः अकृतस्याप्यपराधस्य, स्वीकारः भवेत् , अतस्तथापि न वक्तुं शक्यमिति तात्पर्यम् । मे मम दोषः अपराधः नास्ति इति च त्वं मृषा मिथ्या ज्ञास्यसि अवगमिष्यसि मदीयं निर्दोषत्वं न त्वं श्रद्धास्यस इति भावः । एतस्मिन् अस्मिन् प्रसङ्गे किं वक्तुं

दुखने लगा, मैं जाऊंगी । जाती है ।

राजा—(अञ्चल पकड़कर) देवि, इस स्थितिमें तुमसे क्या कहूँ, मैं नहीं समझता, प्रसन्न होनेके लिये कहूँ तो वह प्रार्थना जब क्रोध हो तब की जाती है, मैं फिर ऐसा नहीं करूँगा, ऐसा कहना एक प्रकारसे दोषका स्वीकार है और यदि मैं कहूँ कि मेरा दोष नहीं है तो तुम इसे मिथ्या मानोगी ॥ २० ॥

वासवदत्ता—(नम्रतासे अञ्चल छुड़ाती हुई) आर्यपुत्र, दूसरी बात मत सोचें, सचमुच मेरा सिर दुख रहा है, इसलिए जा रही हूँ । (दोनोंका प्रस्थान)

विदूषकः—(पार्श्वाण्यवलोक्य।) भो दिट्ठिआ वड्ढसि। क्खेमेण अम्हाणं अदिक्कन्ता अआलवादावली। (भो दिष्ट्या वर्धसे। क्षेमेणास्माकमतिक्रान्ताऽकालवातावली।)

राजा—धिङ् मूर्ख कृतं परितोषेण। यान्त्याऽऽभिजात्यान्निगूढो न लक्षितस्त्वया देव्याः कोपानुबन्धः।

भ्रूभङ्गे सहसोद्गतेऽपि वदनं नीतं परां नम्रता-
मीषन्मां प्रति भेदकारि हसितं नोक्तं वचो निष्ठुरम्।

क्षमम् योग्यम् इति न वेद्मि नावधारयामि, प्रियतमे इति सम्बोधनं तदानुकूल्यविधानाशयैव प्रयुक्तं वेदितव्यम्। सर्वासामपि वचोभङ्गीनां तत्तद्दोषदूषितत्वेन त्वत्कोपोपशमार्थं वक्तव्यं नावैमीति महन्मम कष्टमिति भावः। वक्तव्यं नावधारयामीत्यस्याद्यपादत्रयेन समर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। शिखरिणी वृत्तम् ॥ २० ॥

अत्र चित्रगतयोर्वत्सराजसागरिकयोर्दर्शनात् कुपिताया वासवदत्ताया अनुनयनात् पर्युपासनं नामाङ्गम् ॥

क्षेमेण = कल्याणेन। अतिक्रान्ता = व्यतीता। अकालवातावली = असमयवात्या।

परितोषेण = सन्तोषेण, कृतम् = अलम्। सन्तोषो न कर्त्तव्यो भयकारणस्य सम्प्रत्यप्यनपायादिति भावः। आभिजात्यात्=भद्रभावात्। सा हि देव्या भद्रता यया कोपं प्रकटं नाकार्षीदन्तस्तु तस्याः कोपकलुषमेवावर्त्तत, तदलं परितोषेणेति भावः।

भ्रूभङ्ग इति। भ्रुवोर्भङ्गः कौटिल्यम् भ्रुकुटिबन्धः तस्मिन् सहसा हठात् उद्गते जातेऽपि क्रोधद्योतके भ्रूभंगे सहसा जातेऽपि दयितया प्रियतमया वासवदत्तया वदनम् मुखम् पराम् अतिशयवतीम् नम्रताम् नतिम् नीतम् प्रापितम्। क्रोधेन भ्रुकुटौ बद्धायामपि मुखं शालीनतया नमितमित्यर्थः। माम् प्रति मामुद्दिश्य भेदकारि मर्म-

---

विदूषक—(बगल झांककर) बधाई है कुशल है, आंधी टली।

राजा—मूर्ख, खुशी होना व्यर्थ है, जाती हुई देवीका कोप भद्रतामें छिपा था उसे तुम नहीं समझ सके।

भ्रूभङ्ग हो आया, फिर भी वह मुंह नीचे झुकाए रही, मुझे लक्ष्य करके उसने

अन्तर्बाष्पजडीकृतं प्रभुतया चक्षुर्न विस्फारितं
कोपश्च प्रकटीकृतो दयिततया मुक्तश्च न प्रश्रयः ॥ २१ ॥

तदेहि । देवीमेव प्रसादयितुं गच्छावः ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति कदलीगृहो नाम द्वितीयोऽङ्कः ।

स्पर्शि ईषत् अल्पम् हसितम् , निष्ठुरम् कठोरम् वचः नोक्तम् । प्रभुतया तथा कर्तुं समर्थतया अन्तः मध्ये यद् बाष्पम् अश्रु तेन जडीकृतम् प्रतिबद्धव्यापारताम् प्रापितम् अपि चक्षुः नयनम् न विस्फारितम् दीर्घीकृतम् (इत्थम्) कोपश्च प्रकटीकृतः, प्रश्रयः विनयश्च न मुक्तः त्यक्तः । कुप्यता जनेनान्येन यथा भ्रुकुटौ जातमात्रायामेव नयनाभ्यामुद्गूर्यते, निष्ठुरं वचो व्याह्रियते, नयनं च विस्फार्यते तत्र तस्याविनयः कारणम् , अनया तु विनयेन तथा नाचरितमिति स्तुत्यमस्या गाम्भीर्यमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २१ ॥

इति मैथिलमण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते रत्नावली 'प्रकाशे'

द्वितीयाङ्कप्रकाशः ।

अत्यल्प मात्रामें मर्मभेदिनी हंसी प्रकट की, किन्तु निष्ठुर बातें नहीं कहीं, आंखोंमें आंसू भर जानेपर भी मेरी ओर आंखोंको नहीं उठने दिया, इस तरह मेरी प्रियतमाने क्रोध भी प्रकट कर दिया और विनयको भी नहीं छोड़ा ॥ २१ ॥

इसलिए आओ देवीको ही प्रसन्न करनेके लिए हम लोग चलें ।

[सबका प्रस्थान]

द्वितीय अङ्क समाप्त

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति मदनिका ।)

मदनिका—(आकाशे ।) कोसम्बिए कोसम्बिए अवि दिट्ठा तुए भट्टिणो सआसे कञ्चणमाला ण वा। किं भणासि। कोवि कालो ताए आअच्छिअ गदाए त्ति। ता कहिं दाणिं पेक्खिस्सम् । कहं एसा क्खु कञ्चणमाला इदो एव्व आअच्छदि । ता जाव णं उवसप्पामि । (कौशाम्बिके कौशाम्बिके अपि दृष्टा त्वया भर्तुः सकाशे काञ्चनमाला न वा। (कर्णं दत्त्वा ।) किं भणसि । कोऽपि कालस्तस्या आगत्य गताया इति । तत्कुत्रेदानीं प्रेक्षिष्ये । (अग्रतोऽवलोक्य ।) कथमेषा खलु काञ्चनमालेत एवागच्छति । तद्यावदेनामुपसर्पामि ।)

(ततः प्रविशति काञ्चनमाला ।)

काञ्चनमाला—(सोत्प्रासम् ।) साहु रे अमच्चवसन्तअ साहु। अदिसइदो तुए अमच्चजोगन्धराअणो इमाए संधिविग्गहचिन्ताए। (साधु रे अमात्यवसन्तक साधु। अतिशयितस्त्वयाऽमात्ययौगन्धरायणोऽनया संधिविग्रहचिन्तया।)

आकाशे—एकोऽभिनेता मञ्चे स्थितोऽशरीरिणीं वाचमाकर्ण्य तदावर्त्य च स्वभाषितेन योजयति तत्रेत्थमुपयुज्यते, इदमेव चाकाशभाषितमित्युच्यते, तल्लक्षणं यथा—'किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत् । श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत् स्यादाकाशभाषितम्' ।। इति ।।

कोऽपि = कियानपि । प्रेक्षिष्ये = द्रक्ष्यामि । उपसर्पामि = समीपङ्गच्छामि ।

सोत्प्रासम् = सोल्लुण्ठनम् , सोपहासमिति भावः । अमा सह भवः अमात्यः मन्त्री स चासौ वसन्तकश्च तत्सम्बुद्धौ अमात्यवसन्तकेति । अतिशयितः = अति-

---

(मदनिका का प्रवेश)

मदनिका—(आकाशकी ओर) कौशाम्बिके कौशाम्बिके, क्या महाराजके पास काञ्चनमालाको तुमने देखा है या नहीं ? (कान लगाकर) क्या कहा ? कुछ देर हुई है वह आकर गई ? अब कहां मिलेगी ? (आगे देखकर) यही तो काञ्चनमाला इधर ही आ रही है । इसके समीप चलूं।

(काञ्चनमालाका प्रवेश)

काञ्चनमाला—(तिरस्कारके स्वरमें) धन्य अमात्यवसन्तक, तुम धन्य हो। तुमने इस सन्धि-विग्रहमें अमात्य यौगन्धरायणको भी मात कर दिया ।

मद०—(उपसृत्य सस्मितम् ।) हला कञ्चणमाले कि अज्जवसन्तएण किदं जेण सो एव्वं सलाहिज्जदि । (हला काञ्चनमाले किमार्यवसन्तकेन कृतं येन स एवं श्लाघ्यते ।)

काञ्चन०—हला मअणिए किं तव एदिणा जाणिदेण। तुमं इमं रहस्सं रक्खिदुं ण पारेसि । (हला मदनिके किं तवैतेन ज्ञातेन । त्वमिदं रहस्यं रक्षितुं न पारयसि ।)

मद०—सवामि देवीए चलणेहिं जदि कस्स वि पुरदो पआसेमि । (शपे देव्याश्चरणाभ्यां यदि कस्यापि पुरतः प्रकाशयामि ।)

काञ्च०—जइ एवं ता सुणु । अज्ज क्खु मए राअउलाओ पडिणिउत्तमानाए चित्तसालिआदुआरे वसन्तअस्स सुसंगदाए समं आलावो सुदो । (यद्येवं तच्छृणु । अद्य खलु मया राजकुलात्प्रतिनिवर्तमानया चित्रशालिकाद्वारे वसन्तकस्य सुसंगतया सममालापः श्रुतः ।)

क्रान्तः, जित इत्यर्थः । सन्धिश्च विग्रहश्च सन्धिविग्रहौ तयोश्चिन्तया विचारेण । स सन्धिविग्रहौ चिन्तयन्कदाचिदसफलोऽपि स्यात्परं तस्य कूटचक्रं न कदापि विफलं स्यादिति भावः । विदूषकपक्षे सन्धिविग्रहौ नायिकया नायकस्य संयोगो विरहश्चेति बोध्यम् । अत्र 'साधु रे' इत्यारभ्य प्रवेशकेन अभूताहरणाख्यं गर्भसन्धेरङ्गमुक्तम् ।

सस्मितम् = सहासम् , हासश्च पूर्वोक्तोपहासश्रवणजन्यो वेद्यः । श्लाघ्यते = प्रशस्यते, उपहस्यत इति व्यङ्ग्योऽर्थः ।

रक्षितुम् = गोपायितुम् , अतस्त्वां प्रत्येतत्कथयितुं न युज्यत इति भावः ।

एवम् = अप्रकाशनबद्धप्रतिज्ञत्वम् । प्रतिनिवर्त्तमानया=परावर्त्तमानया । चित्रशालिकाद्वारि = चित्रशालैव चित्रशालिका, तस्याः द्वारि द्वारदेशे ।

मदनिका—(समीप आकर, हंसती हुई) आर्यवसन्तकने क्या किया है कि उसकी इतनी तारीफ कर रही हो।

काञ्चनमाला—मदनिका, तुम यह जानकर क्या करोगी; यह रहस्य तुम छिपा भी न सकोगी।

मदनिका—मुझे देवीकी सौगन्ध, यदि मैं इसे किसीसे कहूँ।

काञ्चनमाला—यदि ऐसी बात है तो सुन। आज मैं राजकुलसे लौट रही थी तो चित्रशालिकाके द्वारपर वसन्तक और सुसंगतामें होनेवाली बातें मुझे सुननेको मिल गईं।

मद०—(सकौतुम् ।) सहि कीदिसो । (सखि कीदृशः ।)

काञ्च०—जह सुसंगदे ण क्खु साअरिअं वज्जिअ अण्णं किं पि पिअवअस्सस्स असच्छदाए कारणं । ता चिन्तेहि एत्थ पडिआरं त्ति। (यथा सुसंगते न खलु सागरिकां वर्जयित्वा अन्यत्किमपि प्रियवयस्यस्यास्वस्थतायाः कारणम् । तच्चिन्तयात्र प्रतीकारमिति ।)

मद०—तदो सुसंगदाए किं भाणदम् । (ततः सुसंगतया किं भणितम् ।)

काञ्च०—एव्वं ताए भणिदम । अज्ज क्खु देवीए चित्तफलअवुत्तन्तसंकिदाए साअरिअं रक्खिदुं मम हत्थे समप्पअन्तीए जं णेवत्थं मे पसादीकिदं तेण ज्जेव विरचिदभट्टिणीवेसं साअरिअं गेण्हिअ अहं पि कञ्चणमालावेसधारिणी भविअ पओसे इह आगमिस्सम् । तुमं पि इह एव्व चित्तसालिआदुआरे मं पडिवालइस्ससि । तदो माहवीलदामण्डवे ताए सह भट्टिणो समागमो भविस्सदि त्ति। (एवं तया भणितम् । अद्य खलु देव्या चित्रफलकवृत्तान्तशङ्कितया सागरिकां रक्षितुं मम हस्ते समर्पयन्त्या यन्नेपथ्यं मे प्रसादीकृतं तेनैव विरचितभट्टिनीवेषां सागरिकां गृहीत्वाहमपि काञ्चनमालावेषधारिणी भूत्वा प्रदोषे इहागमिष्यामि । त्वमपीहैव चित्रशालिकाद्वारे मां प्रतिपालयिष्यसि । ततो माधवीलतामण्डपे तया सह भर्तुः समागमो भविष्यतीति ।)

सागरिकां वर्जयित्वा, = तस्या अन्या ।

देव्या = वासवदत्तया । चित्रफलकवृत्तान्तशङ्कितया = चित्रफलकसम्बन्धिसमाचारेण राजाचरणविषये सञ्जातशङ्कया। नेपथ्यम्=वस्त्राभरणादिकम् । प्रसादीकृतम् = दत्तम् । कृतभट्टिनीवेषाम् = धृतवासवदत्तापरिच्छदाम् । गृहीत्वा = सह कृत्वा । प्रदोषे = सायंसमये ।

मदनिका—(कौतुकपूर्वक) कैसी बातें ?

काञ्चनमाला—यही कि सागरिकाके अतिरिक्त महाराजकी अस्वस्थताका और कोई कारण नहीं है इसलिए इसका उपाय सोचो ।

मदनिका—इस पर सुसंगताने क्या कहा ?

काञ्चनमाला—उसने कहा कि चित्रफलक वृत्तान्तसे शङ्कित होकर सागरिकाको मेरी रखवाली में सौंपती हुई देवीने जो कपड़े मुझे पारितोषिक में दिये हैं, उन्हीं कपड़ोंसे सागरिकाको देवीका रूप देकर और स्वयं काञ्चनमाला बनकर सन्ध्या समय यहाँ आऊँगी । तुम इसी चित्रशालिकाके द्वारपर मेरी प्रतीक्षा करना । इस तरह सागरिकासे राजाकी भेंट माधवी लतामण्डपमें हो सकेगी ।

मद०—(सरोषम्।) सुसंगदे हदासि क्खु तुमं जा एव्वं परिअण-वच्छलं देविं वञ्चेसि। (सुसंगते हतासि खलु त्वं यैवं परिजनवत्सलां देवीं वञ्चयसे।)

काञ्चन०—हला तुमं दाणिं कहिं पत्थिदा। (हला त्वमिदानीं कुत्र प्रस्थिता।)

मद०—अहं क्खु अस्सत्थसरीरस्स भट्टिणो कुसलवुत्तन्तं जाणिदु गदा तुमं चिरअसीत्ति उत्तमन्तीए देवीए तुह सआसं पेसिदम्हि। (अहं खल्वस्वस्थशरीरस्य भर्तुः कुशलवृत्तान्तं ज्ञातुं गता त्वं चिरयसीत्युत्ताम्यन्त्या देव्या तव सकाशं प्रेषितास्मि।)

काञ्चन०—अदिउजुआ दाणिं सा देवी जा एव्वं पत्तीअदि। एसो क्खु भट्टा अस्सत्थदामिसेण अत्तणो मअणावत्थं पच्छादअन्तो दन्ततोरणवल-भीए चिट्ठदि। ता एहि। एदं वुत्तन्तं भट्टिणीए णिवेदम्ह। (अतिऋजुकेदानीं सा देवी [illegible] प्रत्येति। एष खलु भर्ताऽस्वस्थतामिषेणात्मनो मदनावस्थां प्रच्छा-

---

परिजनवत्सलाम् = परिजनेषु स्नेहशालिनीम्। देवीम् = वासवदत्ताम्। वञ्चयसे = प्रतारयसि। 'गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने' इत्यात्मनेपदम्।

अस्वस्थशरीरस्य = सरुजदेहस्य। चिरयसि = विलम्बसे, (शीघ्रमागत्य भर्तुः कुशलं न निवेदयसि) इति हेतोः, उत्ताम्यन्त्या = चिन्तया विमनायमानया।

अतिऋजुका = अतिशयसरला, (या मदनावस्थामपि रुजात्वेन सम्भाव्य कुशलं जिज्ञासते) अस्वस्थतामिषेण = अस्वास्थ्यच्छलेन। प्रच्छादयन् = गोपयन्।

मदनिका—(क्रोधपूर्वक) सुसंगते, तू बड़ी नीच है, जो परिजन पर स्नेह रखनेवाली देवीको इसतरह धोखा देती है।

काञ्चनमाला—अरी, तू इस समय कहाँ चली है ?

मदनिका—मैं तो तुम्हारे ही पास जा रही थी, देवीने कहा देख तो, महाराज अस्वस्थ हैं, उनकी कुशलवार्त्ता जानने काञ्चनमाला गई वह क्यों विलम्ब कर रही है। चलो, यह खबर देवीको दे दें।

काञ्चन०—देवी अत्यन्त सरल स्वभावकी है जो कि अभी इस तरह विश्वास करती हैं। ये तो महाराज अस्वस्थताके बहाने अपनी काम-पीड़ाको छिपाते हुए

दयन्दन्ततोरणवलभ्यां तिष्ठति । तदेहि । एतं वृत्तान्तं भर्त्र्यै निवेदयावः ।)

(इति निष्क्रान्ते ।)

प्रवेशकः ।

(ततः प्रविशति मदनावस्थां नाटयन्नुपविष्टो राजा ।)

राजा—(निःश्वस्य ।)

संतापो हृदय स्मरानलकृतः संप्रत्ययं सह्यतां
नास्त्येवोपशमोऽस्य तां प्रति पुनः किं त्वं मुधा ताम्यसि।

कामिनो हि मदनावस्थां गोपयन्तो वर्ण्यन्ते, तथा च नैषधीये—

'मृषा विषादाभिनयादयं क्वचिज्जुगोप निःश्वासततिं वियोगजाम् ।
विलेपनस्याधिकचन्द्रभागता-विभावनाच्चापललाप पाण्डुताम्' ॥ इति ।

दन्ततोरणवलभ्याम् = दन्तैः हस्तिदन्तैः निर्मितम् विरचितम् तोरणम् बहिर्द्वारम् यस्याः सा चासौ वलभी सौधोर्ध्ववेश्म तस्याम् = हस्तिदन्तरचितबहिर्द्वारयुक्त सौधोर्ध्वभवने ।

निःश्वस्य = निःश्वासं गृहीत्वा, तथाकरणञ्चोत्कण्ठाव्यञ्जकम् ।

सन्ताप इति । हृदय ! चेतः, यद् यतः कारणात् तदा कदलीगृहपरिसरे सागरिकासमागमावसरे कथमपि कथञ्चन दैवात् भाग्यवशात् प्राप्तः सान्द्रः घनश्चासौ चन्दनरसश्च तस्य स्पर्शः सम्पर्कः इव शीतलः सुखकरश्च स्पर्शो यस्य स सान्द्रचन्दनरसस्पर्शः तस्याः सागरिकायाः करः बाहुः गृहीत्वा करेणादाय मूढेन अप्रत्युत्पन्नमतिना त्वया चिरम् बहुकालपर्यन्तम् त्वयि हृदये न निहितः न स्थापितः (ततः) सम्प्रति अधुना तद्वियोगे स्मरः कामः अनलः वह्निः इव स्मरानलः तेन कृतः समुत्पादितः अयम् प्रत्यक्षानुभूयमानः सन्तापः सह्यताम् भुज्यताम् । अस्य सन्तापस्य उपशमः शमनम् नास्त्येव, (तत्संयोगस्यासम्भवित्वात्) ताम् साग-

---

दन्तनिर्मित द्वारवाले महलोंके ऊपरकी अटारीमें रहते हैं। इसलिये आओ। यह समाचार देवीको जाकर कहती हैं।

(दोनों जाती हैं)

प्रवेशक

(कामदशामें राजाका प्रवेश)

राजा—(उसांस लेकर) हृदय, कामजनित इस सन्तापको तुम्हें अब सहना होगा, इसकी कोई दवा नहीं है, उसके लिये क्यों बेचैन हो रहे हो। अब वा

यन्मूढेन मया तदा कथमपि प्राप्तो गृहीत्वा चिरं
विन्यस्तस्त्वयि सान्द्रचन्दनरसस्पर्शो न तस्याः करः॥ १॥
अहो महदाश्चर्यम्।

मनश्चलं प्रकृत्यैव दुर्लक्ष्यं च तथापि मे।
कामेनैतत्कथं विद्धं समं सर्वैः शिलीमुखैः॥ २॥

रि:ामम् प्रति तत्प्राप्तिमुद्दिश्येत्यर्थः त्वम् पुनः मुधा व्यर्थम् किम् ताम्यसि ग्लायसि, अ:ाक्यप्रतिकारस्य दुःखस्याशोच्यत्वादिति भावः। कदलीगृहे समागतायाः साग-रि:ायाः करमालम्ब्य स्वसन्तापशान्तये स्वस्मिन्न न्यधाः, तदयं तवाविवेकः सम्प्रति त:ि:योगे त्वां परितापयति, सोढव्यश्चायं सन्तापः, स्वकृतस्यानवधानस्य फलस्य स्वेनैव भोक्तव्यत्वादिति भावः॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ १॥

मनश्चलमिति। मनः चित्तम् प्रकृत्या स्वभावेनैव चलम् अस्थिरम्, तथा-चोक्तम्—'असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्' इति। दुर्लक्ष्यम् लक्षयितुम-शक्यञ्च, अणुत्वात्प्रत्यक्षायोग्यत्वात्, अथवा दुर्लक्ष्यम् अशरव्यतायोग्यम्, अणु-त्वाच्चलत्वाच्चेत्यर्थः। तथापि मनसः अणुत्वचलत्वाभ्यां दुर्लक्ष्यत्वेपि मे मम एतत् मनः कामेन सर्वैः शिलीमुखैः बाणैः—

('उन्मादनस्तापनश्च स्तम्भनः शोषणस्तथा।
सम्मोहनश्च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः॥'

इति निर्दिष्टगुणैः प्रकटितस्वप्रभावैश्च तैः) समं तुल्यकालम् एव कथम् केन प्रकारेण विद्धम् ताडितम्, प्रथमन्तु वेध एव दुःसाध्यः अणुत्वाच्चलत्वाच्च, तत्राप्ये-केन बाणेन न किन्तु सर्वैर्बाणैः, तत्रापि न यथाकथञ्चिदवसरं प्राप्य किन्तु सम कालम् इत्यत्यद्भुतमिति भावः। अत्र वेधकारणयोः स्थैर्यलक्ष्यत्वरूपहेत्वोरसत्त्वेऽपि वेधस्य वर्णनाद्विभावनाऽलङ्कारः॥ २॥

मिली थी, उस समय बेवकूफीसे मैं चन्दन की तरह शीतल उसका हाथ तुम्हारे ऊपर नहीं रख सका॥ १॥

अहो, आश्चर्य है? जब की मन स्वभावतः चञ्चल तथा अणु होनेके कारण अभेद्य होता है तब हमारे मनको कामदेवने एक साथ अपने सभी बाणोंसे कैसे वेध दिया?॥ २॥

(ऊर्ध्वमवलोक्य ।) भोः कुसुमधन्वन् !

बाणाः पञ्च मनोभवस्य नियतास्तेषामसंख्यो जनः
प्रायोऽस्मद्विध एव लक्ष्य इति यल्लोके प्रसिद्धिं गतम्
दृष्टं तत्त्वयि विप्रतीपमधुना यस्मादसंख्यैरयं
विद्धः कामिजनः शरैरशरणो नीतस्त्वया पञ्चताम् ॥ ३॥

(विचिन्त्य ।) न तथाऽहमेवंविधावस्थमात्मानमनुचिन्तयामि यथा

कुसुमधन्वन् = कुसुमम् धनुर्यस्येति विग्रहे बहुव्रीहौ 'धनुषश्च' इत्यनङ् ।

बाणा इति । मनोभवस्य कामस्य पञ्च पञ्चसङ्ख्यकाः बाणाः शराः नियताः नियमितसङ्ख्याकाः ततोऽन्यूनाधिका इत्यर्थः । तेषाम् पञ्चानां कामबाणानाम् अस्माकमिव विधा प्रकारो यस्य तादृशः अस्मद्विधः अस्मादृशः प्रियावियुक्तः जन एव प्रायः बाहुल्येन लक्ष्यः वेध्यः इति यत् लोके प्रसिद्धिं ख्यातिम् गतम् यातम् तत् अधुना त्वयि कामे विप्रतीपम् विपरीतम् दृष्टम् विलोकितम् । कामस्य पञ्च शरास्तैश्चासौ वियोगिनो लक्ष्यीकरोतीति यत्प्रसिद्धं तदनुकूलभाग्यविरहेण प्रियाम् नासादयता मया सम्प्रति विपरीतं दृष्टम् इत्याद्यपादद्वयार्थः, तत्रोपपत्तिमाह— यस्मादिति । यस्मात् यतः असङ्ख्यैः गणनारहितैः शरैः बाणैः त्वया विद्धः अयं कामिजनः कामुकवर्गः अशरणः रक्षकविरहितः त्वया पञ्चताम् पञ्चसङ्ख्याकत्वम् पञ्चत्वम् पञ्चभूतात्मकत्वम् मरणम् इति च नीतः प्रापितः । बाणा असङ्ख्याः कृताः लक्ष्यभूताः कामिनश्च पञ्चत्वं गमिताः, प्राक्श्रुतं तु कामिनामसङ्ख्यत्वं बाणानाञ्च पञ्चत्वमधुना तद्विपरीतं कृतमिति तात्पर्यम् । मनसि अन्तःकरणे भव उत्पत्तिर्यस्येति विग्रहे 'सप्तमी विशेषणे' इति ज्ञापकाद् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

एवंविधावस्थम् = एतादृश्यां स्थितौ वर्त्तमानम् महान्तमन्तस्तापमनुभवन्तम्

(ऊपर देखकर) अये कामदेव !

आपके पांच ही बाण हैं, और उनसे असंख्य वियोगी जनपर आपको प्रहार करना होता है यह बात लोकमें प्रसिद्ध है, किन्तु यह बात मुझे आज उलटी मालूम पड़ रही है, क्योंकि मैं देखता हूँ कि उन पांचो बाणों का अकेला मैं ही लक्ष्य होकर पञ्चत्वको जा रहा हूँ ॥ ३ ॥

(कुछ सोचकर) इस स्थिति में भी मुझे अपनी उतनी चिन्ता नहीं है, जितनी

न्तर्निगूढकोपसंरम्भाया देव्या लोचनगोचरगतां तपस्विनीं सागरिकाम् । तथा हि ।

ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं
द्वयोर्दृष्ट्वालापं कलयति कथामात्मविषयाम् ।
सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकं
प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातङ्कविधुरा ॥ ४ ॥

मित्यर्थः । अनुचिन्तयामि = भावयामि । अन्तर्निगूढकोपसंरम्भायाः = अन्तः हृदये निगूढः संवृतः (अत एव च तुषाग्निरिव ज्वलन्) कोपस्य संरम्भः आवेगो यस्याः सा तादृशी तस्याः, हृदयसंवृतकोपवेगायाः इत्यर्थः । देव्या वासवदत्तायाः । लोचनगोचरगताम्=दृष्टिविषयवर्त्तिनीम् । तपस्विनीम्=सरलाम् अदोषाञ्च । अस्यां सन्तापावस्थायां वर्त्तमानोऽहं स्वविषये न तथा सचिन्तोऽस्मि यथाऽन्तः कुपिताया देव्या दृष्टौ पतितायाः अदोषायाः सागरिकाया विषये, सा हि वराकी मदर्थमेव महतीं यन्त्रणामनुभवतीति चिन्तयता मया स्वकष्टं विस्मर्यत इति भावः ।

ह्रियेति । सर्वस्य विदिता सर्वैः ज्ञातचरित्रा अस्मि सञ्जाताऽस्मीति ह्रिया लज्जया असौ सागरिका वदनम् आत्मनो मुखम् हरति अन्यतः परावर्त्तयति, मत्कर्तृकराजसङ्गमादि सर्वैर्ज्ञातमिति त्रपया सागरिका स्वमुखं न दर्शयतीत्यर्थः । द्वयोः कयोश्चिद् द्वयोर्जनयोः आलापम् परस्परकथोपकथनम् दृष्ट्वा निरीक्ष्य आत्मविषयाम् स्वसम्बन्धिनीम् कथाम् कलयति सम्भावयति, द्वौ जनौ परस्परमालपन्तौ वीक्ष्य मद्विषय एवेमौ मन्त्रयत इति चित्ते चिन्तयतीत्यर्थः । अत्र दृष्ट्वेत्यनेन परस्परमालपन्तौ जनौ एव दृष्टिगोचरौ भवतस्तयोः शब्दास्तु न श्रूयन्ते, तच्छ्रवणे तु यथार्थप्रत्ययेन तथा नापि स्यादिति व्यज्यते । सखीषु स्मेरासु कुतोऽप्यन्यतोऽपि कारणात्सहासासु अधिकम् वैलक्ष्यम् लज्जाम् प्रकटयति प्रकाशयति, स्मयमानाः सखीर्विलोक्य मदीयं चारित्रमेवाधिकृत्यायमासां हास इति मनसिकृत्याधिकं लज्जत इत्याशयः । (एवम्) प्रिया मम प्राणवल्लभा सागरिका प्रायेण बाहुल्येन हृदये

क्रोधसे भरी देवीकी दृष्टिमें पड़ी उस बेचारी सागरिका की । क्यों कि—

मेरी गुप्त प्रीति लोगों पर प्रकट हो गई है इस ख्यालसे वह अपना मुंह सबसे छिपाती रहती है, दो आदमियों की बातें सुनकर उसे लगता है कि मेरी ही बातें हो रही हैं । सखियोंके हंसने पर अधिक लज्जित हो जाती है, इस तरह वह भीतर छिपी भीतिसे पीड़ित रहा करती है ॥ ४ ॥

तद्वार्तान्वेषणाय गतः कथं चिरयति वसन्तकः।

(ततः प्रविशति हृष्टो वसन्तकः।)

विदू०—(सपरितोषम्।)ही ही भोः। कोसम्बीरज्जलाहेणावि ण तादि पिअवअस्सस्स परितोसो आसि जादिसो अज्ज मम सआसादो पिअ अणं सुणिअ भविस्सदित्ति तक्केमि। ता जाव गदुअ पिअवअस्स णिवेदइस्सम्। कधं एसो पिअवअस्सो इमं ज्जेव दिसं अवलोअ चिट्ठदि। तह तक्केमि मं एव्व पडिवालेदित्ति। ता उवसप्पामि ण जअदु जअदु पिअवअस्सो। भो वअस्स दिट्ठिआ वड्ढसि समीहिद धिकाए कज्जसिद्धीए। (ही ही भोः। कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशः प्रि वयस्यस्य परितोष आसीद्यादृशोऽद्य मम सकाशात्प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्य तर्कयामि। तद्यावद् गत्वा प्रियवयस्यस्य निवेदयिष्यामि। (परिक्रम्यावलोक्य च कथमेष प्रियवयस्य इमामेव दिशमवलोकयंस्तिष्ठति। तथा तर्कयामि मामेव प्र

मनसि निहितः स्थापितः य आतंकः भयम् पीडा वा तेन विधुरा विकला आ मम प्रिया मनसि पीडां भयं चाधाय वैकल्यमनुभवतीति यावत्। 'आतङ्को भ पीडयोः' इत्यमरः। 'विधुरं तु प्रविश्लेषे विकले विधुरा पुनः' इति हेमचन्द्रः। श्लोके शंकाव्यभिचारिभाव उपनिबध्यते, तदुक्तम्—'अनर्थप्रतिभाशंका परक्रौर्यात् दुर्नयात्। कम्पशोषाभिवीक्षादिरत्र वर्णस्वरान्यता' इति। शिखरिणी वृत्तम्, ल क्षणं प्रागुक्तम् ॥ ४ ॥

कौशाम्बीराज्यलाभेन = कौशाम्बी यस्य राजधानी तस्य राज्यस्य लाभे परितोषः = सन्तोषः। प्रियवचनम् = श्रोतुमभिलष्यमाणं वचः। तर्कयामि = सम्भा वयामि। तत् = मया वक्ष्यमाणस्य राज्ञः परितोषकारणत्वात्। यावदिति वाक्या लंकारे। इमाम् = मदधिष्ठिताम्। अवलोकयँस्तिष्ठति = सोत्कण्ठं निरीक्षते। प्र

उसकी खबर जानने वसन्तक गया, वह क्यों देर कर रहा है?

(वसन्तक का प्रवेश)

विदूषक—(खुशीमें;) ह ह ह! कौशाम्बीके राज्यके मिलने पर भी हमारे मित्रको इतनी प्रसन्नता नहीं हुई होगी जितनी आज मेरे मुंहसे यह समाचार सुन कर होगी, हमारा यही अनुमान है। तो चलकर प्रिय मित्रसे कह दूं। (चलकर, देखकर) वे तो इसी तरफ देख रहे हैं। मानो मेरी ही

पालयतीति। तदुपसर्पाम्येनम्। (उपसृत्य।) जयतु जयतु प्रियवयस्यः। भो वयस्य दिष्टया वर्धसे समीहिताभ्यधिकया कार्यसिद्धया।

राजा—(सहर्षम्।) वयस्य अपि कुशलं प्रियायाः।

विदू०—(सगर्वम्।)भो अचिरेण सअंज्जेव पेक्खिअ जाणिस्ससि। (भो अचिरेण स्वयमेव प्रेक्ष्य ज्ञास्यसि।)

राजा—(सपरितोषम्।) वयस्य दर्शनमपि भविष्यति प्रियायाः।

विदू०—(साहंकारम्।) भो कीस ण भविस्सदि जस्स दे उवहसिद-

पालयति = प्रतीक्षते। एवञ्च प्रियवयस्यस्यैतद्दिशावलोकनं तेन क्रियमाणाया ममैव पतीक्षाया गमकमिति भावः।

'जयतु जयतु' इति द्विरुक्तिरादरं गमयति। अत्र 'ही ही भोः' इत्यारभ्य 'तर्कयामि' इत्यन्तेन सन्दर्भेण रत्नावलीविषया वार्त्ता कौशाम्बीराज्यलाभादप्यतिरिच्यत इत्यतिशयाभिधानादुदाहरणं नाम गर्भसन्धेरङ्गमुक्तम्, यथाऽऽह भरतः—'यत्सातिशयवद्वाक्यं तदुदाहरणं स्मृतम्' इति।

समीहिताभ्यधिकया = समीहितं चिन्तितम् सागरिकायाः कुशलवार्त्ताया लाभरूपम् तस्मादधिकया सागरिकासमागमसङ्घटनरूपया। कार्यसिद्धया = अभीष्टसाफल्येन। कुशलवार्त्तामुपलब्धुं प्रेषितेन मया सागरिकासङ्गमोऽप्यायोजित इति समीहिताभ्यधिका कार्यसिद्धिः प्रियवयस्यस्योपनता साऽस्य भाग्यवत्तानिमित्तैवेति भावः।

सहर्षम् = हर्षश्च प्रियासमीपतः समायातस्य विदूषकस्य मुखात्तद्वृत्तान्तश्रवणस्याशया बोध्यः। अपिरत्र संभावने।

प्रेक्ष्य ज्ञास्यसि = दृष्ट्वाऽवगमिष्यसि, एतेन भाविनं सङ्गमं प्रतीक्षितं कृतम्।

दर्शनमपि = कुशलं श्रोतुमुत्के श्रवणे तु कृतार्थे किमिमे नयने अपि स्वसाफल्यमवाप्स्यत इत्यपिद्योत्यम्।

रहे हैं। उनके समीप चलूं। (समीप जाकर) जय हो जय हो। प्रियमित्र, भाग्यवश आशासे अधिक सफलता मिली।

राजा—(सहर्ष) मित्र, क्या प्रिया सकुशल है?

विदूषक—(सगर्व) शीघ्रही स्वयं देखकर जान जाओगे।

राजा—(सन्तोषके साथ) क्या प्रियाके दर्शन भी होंगे।

विदूषक—(अहंकारपूर्वक) अभी होगा क्यों नहीं, जब कि मैं तुम्हारा मन्त्री

पिहसिदबुहप्पदिबुद्धिविहवो अहं अमच्चो। (भोः कस्मान्न भविष्यति यस्य ते उपह-
सितबृहस्पतिबुद्धिविभवोऽहममात्यः।)

राजा—(विहस्य।) न खलु चित्रम्। किं न संभाव्यते त्वयि। तत्क-
थय। विस्तरतः श्रोतुमिच्छामि।

विदूषकः—(कर्णे) एव्वमेवम्। (एवमेवम्।)

राजा—(सपरितोषम्।) साधु वयस्य साधु। इदं ते पारितोषिकम्।
(इति हस्तादवतार्य कटकं ददाति।)

विदूषकः—(कटकं परिधाय आत्मानं निर्वर्ण्य।) भो इमं दाव सुवण्णसु-
ण्णकडअमण्डिअहत्थं अत्तणो बम्मणीए गदुअ दंसइस्सम्। (भो इमं ताव

उपहसितबृहस्पतिबुद्धिविभवः = उपहसितः स्वबुद्धिवैभवेनागणितः बृहस्पतेः
सुरगुरोः बुद्धेः विभवः समृद्धिर्येन तादृशः। बृहस्पतेरप्यधिकबुद्धिमानित्यर्थः।

सम्भाव्यते = आशंस्यते, त्वयि सर्वमपि सम्भाव्यत इति यावत्।

कर्णे एवमेवमिति। अत्र विदूषकोक्तं 'भो वयस्य दिष्ट्या वर्द्धसे' इत्यारभ्य
कर्णे एवमेवम्' इत्यन्तेन यथा विदूषकेण सागरिकासमागमः सूचितस्तथैव निश्चित-
रूपतया राज्ञे निवेदित इति तत्त्वार्थकथनान्मार्गाख्यं गर्भसन्धेरङ्गम्। तदुक्तं भरते-
'तत्त्वार्थकथनञ्चैव मार्ग इत्यभिधीयते' इति।

सपरितोषम् = ससन्तोषम्, सन्तोषोऽत्र वसन्तके, स च महतः कार्यस्य
तेनानुष्ठितत्वाद् बोध्यः।

अवतार्य = निष्कास्य। कटकम् = वलयम्। ददाति = विदूषकायार्पयति।
अत्र सामदानाभ्यां विदूषकस्य सागरिकासमागमकारिणः सङ्ग्रहात्सङ्ग्रहो नाम
गर्भसन्धेरङ्गम्, तदुक्तम्—'सामदानार्थसंयुक्तः संग्रहः परिकीर्तितः' इति॥

हूँ, जिसकी बुद्धि बृहस्पति की बुद्धिको मात करती है:

राजा—(हंसकर) आश्चर्य नहीं है। तुम क्या नहीं कर सकते? बताओ।
विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ

विदूषक—(कानोंमें) इस तरह।

राजा—(सहर्ष) शाबास, यार शाबास यह रहा तुम्हारा पारितोषिक!

(हाथमें से निकालकर कटक देता है)

विदूषक—(कटक पहनकर अपने को देखकर) अच्छा सुवर्णसे निर्मित कटक

च्छुद्धसुवर्णकटकमण्डितहस्तमात्मनो ब्राह्मण्यै गत्वा दर्शयिष्यामि।)

राजा—(हस्ते गृहीत्वा निवारयन्।) सखे पश्चाद् दर्शयिष्यसि। ज्ञायतां तावत्किमवशिष्टमह्न इति।

विदूषकः—(विलोक्य।) भो पेक्ख पेक्ख। एसो क्खु गुरुआणुराओक्खित्तहिअओ संझावहूदिण्णसंकेदो विअ अत्थगिरिसिहरकाणणं अणुसरदि भअवं सहस्सरस्सी। (भो प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। एष खलु गुर्वनुरागोत्क्षिप्तहृदयः संध्यावधूदत्तसंकेत इवास्तगिरिशिखरकाननमनुसरति भगवान्सहस्ररश्मिः।)

राजा—(विलोक्य सहर्षम्।) सखे सम्यगुपलक्षितम्। पर्यवसितमहः तथा हि।

शुद्धसुवर्णकटकमण्डितहस्तम् = शुद्धम् द्रव्यान्तरासङ्कीर्णम् यत् सुवर्णम् हेम तन्निर्मितेन कटकेन मण्डितः अलङ्कृतः यः हस्तः तम्। ब्राह्मण्यै = स्वपत्न्यै।

निवारयन् = निरुन्धन्, ब्राह्मण्यै राजदत्तं कटकं दर्शयितुं गच्छन्तं विदूषकं करेणालम्ब्य प्रतिषेधन्नित्यर्थः। किम् = कतमो भागः, अह्नः = दिवसस्य। अवशिष्टम् = उर्वरितम्

गुरुः महान् अनुरागः स्नेहः तेन उत्क्षिप्तम् विह्वलीकृतम् हृदयम् मनः यस्य तादृशः, अथवा गुरुः प्रकटलक्ष्यः यः अनुरागः पश्चाज्जायमानः रक्तिमा तेन उत्क्षिप्तम् व्याप्तम् हृदयम् हृदयतुल्यम् मण्डलम् यस्य सः। वारुणी पश्चिमा दिक् सैव वधूः नायिका तया दत्तः कृतः सङ्केतः अमुकसमये अमुकस्थले त्वयाऽऽगन्तव्यमित्येवंरूपः यस्य एतादृशः। अस्तगिरिशिखरकाननम् = अस्ताचलश्रृङ्गवर्तिकाननम्। अन्योपि रागवान् प्रियया सङ्केतिते स्थाने समये चोपस्थातुं चेष्टते यथा तथा सूर्योऽपि पश्चिमाशावधूसङ्केतस्थानमिव चरमाचलशिखरकाननं प्रविशतीति भावः। समासोक्तिरलङ्कारः।

सहर्षम्, हर्षश्च सन्ध्यायाः समीपे समागमनेन सन्ध्यैव सागरिकया स्वसमुप-

---

मण्डित अपने इस हाथको अपनी स्त्रीको जाकर दिखाऊँगा।

राजा—(हाथ पकड़कर, रोकता हुआ) पीछे दिखाना। पहले यह तो पता लगाओ कि कितना दिन शेष है?

विदूषक—(देखकर) देखिये देखिये, अनुरागपूर्ण हृदयसे सूर्य भगवान् अस्ताचल की चोटीपर अवस्थित वनमें पैठ रहे हैं, मानो सन्ध्या नायिकाने वहां इन्हें बुलाया हो।

राजा—(देखकर, सहर्ष) मित्र, ठीक कहा। दिन समाप्त हो गया क्योंकि—

अध्वानं नैकचक्रः प्रभवति भुवनभ्रान्तिदीर्घं विलङ्घ्य
प्रातः प्राप्तुं रथो मे पुनरिति मनसि न्यस्तचिन्तातिभारः।
संध्यामृष्टावशिष्टस्वकरपरिकरस्पष्टहेमारपङ्क्तिं
व्याकृष्यावस्थितोऽस्तक्षितिभृति नयतीवैष दिक्चक्रमर्कः॥५॥

सर्पणाय कालत्वेन सङ्केतिताऽतस्तामासन्नामवगत्य राज्ञो हर्ष इति भावः।

अध्वानमिति। एकम् चक्रम् यस्य स एकचक्रः मे मम सूर्यस्य र[थः] स्यन्दनः भुवनस्य संसारस्य भ्रान्तिः परिक्रमणम् तया दीर्घम् विशालम् अध्वान[म्] मार्गम् विलङ्घ्य अतिक्रम्य पुनः भूयः प्रातः प्रभातकाले (उदयाचलम्) प्राप्तु[म्] आसादयितुम् न प्रभवति न क्षमते, अतिक्रान्तभुवनभ्रमणविशालमार्गस्यैकचक्रत[या] विकलाङ्गस्य च मम रथस्य पुनः समासन्ने प्रातःकाले उदयाचलमारोढुं शक्ति[र्न] स्यादिति भावः। इति हेतोः मनसि स्वचित्ते न्यस्तः स्थापितः चिन्तायाः अतिभार[ः] येन तादृशः तच्चिन्तया खिद्यमानमानसः एषः अर्कः सूर्यः अस्तक्षितिभृति अस्ताचले अवस्थितः विद्यमानः सन् सन्ध्यायाम् सायंकालिके समये अथवा सन्ध्यया सायंकाले मृष्टेभ्यः मार्जितेभ्यः अपहृतेभ्यः अवशिष्टाः उर्वरिताः ये स्वस्य कराः किरणाः तेषा[म्] परिकरः समूहः स एव स्पष्टा स्फुटं भासमाना हेम्नः सुवर्णस्य अराणाम् नेम्य[व]ष्टम्भकदण्डानाम् पङ्क्तिः परम्परा यस्य तत्तादृशम् दिक्चक्रम् दिशासमूहम् व्याकृ[ष्य] विशेषेण आकृष्य नयति इव। यथा कश्चन रथो विगुणं रथमारूढः प्रकामविप्रकृ[ष्टं] स्थानमवश्यगन्तव्यतयोद्दिश्य प्रस्थितः स्वरथस्य वैगुण्यं मनसिकृत्य चिन्तामाप[न्नः] किञ्चित्स्वरथवैगुण्यापाकरिष्णु साधनं सयत्नं सह स्थापयति तथाऽयमस्ताचल[स्थो] भास्वान् स्वरथस्यैकचक्रतया भुवनभ्रमणमार्गमतिक्रम्य प्रातरुदयाचलप्राप्तेरवश्यकर्त[व्य]तया च चिन्ताचुम्बितस्वान्तः सन्ध्ययाऽपहृतेभ्योऽवशिष्टाः स्वकरा एवारभूता यत्रैतादृशं दिक्चक्रं द्वितीयचक्रस्थाने योजयितुमाकृष्य स्वपार्श्वे स्थापयतीवेति भावः। सन्ध्याकाले विप्रकीर्णाः स्वल्पीभूताश्च सूर्यकरा दिक्चक्रस्याराणीव प्रतिभान्ति।

इस एक पहिये वाले रथसे पृथ्वीकी प्रदक्षिणासे दीर्घ मार्गको तय करके पुन[ः] प्रातःकाल उदयाचल पर मैं नहीं आसकूंगा इसी चिन्ताको हृदयमें रखकर सूर्य भगवान् सन्ध्याद्वारा छिपाये गये सूर्य किरणोंसे अतिरिक्त सूर्य किरण ही जिस चक्रकी धूरीमें लगे आरागज हैं, उस दिक्चक्रको अपने पास रखकर साथ लिए जा रहे हैं॥५॥

अपि च—

यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष
सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया ।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः
सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति ॥ ६

दिशश्च सूर्यास्ते जाते लुप्यन्ति, तासां सूर्यनियम्यतायाः सर्वसम्मतत्वात्तन्मन्ये सूर्यो दिक्चक्रमाकृष्य सहैव नयतीति कविहृदयम् । 'परिकरः पर्यङ्कपरिवारयोः' इत्यमरः । सूर्यस्यैकचक्ररथत्वे-'रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्ततुरगा, निरालम्बो मार्गश्चरणविकलः सारथिरपि । रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः' इत्यादि प्रसिद्धिः प्रमाणम् । उत्प्रेक्षात्रालङ्कारः । स्रग्धरा वृत्तम् , लक्षणं प्रागुक्तम् ॥ ५ ॥

यातोऽस्मीति । पद्मं कमलम् नयनम् नेत्रमिव यस्याः तत्सम्बुद्धौ पद्मनयने (अहम्) यातोऽस्मि चलितः अस्मि । मम एषः समयः अस्तस्य निश्चितः कालः । सुप्ता कमलनिमीलनात् निद्रितेव प्रतीयमाना भवती कमलिनी मया सूर्येण एव प्रतिबोधनीया विकासं प्रापणीया । इति उक्तदिशा अयम् अस्तंगच्छन् अस्तस्य अस्ताचलस्य मस्तके शिखरे निविष्टाः स्थिताः कराः किरणा यस्य सः अस्तमस्तकनिविष्टकरः अस्ताचलचूडावलम्बिमरीचिचयः । सुवति कर्मणि लोकं प्रेरयतीति सूर्यः 'राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथ्याः' इति निपातनात् क्यच् रुडागमश्च । सरोरुहिण्याः कमलिन्याः प्रत्यायनाम् विश्वासजननमिव करोति । अत्र श्लेषमहिम्नाऽन्योऽप्यर्थः प्रतीयते, यथा-पद्मनयने कमलनेत्रे यातोऽस्मि, यतोऽयं मम गमनस्य प्राक्स्थिरीकृतः समयः कालः । सुप्ता निद्रिता भवती पुनः मयैव (आगत्य) प्रतिबोधनीया जागरणीया । इति अयम् सूर्यः सूर्य इति तेजस्वी सुरिषु साधुः सूर्य इति वा कश्चिन्नायकः, अस्तम् प्रिये प्रवत्स्यति जायमानेन खेदेन नमितम् यत् (नायिकायाः) मस्तकम् शिरः तत्र निविष्ट' सान्त्वनाप्रदानार्थम् अवस्थापितः करो येन तादृशः सरोरुहिण्याः विलासार्थमलंकारार्थं वा सरोरुहाणि कम-

और—कमलनयने, मैं अब चला, हमारे जानेका ही समय है मैं ही पुनः आकर तुम्हें सोनेसे जगाऊंगा, इसतरह अस्ताचल पर फैले हुए अपने करोंसे सूर्य कमलिनीको आश्वासन दे रहा है। जिस प्रकार कोई गमनोन्मुख प्रेमी अपनी प्रेमिकाके शोकावनत शिरपर हाथ रखकर उसे आश्वासन देता है ॥ ६ ॥

तदुत्तिष्ठ । माधवीलतामण्डपं गत्वा प्रियतमासंकेतावसरं प्रतिपालयावः ।

विदूषकः—भो सोहणं भणिदं । (भोः शोभनं भणितम्) [इत्युत्तिष्ठति ।]

विदूषकः—(विलोक्य ।) भो वअस्स पेक्ख पेक्ख । एसो क्खु बहलीकिदविरलवणराइसंनिवेसो गहीदघणपङ्कपीवरबणवराहमहिसकिसिणच्छवी पसरदि पुव्वदिसं पच्छादअन्तो तिमिरसंघाओ । (भो वयस्य प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व । एष खलु बहलीकृतविरलवनराजिसंनिवेशो गृहीतघनपंकपीवरवनवराहमहिषकृष्णच्छविः प्रसरति पूर्वदिशं प्रच्छादयंस्तिमिरसंघातः ।)

लानि सन्त्यस्याः सा कमलिनी तस्याः कस्याश्चन नायिकायाः प्रत्यायनाम् प्रबोधनम् इव करोति । समासोक्तिरलंकारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ६ ॥

तत् = तस्मात् , संकेतितस्य कालस्य प्रत्यासन्नत्वादित्यर्थः । माधवीलतायाः= वासन्त्याः । मण्डपे = मण्डपतुल्ये लतावितानेः । प्रियतमासंकेतावसरम् = प्रियतमायाः = सागरिकायाः संकेतः समागमकालनिर्देशः तस्य अवसरम् आगमनम् । प्रतिपालयावः = प्रतीक्षावहे ।

शोभनम् = सुन्दरम् , अभीष्टत्वेन तत्तथा ।

बहलीकृतेति । न बहलः घनः अबहलः, अबहलः बहलः कृतः घनीकृतः स्थगितान्तरालतां गमितः विरलः अनिबिडः वनराजीनाम् तरुपङ्क्तीनाम् सन्निवेशः संस्थानम् येन तादृशः बहलीकृतविरलवनराजिसन्निवेशः काननान्तरालं पूरयित्वा घनमिव वनं दर्शयन्नित्यर्थः । गृहीतः वपुषि लिप्तः घनः गाढः पंकः कर्दमः यैः ते गृहीतपंकाः, पीवराः स्थूलाः, वनस्य वराहाः सूकराः वनवराहाः महिषाः स्वनामप्रसिद्धाः तेषां कृष्णा छविः कान्तिरिव कृष्णा श्यामा छविर्यस्य सः गृहीतघनपंकपीवरवनवराहमहिषकृष्णच्छविः । अत्र वन्यानां वराहाणां महिषाणां च स्वतः श्यामत्वेऽपि पंक-

---

इसलिये उठो, माधवीलता मण्डपमें चलकर प्रियाके आनेके अवसरकी प्रतीक्षा करें ।

विदूषक—अच्छा कहा । (दोनों उठते हैं)

विदूषक—(देखकर) मित्र, देखिये तो, विरल वनपङ्क्तिको घन बनाता हुआ पङ्कलिप्त वन्यशूकर तथा वन्यमहिषके समान श्यामल अन्धकार पूरब दिशाको ढकता आ रहा है ।

राजा—(समन्ताद्विलोक्य) सखे साधु दृष्टम् । तथा हि ।

पुरः पूर्वामेव स्थगयति ततोऽन्यामपि दिशं
क्रमात्क्रामन्नद्रिद्रुमपुरविभागांस्तिरयति ।
उपेतः पीनत्वं तदनु भुवनस्येक्षणफलं
तमःसंघातोऽयं हरति हरकण्ठद्युतिहरः ॥ ७ ॥

तदादेशय मार्गम् ।

विदू०—एदु एदु पिअवअस्सो । (एत्वेतु प्रियवयस्यः ।)

(परिक्रामतः ।)

लेपोक्त्या श्यामतातिशयस्तेन तदुपमेयस्य तमसः श्यामताया आधिक्यं व्यज्यते । पीवरपदं च तमोव्याप्तिं प्रकाशयितुमुक्तम् । तिमिरसङ्घातः = तमःस्तोमः ।

पुर इति । अयम् प्रत्यक्षदृश्यः हरस्य शिवस्य कण्ठः गलदेशः तस्य द्युतिः कान्तिः नीलवर्णता (सा च विषपानकृता) तस्याः हरः हर्त्ता अनुकर्त्ता तत्तुल्य इत्यर्थः, तमःसङ्घातः अन्धकारराशिः पुरः प्रथमम् पूर्वाम् एव प्राचीम् एव दिशम् आशाम् स्थगयति आवृणोति । ततः अन्याम् पूर्वेतराम् अपि दिशम् स्थगयतीति योजनीयम् । क्रमात् एवं क्रमशः क्रामन् व्याप्नुवन् अद्रीणाम् पर्वतानाम् द्रुमाणाम् वृक्षाणाम् पुराणाम् ग्रामाणाञ्च विभागान् पृथक्त्वेनावभासान् तिरयति प्रच्छादयति । जृम्भमाणे हि तमसि पर्वतास्तरवो ग्रामाश्चैकीभूय निलीना इव प्रतीयन्त इति भावः । तदनु ततः पश्चात् पीनत्वम् घनीभावम् उपेतः प्राप्तः भुवनस्य लोकस्य ईक्षणफलम् पदार्थदर्शनरूपनयनसामर्थ्यम् हरति चोरयति । क्रमशो गाढं तमो लोकचक्षूंषि पदार्थावलोकनसामर्थ्यरहितानि विधत्ते, आलोकसहकृतस्यैव चक्षुषो रूपग्रहणे शक्तेरङ्गीकारादिति भावः ॥ ७ ॥

आदेशय = बोधय ।

राजा—(चारों ओर देखकर) तुमने सही देखा है, क्योंकि—

अन्धकार पहले पूर्व दिशाको ही ढंकता है, पीछे और दिशाओंको । वह क्रमसे बढ़ता हुआ पर्वत, वृक्ष, तथा नगरोंके विभागको छिपा देता है । पीछे महादेवके गलेकी कान्तिके समान श्यामवर्ण होकर यह प्रौढ अन्धकार लोगों की दर्शन शक्ति का भी अपहार करता है ॥ ७ ॥

इसलिये मार्ग दिखाओ ।

विदूषक—आइए । (दोनों जाते हैं)

विदू०—(निरूप्य ।) भो वअस्स एदं क्खु समासण्णं संसत्तबहलपत्तपादवलदाहिं पिण्डीकिदान्धआरं विअ मअरन्दुज्जाणम्। ता कहं एत्थ मग्गो लक्खीअदि। (भो वयस्य एतत्खलु समासन्नं संसक्तबहलपत्रपादपलताभिः पिण्डीकृतान्धकारमिव मकरन्दोद्यानम्। तत्कथमत्र मार्गो लक्ष्यते।)

राजा—(गन्धमाघ्राय।) वयस्य गच्छाग्रतः। ननु सुपरिज्ञात एवात्र मार्गः। तथा हि।

> पालीयं चम्पकानां नियतमयमसौ सुन्दरः सिन्दुवारः
> सान्द्रा वीथी तथेयं बकुलविटपिनां पाटलापङ्क्तिरेषा।

समासन्नम् = समीपमागतम् संसक्तबहलपत्रपादपलताभिः = अन्योन्यमिलितपत्रवृक्षवल्लीभिः। पिण्डीकृतान्धकारम् = पुञ्जीकृतान्धकारम्। वृक्षाणां लतानाञ्च पत्राण्यनुस्यूतानीवान्योन्यमिलितानि सन्ति तैरन्धकारः पिण्डीकृत इवावभासत इति भावः।

सुपरिज्ञातः = चिरपरिचितः।

पालीयमिति। इयम् समीपवर्त्तिनी चम्पकानाम् हेमवृक्षाणाम् पाली पङ्क्तिः 'पाली पङ्क्त्यङ्कप्रभेदयोः' इति मेदिनी। नियतम् निश्चयेन अयमसौ एषः सः सुन्दरः लोभनीयः सिन्दुवारः निर्गुण्डीवृक्षः (अस्तीति शेषः, एवमन्यत्रापि अस्तीति योजनीयम्) तथा इतीह समुच्चये। इयम् बकुलविटपिनाम् केसरवृक्षाणाम् सान्द्रा घना वीथी। 'घनं निरन्तरं सान्द्रम्' इति, 'वीथ्यालिरावलिः पङ्क्तिः' इत्युभयत्राप्यमरः। एषा पाटलानाम् तदाख्यानाम् पङ्क्तिः श्रेणी। द्विगुणतरतमोनिह्नुतः = अतिशयेन द्विगुणम् द्विगुणतरम् तच्च तत्तमः अन्धकारः द्विगुणतरतमः तेन निह्नुतः प्रच्छन्नः अपि एषः पन्थाः मार्गः अस्मिन् लतोद्याने विविधम् नानाप्रकारकम् गन्धम् सुवासम् आघ्राय आघ्राय 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' इति क्त्वाप्रत्ययः। 'नित्यवीप्सयोः' इति

विदूषक—यही तो मकरन्दोद्यान है जिसे परस्पर मिली हुई लता-वृक्ष वगैरहकी शाखाएं अन्धकारावृत बना रही हैं। इसमें मार्ग कैसे दीखेगा।

राजा—(गन्ध सूंघकर) मित्र, आगे चलो, रास्ता तो परिचित ही है। क्यों कि-यह चम्पककी क्यारी है, निश्चय ही यह सुन्दर सिन्दुवार है, यह बकुलवृक्ष की

आघ्रायाघ्राय गन्धं विविधमधिगतैः पादपैरेवमस्मिन्
व्यक्तिं पन्थाः प्रयाति द्विगुणतरतमोनिह्नुतोऽप्येष चिह्नैः ॥८॥

(इति परिक्रामतः ।)

विदू०—भो एदं क्खु णिवडन्तमत्तमहुअरं कुसुमामोदवासिददसदिसं मसिणमरअदमणिसिलाकुट्टिमसुहाअन्तचलणसंचारसूचिदं तं एव्व माहवीलदामण्डपं संपत्तम्ह । ता इह ज्जेव्व चिट्ठदु भवं जाव अहं देवीवेसधारिणं साअरिअं गेण्हिअ लहुं आअच्छामि । (भो एतं खलु निपतन्मत्तमधुकरं कुसुमामोदवासितदशदिशं मसृणमरकतमणिशिलाकुट्टिमसुखायमानचरण-

---

द्वित्वम् । अधिगतैः तत्तद्विशेषरूपेण ज्ञातैः पादपैः वृक्षैः चिह्नैः लक्षणैः (हेतुभिः) व्यक्तिम् स्फुटीभावम् प्रयाति गच्छति । तमसा व्याप्तत्वेन परिचेतुमशक्योऽप्यत्रत्य मार्गः चम्पकादिवीथीसमुद्भूतसुगन्धाघ्राणेन तदधिष्ठितस्थानस्यानुमाने तन्निकटस्थितत्वेन स्वरूपं प्रकटयति ततश्च सुखसञ्चारत्वमायातीति भावः । अत्रान्धकारेण वृक्षाणां भेदानवगमात् तत्र च तत्तद्गन्धोपलब्ध्या तत्तद्वृक्षज्ञानपूर्वकमार्गज्ञानात् उन्मीलितालङ्कारः, 'भेदवैशिष्ट्ययोः स्फूर्त्तावुन्मीलितविशेषकौ' इति च तल्लक्षणम् । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ८ ॥

निपतन्मत्तमधुकरम् = निपतन्तः मत्ताः मधुपानोन्मत्ताः मधुकराः भ्रमरा यत्र तम् । कुसुमामोदवासितदशदिशम् = कुसुमानाम् पुष्पाणाम् आमोदः अतिमनोहरः गन्धः तेन वासिताः सुरभीकृताः दश दिशः येन तादृशम् । मसृणमरकतमणिशिलाकुट्टिमसुखायमानचरणसञ्चारसूचितम् = मसृणाः चिक्कणाः याः मरकतमणीनाम् गारुत्मतरत्नानाम् शिलाः पाषाणाः तासाम् कुट्टिमः=ताभिः निबद्धा भूमिः तत्र सुखायमानः सुखं वेदयते इति सुखायमानः अक्लिष्टः, 'सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम्' इति क्यङ् । तादृशः यः चरणसञ्चारः पादन्यासः तेन सूचितम् दत्तपरिचयम् । 'आमोदो

झुरमुट है, यह है गुलाब की क्यारी । इस तरह गन्धभेदसे वृक्ष मार्गका संकेत कर रहे हैं यद्यपि वह अन्धकारच्छन्न है ॥ ८ ॥

(दोनों जाते हैं)

विदूषक—मधुमत्त भ्रमर गिर रहे हैं, फूलोंकी सुवास दिशाओंको सुगन्ध कर रही है, चिकनी मरकत शिला पर चलनेसे पैरोंको आनन्द मिल रहा है, इन चिह्नोंसे

संचारसूचितं तमेव माधवीलतामण्डपं संप्राप्तौ स्वः । तदिहैव तिष्ठतु भवान् यावदहं देवीवेषधारिणीं सागरिकां गृहीत्वा लघ्वागच्छामि ।)

राजा—वयस्य तेन हि त्वर्यताम् ।

विदू०—भो मा उत्तम्म । एस आगदोम्हि । (भोः मोत्ताम्य । एष आगतोऽस्मि ।) [इति निष्क्रान्तः ।]

राजा—यावदहमप्यस्यां मरकतशिलावेदिकायामुपविश्य प्रियायाः संकेतसमयं प्रतिपालयामि । (उपविश्य सचिन्तम् ।) अहो कोऽपि कामिज-

---

गन्धहर्षयोः, इति 'मसृणोऽकर्कशे स्निग्धे' इति च विश्वः । तम् = अनुभूतपूर्वम्, एतेन परिचयस्य संभवित्वं व्यञ्जितम् । सम्प्राप्तौ = समागतौ । इहैव = माधवीलतामण्डप एव । तस्यैव मण्डपस्य दत्तसंकेततया तथा प्रार्थना । देवीवेषधारिणीम्=देवी वासवदत्ता तस्याः वेषः परिच्छदः तमवश्यं धरतीति देवीवेषधारिणीम् 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' इति णिनिः । उपपदसमासः । लघु = शीघ्रम् 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः ।

त्वर्यताम = शीघ्रता क्रियताम् , सागरिकाऽऽनयने इति शेषः, द्विरुक्तिरौत्सुक्यव्यञ्जिका ।

मोत्ताम्य = मा उत्ताम्य खिद्यस्व, सन्तापशान्तेराशुभावित्वादिति भावः । अत्र माशब्दोऽयं निषेधार्थोऽतो न 'माङि लुङ्' इत्यस्य प्रसक्तिः ।

मरकतशिलावेदिकायाम् = मरकतस्य गारुत्मतमणेः शिला पाषाणः तस्या वेदिका बद्धोच्चा भूमिः तस्याम् । उपविश्य=आसित्वा । प्रियायाः=सागरिकायाः संकेतसमयम्=आगमनाय निर्धारितपूर्वकालम् । प्रतिपालयामि=प्रतीक्षे । सचिन्तमिति चिन्ता चात्र स्वपरिस्थितिनिरीक्षणप्रयुक्तेन मनसोऽवस्थाविशेषेण ।

ज्ञात होता है, कि हम माधवीलता मण्डपमें पहुँच गये हैं । अतः आप कुछ देर प्रतीक्षा करें, मैं जाकर वासवदत्ता वेषधारिणी सागरिकाको लेकर शीघ्र आरहा हूँ ।

राजा—मित्र, जहाँ तक हो सके शीघ्रता करो ।

विदूषक—घबड़ाइये मत, अभी आरहा हूँ । (जाता है)

राजा—तब तक मैं भी इस मरकतमणि शिलावेदिकापर बैठकर प्रियाकी प्रतीक्षा करता हूं । (बैठकर, चिन्तासहित) कामी लोगोंके हृदयमें अपनी

नस्य स्वगृहिणीसमागमपरिभाविनो जनमभिनवं प्रति पक्षपातः। तथाहि—

प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताऽप्यहो
रमयतितरां संकेतस्था तथापि हि कामिनी॥ ९॥

कामिजनस्य = अतिकामातुरस्य। कामोऽस्त्यस्येति कामी, भूम्नि इनिप्रत्ययः। स्वगृहिणीसमागमपरिभाविनः = स्वस्त्रीसमागममनाद्रियमाणस्य। इदं कामिजनविशेषणम्। अभिनवम् = अनुपभुक्तपूर्वम्। पक्षपातः = आदरबाहुल्यम्।

प्रणयेति। सङ्केते दत्तसङ्केतस्थाने तिष्ठतीति सङ्केतस्था सङ्केतस्थाने प्रणयिना समागताकामिनी नायिका (परेण विदिता-ज्ञातपरपुरुषसङ्गमा स्यामिति) शङ्किता समुत्पन्नातङ्का प्रणयविशदाम् स्नेहस्निग्धाम् दृष्टिं वक्त्रे प्रणयिनो मुखे न ददाति नार्पयति। परकर्तृ कदर्शनभयव्यग्रा प्रसन्नया दृशा प्रेयसो मुखं न पश्यतीत्यर्थः। कण्ठाश्लेषे आलिङ्गने रसात् अनुरागप्रकर्षात् स्तनौ कुचौ घनम् निविडं न घटयति योजयति। स्तनोपपीडं नालिङ्गति, तत्रापि शङ्कैव हेतुः, सा चात्र तथाकरणे चन्दनस्थासकादिच्युतिविषया, तथाहि सति प्रतिवेशिन्यस्तस्याः सङ्केतस्थानात् परावर्त्तने चन्दनादिच्युत्या परपुरुषसंभोगमनुमिनुयुरिति भावः। प्रयत्नधृता प्रयस्यावलम्बिता अपि 'गच्छामि' इति बहुशः बहुवारम्। वदति, अत्रापि शङ्कैव कारणम्, तदवस्थायास्तस्याश्चिरं तत्र स्थितौ परदृग्गोचरतासम्भवाच्च शङ्का। अहो आश्चर्यं, तथापि कटाक्षप्रक्षेपदृढालिङ्गनसुचिरसहवासादे रमणकारणस्याभावेऽपि (सङ्केतस्था कामिनी) रमयतितराम् अतिशयेन रमयति। 'बहुशः' इति 'बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादि'ति शस्। 'रमयतितराम्' इति 'तिङश्चे' ति तरप्, ततः 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' इत्याम्। अत्र कारणभावेऽप्यतिशयरमणरूपकार्योत्पत्तिनिबन्धाद् विभावनाऽलंकारः। हरिणी वृत्तं, तल्लक्षणं यथा—'नसमरसलागः षड् वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति॥ ९॥

स्त्रीको छोड़कर परकीयाके लिये कुछ खास पक्षपात का होना आश्चर्यकी बात है। क्योंकि—

शङ्काके कारण स्नेहभरी चितवनसे देखती नहीं है, आलिङ्गनके समय रसावेश में स्तनोंको छातीमें नहीं सटने देती है, यत्नसे रखने पर भी बारम्बार कहती है कि जाती हूं, तथापि संकेत-स्थ कामिनी कामियोंको विशेष रूपसे आनन्दित करती है! ॥ ९॥

अये कथं चिरयति वसन्तकः । तत् किं नु खलु विदितः स्यादयं वृत्तान्तो देव्या ।

(ततः प्रविशति वासवदत्ता काञ्चनमाला च ।)

वासव०—हञ्जे काञ्चणमाले सच्चं ज्जेव्व मम वेसं कदुअ साअरिआ उज्जउत्तं अहिसरिस्सदि । (हञ्जे काञ्चनमाले सत्यमेव मम वेषं कृत्वा सागरिकाऽऽर्यपुत्रमभिसरिष्यति ।)

काञ्चन०—कधं अण्णधा भट्टिणीए णिवेदीअदि । अध वा चित्तसालिआदुआरे-ट्ठिदो वसन्तओ ज्जेव्व दे पच्चअं उप्पादइस्सदि । (कथमन्यथा भट्टिन्यै निवेद्यते । अथ वा चित्रशालिकाद्वारे स्थितो वसन्तक एव ते प्रत्ययमुत्पादयिष्यति ।)

वासव०—तेण हि तहिं ज्जेव्व गच्छम्ह । (तेन हि तत्रैव गच्छावः ।)

चिरयति = चिरं करोति विलम्बत इत्यर्थः । 'किन्तु खलु' इति वितर्के । अत्र 'तत् किन्तु खलु' इत्यादिवाक्येन देवीशंकाया वितर्काद्रूपाख्यं गर्भसन्धेरङ्गमुक्तम्, तदुक्तम्—'रूपं वितर्कवद् वाक्यम्' इति ।

अभिसरिष्यति = अभिसारिकाभावेनोपैष्यति, अभिसारिकालक्षणमुक्तममरसिंहेन–'कान्तार्थिनी तु या याति संकेतं साभिसारिका' इति ।

अन्यथा = अस्यार्थस्यालीकत्वे । यद्ययमर्थो मिथ्याऽभविष्यत्तर्हि कथमहं देव्यै न्यवेदयिष्यं, प्रभुप्रतारणायाः स्वविपत्त्यामन्त्रणात्मकत्वादिति भावः । अथवा माभूद्भवत्या मद्वचसि श्रद्धा, प्रत्यक्षं तु श्रद्धास्यत इति मनसिकृत्याह—अथवेति । चित्रशालाद्वारवस्थितं वसन्तकं दृष्ट्वा देवी मदुक्तार्थं सत्यत्वेन स्वीकर्त्तु बाधिष्यत इति भावः । प्रत्ययम् = विश्वासम् ।

वसन्तक देर क्यों कर रहा है ? क्या यह खबर देवीको मिल गई है ?

(वासवदत्ता तथा काञ्चनमालाका प्रवेश)

वासवदत्ता—अरी काञ्चनमाला, क्या सचमुच सागरिका हमारा वेष बनाकर राजा के पास जायेगी ?

काञ्चनमाला—आपसे असत्य कैसे कहूँगी ? अथवा चित्रशालिकाके द्वारपर बैठा वसन्तक ही आपको विश्वास करा देगा ।

वासवदत्ता—तब वहीं चलें ।

काञ्चन०—एदु एदु भट्टिणी । (एत्वेतु भट्टिनी ।)

(उभे परिक्रामतः ।)

(ततः प्रविशति कृतावगुण्ठनो वसन्तकः ।)

वसन्तकः—(कर्णं दत्त्वा ।) जधा चित्तसालिआदुआरे पदसद्दो सुणीअदि तधा तक्केमि आगदा साअरिअत्ति । (यथा चित्रशालिकाद्वारे पदशब्दः श्रूयते तथा तर्कयाम्यागता सागरिकेति ।)

काञ्चन०—भट्टिणि इणं सा चित्तसालिआ । ता जाव वसन्तअस्स सण्णं करेमि । (भट्टिनि इयं सा चित्रशालिका । तद्यावद्वसन्तकस्य संज्ञां करोमि । (इति छोटिकां ददाति ।)

विदू०—(सहर्षमुपसृत्य सस्मितम् ।) सुसंगदे सुठ्ठु क्खु किदो तुए एसो कञ्चणमालाए वेसो । अध साअरिआ दाणिं कहिं । (सुसंगते सुष्ठु खलु कृतस्त्वयैष काञ्चनमालाया वेषः । अथ सागरिकेदानीं कुत्र ।)

काञ्चन०—(अङ्गुल्या दर्शयन्ती ।) णं एसा ! (नन्वेषा ।)

कृतावगुण्ठनः = कृतमुखप्रच्छादनः, तथाकरणञ्च स्वगोपनाय ।

कर्णं दत्त्वा = आकर्णनाभिनयं कृत्वेत्यर्थः ।

संज्ञाम् = करतालिकाच्छोटिकादिशब्देन स्वागमनसूचनाम् , 'संज्ञा स्याच्चेतना नाम हस्ताद्यैश्चार्थसूचना' इत्यमरः । अत्र वासवदत्ताकाञ्चनमालाभ्यां राजविदूषकयोरभिसन्धीयमानत्वादधिबलमिति गर्भसन्धेरङ्गम् , तथा च तल्लक्षणम् 'कपटेनाभिसन्धानं ब्रुवतेऽधिबलं बुधाः' इति ॥ छोटिकाम् = मध्यमाङ्गुष्ठयोरङ्गुल्योर्मिलितः शब्दविशेषः ।

काञ्चनमाला—चलें महारानी । (दोनोंका प्रस्थान)

(कृतावगुण्ठन वसन्तकका प्रवेश)

वसन्तक—(कान लगाकर) चित्रशालिकाके द्वार पर पद-ध्वनि हो रही है, मालूम पड़ता है सागरिका आगई ।

काञ्चनमाला—महारानी, यही तो चित्रशालिका है, मैं वसन्तकको सचेत करती हूँ । (चुटकी बजाती है)

विदूषक—(सहर्ष समीप आकर हंसता हुआ) सुसंगता, तुमने तो खूब काञ्चनमालाका वेष बनाया है, अरी सागरिका इस समय कहाँ है ?

काञ्चनमाला—(अंगुलीसे इशारा करके) यही तो है ।

विदू०—(दृष्ट्वा सविस्मयम् ।) एसा फुडं एव्व देवी वासवदत्ता। (एषा स्फुटमेव देवी वासवदत्ता ।)

वासव०—(साशङ्कमात्मगतम् ।) कधं जाणिदम्हि । (कथं ज्ञातास्मि।)

विदू०—(छोटिकां ददाति ।) भोदि साअरिए इदो आअच्छ । (भवति सागरिके इत आगच्छ ।) (वासवदत्ता विहस्य काञ्चनमालामवलोकयति ।)

काञ्चन०—(अपवार्य अङ्गुल्या तर्जयन्ती ।) हदास सुमरिस्ससि एदं अत्तणो वअणम् । (हताश स्मरिष्यस्येतदात्मनो वचनम् ।)

विदू०—तुअरदु तुअरदु साअरिआ । एसो क्खु पुव्वदिसादो उग्गच्छदि भअवं मिअलञ्छणो । (त्वरतां त्वरतां सागरिका । एष खलु पूर्वदिश उद्गच्छति भगवान्मृगलाञ्छनः ।) (परिक्रामति ।)

सविस्मयम् = आश्चर्यपूर्वकम् , सागरिकाकृता यथावद्वासवदत्तानुकृतिरत्र विदूषकस्य विस्मये हेतुः एषा स्फुटमिति । वासवदत्तामनुकुर्वतीयं भिन्नत्वेन नावगम्यत इत्यर्थः ।

साशङ्कम् = अनेनाहं प्रत्यभिज्ञातेति ज्ञानं देव्या आशङ्काकारणम् ।

हताश = हताः आशाः यस्य तादृशः, मृत इत्यर्थः, मृतस्य हि सर्वा आशा विरमन्तीत्यभिमानेनेदम् । इदं वचनम् = वासवदत्तायाः सागरिकाऽभिप्रायेणाह्वानरूपं स्ववचनम् । स्मरिष्यसि = मा विस्मार्षीः, एतस्यापराधस्य कठिनो दण्डस्त्वया भोक्तव्य इति हृदयम् ।

मृगलाञ्छनः = चन्द्रः, मृगः लाञ्छनं चिह्नं यस्य सः । तदुदयेऽभिसारिकाया गमने विघ्नस्य सम्भवात् , चन्द्रोदये जाते राज्ञः सन्तापस्यासह्यत्वस्यापत्तेर्वा त्वरोक्तिरियम् ।

विदूषक—(देखकर आश्चर्य) यह तो हूबहू वासवदत्ता बन गई !

वासवदत्ता—(शङ्कापूर्वक, स्वगत) क्या इसने पहचान लिया ?

विदूषक—(चुटकी बजाता है) देवी सागरिका, इधर आइये ।

[वासवदत्ता हंसकर काञ्चनमालाकी ओर देखती है]

काञ्चनमाला—(मुंह घुमाकर अङ्गुलिसे फटकारती हुई) हताश याद रखना यह अपनी बात

विदूषक—सागरिका, शीघ्रता कीजिये, पूर्व दिशामें यह चन्द्रोदय होने जारहा है । (चलता है)

राजा—अये उपस्थितप्रियासमागमस्यापि किमिदमत्यर्थमुत्ताम्यति मे चेतः। अथ वा।

तीव्रः स्मरसंतापो न तथादौ बाधते यथासन्ने।
तपति प्रावृषि नितरामभ्यर्णजलागमो दिवसः॥ १०॥

विदू०—(कर्णं दत्त्वा।) भोदि साअरिए एसो क्खु पिअवअस्सो तुमं ज्जेव्व उद्दिसिअ उक्कण्ठाणिब्भरं मन्तेदि। ता णिवेदेमि से तुह्मागमणम्। (भवति सागरिके एष खलु प्रियवयस्यस्त्वामेवोद्दिश्योत्कण्ठानिर्भरं मन्त्रयते। तन्निवेदयाम्यस्मै तवागमनम्।)

उपस्थितप्रियासमागमस्य = अनुपदसम्भाव्यमानप्रेयसीमिलनस्य। अत्यर्थम्= भृशम्। उत्ताम्यति = खिद्यते। अथवा, सहेतुकतया युक्त एव चेतसः खेद इति कोट्यन्तरपरिग्रहबीजम्।

तीव्र इति। तीव्रः कठोरः असह्य इत्यर्थः। स्मरस्य सन्तापः कामपीडा आदौ प्रेम्णः प्रथमकक्षायाम् चक्षूरागमात्रे इत्यर्थः। तथा तावत् न बाधते न व्यथयति यथा यावत् आसन्ने समीपागते (प्रियासङ्गमे इति विशेष्यमूहनीयम्) बाधते व्यथयति। चक्षूरागावस्थः स्नेहस्तावतीं व्यथां न जनयति यावतीं व्यथामनतिचिरं निर्वर्त्स्यन् प्रेयसीसमागमो जनयति, तस्यां स्थितौ प्रतीक्षायाः प्राणपीडकत्वादिति भावः। उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति–तपतीति। प्रावृषि वर्षासमये अभ्यर्णजलागमः समीपागतवृष्टिः दिवसः नितराम् अतिशयेन तपति ऊष्माणमनुभावयति। वृष्टौ प्रारप्स्यमानायां तापाधिक्यमनुभूयत इति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः। 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि-वर्षाः' इत्यमरः॥ १०॥

उत्कण्ठानिर्भरम् = सोत्कण्ठम्, उत्कण्ठा सस्पृहं चिन्ता, सा निर्भरा व्याप्ता

राजा—प्रियाका समागम आसन्न है फिर भी मेरा हृदय क्यों व्याकुल होता है। अथवा—

अतिकठोर कामपीड़ा भी पहले उतना नहीं सताती, जितना कि समागमके आसन्न होने पर, ग्रीष्मकी धूप उतना नहीं जलाती जितना कि वृष्टिसे पूर्वकी बरसाती धूप जलाती है॥ १०॥

विदूषक—(कान लगाकर) देवि सागरिके, ये मेरे मित्र, तुम्हें ही उद्देश्य करके उत्कण्ठित हृदयके उद्गारको प्रकट कर रहे हैं। इन्हें मैं तुम्हारे आनेकी सूचना देता हूँ।

वासव०—(शिरःसंज्ञां ददाति।)

विदू०—(राजानमुपसृत्य।) भो वअस्स दिट्ठिआ वड्ढसि। एसा क्खु मए आणीदा साअरिआ। (भो वयस्य दिष्ट्या वर्धसे। एषा खलु मयाऽऽनीता सागरिका।)

राजा—(सहर्षं सहसोत्थाय।) वयस्य क्वासौ क्वासौ।

विदूषकः—णं एसा। (नन्वेषा।)

राजा—(उपसृत्य।) प्रिये सागरिके।

शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ
रम्भागर्भनिभं तथोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ।

यस्मिन् कर्मणि तथा। अत्र 'राजा—अये उपनतप्रियासमागमस्य' इत्यत आरभ्य 'निवेदयामि तवागमनम्' इत्यन्तेन सन्दर्भेण वत्सराजस्य सागरिकासमागममभिलषत एव भ्रमविषयसागरिकाप्राप्तिरिति क्रमो नाम गर्भसन्धेरङ्गमुक्तम्, 'क्रमः सञ्चिन्त्यमानाप्तिः' इति हि तल्लक्षणम् ॥

शीतांशुरिति। तव मुखम् शीतांशुः हिमकरः तद्वत्तापहारित्वात्तत्त्वोपचारः (एवं परत्रापि तापहारित्वमूह्यम्, तवेत्यस्य सर्वत्राग्रिमवाक्येष्वन्वयः) दृशौ नयने उत्पले कुवलये तद्वच्छीतलस्वभावे इत्यर्थः। करौ हस्तौ पद्मानुकारौ पद्मम् कमलम् अनुकुरुतः अनुहरत इति तादृशौ। (करयो रक्तत्वकोमलत्वादिनाऽन्यगुणगणेन सह शैत्यमपि कमलसादृश्यप्रयोजकमवगन्तव्यम्) तथा ऊरुयुगलम् सक्थिद्वयम् रम्भागर्भनिभम् रम्भायाः कदल्याः (तरोः) गर्भः मध्यभागः (अपहृतबहिरावरणः कदलीकाण्ड एव तद्गर्भः) तन्निभम् तत्सदृशम्। कदलीकाण्डस्य शीतलत्वं सर्वानुभवसिद्धम्, तद्विषये कालिदासस्यापि सम्मतिः एकान्तशैत्यात् कदली-

---

वासवदत्ता—(शिर हिलाती है)

विदूषक—(राजाके पास जाकर) मित्र, तुम बड़े भाग्यवान् हो। देखो, मैं सागरिकाको ले आया।

राजा—(सहर्ष, सहसा उठकर) मित्र, कहाँ है, वह कहाँ है ?

विदूषक—यही तो है।

राजा—(समीप आकर) प्रिये सागरिके, मुख चन्द्रमा है, आँखे कमल हैं, ऊरुयुग कदलीगर्भ हैं, दोनों हाथ कमलदल हैं, इस तरह तुम्हारे सभी अङ्ग

इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान्निःशङ्कमालिङ्ग्य मा-
मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥ ११ ॥

वासव०—(सवाष्पमपवार्य ।) कञ्चणमाले एव्वं पि मन्तिअ अज्जउत्तो पुणो वि मं आलविस्सदित्ति अहो अच्चरिअं । (काञ्चनमाले एवमपि मन्त्रयित्वार्यपुत्रः पुनरपि मामालपिष्यतीत्यहो आश्चर्यम् ।)

विशेषः' इति । बाहू हस्तौ मृणालोपमौ कमलनालतुल्यौ । इति एवम् आह्लादकराखिलाङ्गि आह्लादकराणि तापहराणि अखिलानि मुखदृक्करोरुयुगबाहुसंज्ञकानि समस्तानि अङ्गानि यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ तथा । एहि एहि आगच्छ आगच्छ । (द्विरुक्तिरुत्कण्ठातिशयरूपसम्भ्रमद्योतनाय) माम् रभसात् वेगात् निश्शङ्कम् वीतभयम् आलिङ्ग्य आश्लिष्य अनङ्गः कामदेवः तस्य यः तापः सन्तापः तेन विधुराणि व्याकुलानि (मम) अङ्गानि निर्वापय शीतलय । चन्द्रायतिशीतलवस्तूपमिततत्तदङ्गलतिकायास्तवालिङ्गनं मम स्मरतापापनुत्तये जायतामित्यर्थः । निर्वापणक्रियाकर्मसमर्पकेऽङ्गानीतिपदे बहुवचन सर्वाङ्गावयवावच्छेदेनालिङ्गनस्य प्रार्थ्यमानतां गमयितुम् । निःशंकमिति शंकासामान्याभावप्रतिपादनद्वारा देव्यपादानकस्यान्यस्य वा नवसङ्गमकालिकस्य भयस्यानुचितत्वं व्यञ्जयन् राज्ञः सर्वात्मनाऽऽत्मनिवेदनं बोधयति । रभसादिति समयक्षेपस्यानौचित्यन्तच्च सन्तापस्य क्षणमप्यसह्यत्वं तच्च राजानुरोधस्यावश्यरक्ष्यत्वं व्यञ्जयति । शमयेति वाच्ये निर्वापयेति कथनं शम्यमानस्य सन्तापस्यापुनरुज्जीवनं तच्चास्य प्रणयव्यापारस्याकृत्रिमत्वस्थायित्वे व्यञ्जयति, ताभ्यां च सागरिकाया आश्वासनं व्यज्यते । 'सक्थि क्लीवे पुमानूरुः' इत्यमरः । 'विधुरं तु प्रविश्लेषे विकले' इति च । रूपकमुपमा चालंकारौ । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥११॥

अत्र 'राजा—(उपसृत्य) प्रिय' इत्यादिना 'इह तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे' इत्यन्तेन वासवदत्तया वत्सराजभावस्य ज्ञातत्वात् क्रमो नाम गर्भसन्धेरङ्गमुक्तम् । इदं च 'भावज्ञानं क्रमः' इति मते । तथा च क्रमलक्षणमधिकृत्य भरतः—क्रमः सञ्चिन्त्यमानाप्तिर्भावज्ञानमथापरे' इति । प्रथमं मतमधिकृत्योक्तं क्रमाख्यमङ्गं पूर्वमनुपदमेव द्रष्टव्यम् ।

एवं मन्त्रयित्वा—सागरिकामुद्दिश्याभिधाय । अन्यसङ्क्रान्तप्रेमतामात्मनो

सन्ताप हरण करनेमें समर्थ हैं, अतः हे प्रिये, आओ, मेरे शरीरमें लिपटकर हमारे इन काम-सन्तप्त अङ्गोंको शीतल करो ॥ २१ ॥

वासवदत्ता—(आंखोंमें आंसू भरकर, मुंह फेरकर) इस तरह बातें करके भी महाराज फिर मुझसे प्रेमालाप करेंगे—मुझे आश्चर्य होता है ।

काञ्च०—(अपवार्य ।) भट्टिणी एव्वं ण्णेदम् । किं उण साहसिआणं पुरुषाणं ण संभावीअदि (भर्त्रि एवं न्विदम् । किं पुनः साहसिकानां पुरुषाणां न संभाव्यते ।)

विदूषकः—भोदि साअरिए वीसद्धा भविअ पिअवअस्सं आलावेहि। अज्जवि दाव से णिच्चरुट्ठाए देवीए वासवदत्ताए दुट्ठवअणेहिं कडुइदाइं सोत्ताइं संपदं सुहावेदु तुह महुरवअणोवण्णासो। (भवति सागरिके विश्रब्धा भूत्वा प्रियवयस्यमालप। अद्यापि तावदस्या नित्यरुष्टाया देव्या वासवदत्ताया दुष्टवचनैः कटुकिते श्रोत्रे सांप्रतं सुखयतु तव मधुरवचनोपन्यासः।)

वासव०—(अपवार्य सरोपस्मितम् ।) कञ्चणमाले अहं ईदिसी कडुअभासिणी। अज्जवसन्तओ उण पिअंवदो। (काञ्चनमाले अहमीदृशी कटुभाषिणी। आर्यवसन्तकः पुनः प्रियंवदः।)

काञ्च०—(अपवार्य ।) हदास सुमरिस्ससि एदं वअणम् । (हतास्मरिष्यस्येतद्वचनम् ।)

मामेव प्रति प्रकाश्येत्याशयः । आलपिष्यति = मया सहेति शेषः ।

एवं न्विदम्=त्वदुक्तमुचितम् इत्यर्थः । साहसिकानाम् = साहसवताम् , सहसा वर्तन्ते इति साहसिकाः, 'ओजः सहोऽम्भसा वर्तते' इति ठक् । तच्चात्र साहसं स्वां विहायापरगताः स्त्रियः प्रति पुनः प्रेमप्रदर्शनरूपम् ।

विश्रब्धा = वीतशंका । नित्यरुष्टायाः = सततकुपितायाः । दुष्टवचनैः = कटूक्तिभिः । कटुकिते = कटुत्वमापादिते क्लेशमापिते इत्यर्थः श्रोत्रे = कर्णौ । मधुरवचनोपन्यासः = मधुमयवचःप्रस्तावः । सुखयतु = प्रसन्नीकरोतु ।

काञ्चनमाला—(मुँह फेरकर ही) है तो ऐसी ही बात, किन्तु साहस करनेवाले क्या नहीं कर सकते हैं।

विदूषक—देवि सागरिके, विश्वस्त होकर मित्रके साथ प्रेमालाप करो। आज भी तो तुम्हारी मीठी बातें नित्य रुष्ट वासवदत्ताकी कटूक्तियोंसे जले हुए इनके श्रवणोंको तृप्त करें।

वासवदत्ता—(मुंह फेरकर, सकोप) काञ्चनमाला, मैं कटुभाषिणी हूँ, और आर्य वसन्तक मिष्टभाषी!

काञ्चनमाला—(मुंह फेरकर) मुंह जला, अपनी यह बात याद आवेगी।

विदू०—(विलोक्य।) भो वअस्स पेक्ख पेक्ख। एसो क्खु कुविद-कामिणीकपोलसण्णिहो पुव्वदिसं पआसअन्तो उदिदो भअवं मिअलञ्छणो। (भो वयस्य प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। एष खलु कुपितकामिनीकपोलसंनिभः पूर्वदिशं प्रकाशयन्नुदितो भगवान्मृगलाञ्छनः।)

राजा—प्रिये सागरिके पश्य।

आरुह्य शैलशिखरं त्वद्वदनापहृतकान्तिसर्वस्वः।
प्रतिकर्तुमिवोर्ध्वकरः स्थितः पुरस्तान्निशानाथः॥ १२॥

अपि च। दर्शितमनेनोद्गच्छता प्रकृतिजडत्वम्। कुतः।

कुपितकामिनीकपोलसन्निभः=कुपिता क्रुद्धा चासौ कामिनी च तस्याः कपोलः गण्डदेशः तत्सन्निभः तत्तुल्यः। ईषद्रक्तवर्ण इत्यर्थः, कुपितानां वनितानां मुखानि रक्ततयोत्प्रेक्ष्यन्ते 'रक्तौ च क्रोधरागौ, इति कविसमयानुरोधात्। मृगलाञ्छनः=शशी।

आरुह्येति। तव सागरिकायाः मुखम् वदनम् तेन अपहृतम् बलात्कारेण गृहीतम् कान्तिः द्युतिः एव सर्वम् समस्तम् स्वम् धनम् यस्य तादृशः निशानाथः चन्द्रः शैलस्य उदयाचलस्य शिखरम् शृङ्गम् आरुह्य आक्रम्य प्रतिकर्त्तुम् वैरं निर्यातयितुम् इव उर्ध्वम् उत्क्षिप्ताः कराः किरणा हस्ताश्च यस्य तादृशः सन् स्थितः। अन्योऽपि कश्चित् केनचिदन्येन सर्वस्वे ह्रियमाणे तत्प्रतिकाराय किञ्चिदुच्चं स्थानमध्यास्य बाहू चोपरि नीत्वा सर्वस्वापहारिणमाह्वयमान इव तिष्ठति तद्वच्चन्द्रोऽपि तव मुखेन जीयमान उदयाचलमारुह्य किरणाँश्चोर्ध्वमुत्क्षिप्य वर्त्तत इति भावः। अत्र चन्द्रमसि प्रतिकारतत्परपराजितजनव्यवहारसमारोपात्समासोक्तिरलङ्कारः॥ १२॥

उद्गच्छता = उद्यता, जडत्वम्—अज्ञानभावः जलत्वम् = जलमयत्वं वा, डल-

---

विदूषक—(देखकर) मित्र, देखिये, रुष्ट कामिनीके कपोलकी तरह आरक्त ये चन्द्रमा प्राचीमें उदय लेरहे हैं।

राजा—प्रिये सागरिके, देखो—

तुम्हारे मुखने चन्द्रमाकी सारी कान्तिरूप सम्पत्ति छीन ली है उसका प्रतिकार करनेके लिये, मालूम पड़ता है, ये चन्द्रमा उदयाचल पर आरूढ हो किरणोंको फैलाकर सामने आते हैं॥ १२॥

और—उगते ही इनकी जड़ प्रकृति प्रकट होने लगी, क्योंकि—

किं पद्मस्य रुचं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किं
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्।
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्गतो
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे॥ १३॥

योरभेदाज्जलत्वमित्यर्थः, चन्द्रमसो जलमयत्वं चोक्तं भास्कराचार्येण—'तरणिकिरणसङ्गादेव पानीयपिण्डो दिनकरदिशि चन्द्रश्चन्द्रिकाभिश्चकास्ति। तदितरदिशि बालाकुन्तलश्यामलश्रीर्घट इव निजमूर्त्तिच्छाययैवातपस्थः' इति।

किं पद्मस्येति। अयम् पुरोवर्त्ती तव सागरिकायाः वक्त्रमेवेन्दुः वक्त्रेन्दुः मुखचन्द्रः पद्मस्य कमलस्य रुचम् कान्तिम् न हन्ति न परासयति किम्? अपि तु परासयत्येवेति काकुः। (दर्शकस्य) नयनानन्दम् नेत्रतृप्तिम् न विधत्ते करोति किम्? अपि तु करोत्येव। आलोकमात्रेण केवलदर्शनेन झषः मीनः केतनम् चिह्नभूतम् यस्य एतादृशस्य कामस्य पक्षे समुद्रस्य वृद्धिम् वर्द्धनम् पक्षे आप्यायनम् न करोति किम्? अपि तु करोत्येव। (एतादृशे चन्द्रकर्त्तव्यतया प्रसिद्धे पद्मरुचिहर्तृत्वनयनानन्दसमर्पकत्वालोकमात्रेण झषकेतनसमेधयितृत्वेषु प्रभौ) तव वक्त्रेन्दौ मुखचन्द्रे सति दीप्यमाने यद् यस्मात् अयम् अपरः द्वितीयः शीतांशुः चन्द्रः (निरर्थकम्) अभ्युद्गतः उदितः (अतः जडोऽयमिति पूर्वोक्तमुपपन्नम्)। नन्वस्ति व्यतिरेकः शीतांशोरमृतवर्षित्वादिति शङ्कामपनुदति–दर्प इति। (अस्य शीतांशोः) चेत् यदि अमृतेन सुधया दर्पः स्वगौरवगर्वः स्यात् तदपि अमृतमपि इह तव वक्त्रेन्दौ बिम्बाधरे बिम्बीफलतुल्येऽधरोष्ठे अस्त्येव विद्यत एव। एवकारस्तद्भावदार्ढ्यद्योतनद्वारा शीतांशूदयवैयर्थ्यप्रमाणकं तज्जडत्वं निश्चययति। पद्मपदे पदोश्चरणयोर्मा लक्ष्मीर्यस्मिन्निति विग्रहेण चरणशोभाधारित्वप्रतीत्या मुखापेक्षया हीनताया उपपत्तिः। अत्र प्रसिद्धोपमानतिरस्करणात्प्रतीपमलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ १३॥

तुम्हारा मुख पद्मकी कान्तिका हरण करता ही है, नयनोंको तृप्ति देता ही है, झषकेतन (कामदेव और समुद्र) की भी वृद्धि अपने आलोकसे करता ही है, (इस प्रकार चन्द्रमाके सकल कार्यको करने वाले) तुम्हारे मुखचन्द्रके चमकते रहने पर भी यह चन्द्र उदित हो रहा है, (अतः यह जड़ है) अगर इसे अमृतका गर्व हो तो क्या वह तुम्हारे अधरमें नहीं है॥ १३॥

वासव०—(सरोषमवगुण्ठनमपनीय।) अज्जउत्त सच्चं एव्व अहं साअरिआ। तुमं उण साअरिओक्खित्तहिअओ सव्वं एव्व साअरिआमअं पेक्खसि। (आर्यपुत्र सत्यमेवाहं सागरिका। त्वं पुनः सागरिकोत्क्षिप्तहृदयः सर्वमेव सागरिकामयं प्रेक्षसे।)

राजा—(सवैलक्ष्यमपवार्य।) कथं देवी वासवदत्ता। वयस्य किमेतत्।

विदू०—(सविषादम्।) भो वअस्स किं अवरं। अम्हाणं जीविअसंसओ जादो एसो। (भो वयस्य किमपरम्। अस्माकं जीवितसंशयो जात एषः)

राजा—(उपविश्याञ्जलिं बद्ध्वा !) प्रिये वासवदत्ते प्रसीद प्रसीद।

वासव०—(तन्मुखाभिमुखं हस्तौ प्रसार्याश्रूणि विधारयन्ती।) अज्जउत्त मा एव्वं भण। अण्णगदाइं इमाइं अक्खराइं। (आर्यपुत्र मैवं भण। अन्यगतानीमान्यक्षराणि।)

विदू०—(आत्मगतम्।) किं दाणिं एत्थ करिस्सं। भोदु। एव्वं दाव।

सागरिकोत्क्षिप्तहृदयः = सागरिकागतचित्तः। सागरिकामयम् = सागरिकाप्रायम्, 'त्रिभुवनमपि तन्मयम्' इति मनसि निधायेयं भर्त्सना।

किमेतत् = कथमीदृशी वञ्चनेति राजाभिप्रायः।

जीवितसंशयः = प्राणभयम्।

अन्यगतानि = अन्यविषयाणि, तवेदमाचरणं वीक्ष्य मया ज्ञातं यदधुना तव काचिदन्या प्रिया नाहमत ईदृशान्यक्षराणि तद्विषय एव प्रयोज्यानि न मद्विषय इति भावः।

वासवदत्ता—(क्रोधपूर्वक, घूँघट हटाकर) आर्यपुत्र, क्या ठीक ही मैं सागरिका हूँ। तुम तो सागरिकाके लिये पागल हो गये हो, अतः संसार तुम्हें सागरिकामय दीख रहा हैं।

राजा—(लज्जापूर्वक, मुंह फेरकर) क्या ! वासवदत्ता है मित्र यह क्या ?

विदूषक—(विषादपूर्वक) मित्र, और क्या, हम लोगोंकी जान आफतमें हैं।

राजा—(बैठकर, हाथ जोड़कर) प्रिये वासवदत्ते, प्रसन्न हो जाओ २।

वासवदत्ता—(राजाके मुँहकी ओर दोनों हाथ लेजाकर, आंसू रोककर) आर्यपुत्र यह अक्षर किसी और के लिये है।

विदूषक—(स्वगत) अब यहाँ क्या किया जाय ? अच्छा, यही सही। (प्रकट)

ओदि महाणुभावा क्खु तुमम्। ता क्खमीअदु दाव एक्को अवराहो पिअवअस्सस्स। (किमिदानीमत्र करिष्यामि। भवतु। एवं तावत्। (प्रका-शम्।) भवति! महानुभावा खलु त्वम्। तत्क्षम्यतां तावदेकोऽपराधः प्रियवय-स्यस्य।)

वासव०—अज्ज वसन्तअ णं पढमसंगमे विग्घं करन्तीए मए एव्व एदस्स अवरद्धम्। (आर्य वसन्तक ननु प्रथमसंगमे विघ्नं कुर्वत्या मयैवैतस्या-पराद्धम्।)

राजा—देवि एवं प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकः किं ब्रवीमि। तथापि विज्ञाप-यामि। पादयोः पतति।)

आताम्रतामपनयामि विलक्ष एष
लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि मूर्ध्ना।

महानुभावा=उदारहृदयाऽतः क्षन्तुं क्षमसेऽमुमपराधमस्येति प्रार्थनाऽऽशयः। मया = वासवदत्तया, एतस्य = राज्ञः अपराद्धम् = अपराधः कृतः। अतो नाहं क्षमां याच्येत्यभिप्रायः।

प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकः = साक्षात्कृताप्रियाचरणः। अनुमानादिनाऽप्रियाचरणा-वबोधे तु कश्चन कपटप्रबन्धोऽपि विधातुं शक्यते स्मेति तात्पर्यम्।

आताम्रताम इति। देवि वासवदत्ते विलक्षः गर्हितेनाप्रियेण च स्वाचरणेन लज्जितः एषः अहम् तव चरणयोः पादयोः लाक्षया जतुरागेण कृताम् जनिताम् आताम्रताम् ईषद्रक्तताम् मूर्ध्ना शिरसा (शिरःपदमत्र तद्व्यापारपरम्, स चात्र चरणयोः स्वसङ्घर्षणात्मा) अपनयामि दूरीकरोमि। स्वापराधक्षमापणाय तव लाक्षासञ्जातरागयोः पादयोः शिरसः सङ्घर्षणेन तत्रस्थिताया रक्तताया अपाकरणे

देवि, आप बड़ी उदारहृदया हैं, मेरे मित्रका यह पहला अपराध क्षमा करें।

वासवदत्ता—आर्य वसन्तक, अपराध तो मैंने ही किया कि इनके प्रथम सङ्गममें विघ्न डाल दिया।

राजा—देवि, मेरी चोरी तो प्रत्यक्ष पकड़ी गयी है,. क्या कहूं, फिर भी कहता हूँ—(पैरों पर पड़ता है)

देवि लज्जावश तुम्हारे चरणोंपर गिरकर लाक्षारञ्जित तुम्हारे चरणोंकी लाली मैं

कोपोपरागजनितां तु मुखेन्दुबिम्बे
हर्तुं क्षमो यदि परं करुणा मयि स्यात् ॥ १४ ॥

वासव०—(हस्तेन वारयन्ती।) अज्जउत्त उट्ठेहि उट्ठेहि। णिल्लज्जो क्खु सो जणो जो अज्जउत्तस्स ईदिसं हिअअं जाणिअ पुणो वि कुप्पदि ता सुहं चिट्ठदु अज्जउत्तो। गमिस्सं अहम्। (आर्यपुत्र उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। निर्लज्जः खलु स जनो य आर्यपुत्रस्येदृशं हृदयं ज्ञात्वा पुनरपि कुप्यति। तत्सुखं तिष्ठत्वार्यपुत्रः। गमिष्याम्यहम्।) (इति गन्तुमिच्छति।)

काञ्च०—भट्टिणि करेहि पसादम्। एव्वं चरणपडिदं महाराअं उज्झिअ गदाए देवीए अवस्सं पच्छादावेण होदव्वम्। (भर्त्रि कुरु प्रसादम्। एवं चरणपतितं महाराजमुज्झित्वा गताया देव्या अवश्यं पश्चात्तापेन भवितव्यम्।)

शक्तोऽहमित्याद्यपादद्वयस्यार्थः। मुखम् तव वदनमेवेन्दुः चन्द्रः (शैत्यादाह्लादकत्वाच्च) तस्य बिम्बं मण्डलम् तत्र यः कोपोपरागः क्रोधरूपः राहुस्पर्शो ग्रहणमिति यावत् तेन जनिताम् कृताम् आताम्रताम् तु हर्तुं क्षमः समर्थः स्याम् परम् किन्तु यदि मयि मल्लक्षणे जने तव करुणा दया स्यात्। त्वदीये पादे यो लाक्षाकृतो रागः तं तु शिरसा तव चरणं वन्दमानः पुनः पुनः शिरस्सङ्घर्षेणापाकर्तुमहं क्षमः, परं क्रोधभवस्तव मुखे यो रक्तिमा तं तु तदैवाहं हरेयं यदि मम दयमाना त्वं प्रसादसुमुखी भवेरित्यर्थः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १४ ॥

ईदृशम् = निसर्गसरलम्। सरलहृदयजनकृतस्यापराधस्यापि तदीयचापलप्रभवतया क्षम्यत्वेन राजनि कोपो नोचित इति भावः।

पश्चात्तापेन = खेदेन, चरणपतितो महाराजः सम्प्रति कोपवेगेन भवत्याऽवधीर्यते, अचिरेणैव भवत्याः कोपेंऽशतः शान्ते किमर्थमवधीरितो मया पादपतितो भर्तेति पश्चात्तापेन तव मनो व्याकुलयिष्यत इति भावः।

दूर करूँ। तुम्हारे मुखमें जो कोपजन्य रक्तिमा हो गयी है उसे तो मैं तभी दूरकर सकूँगा जब मुझपर तुम्हारी दया होगी ॥ १४ ॥

वासवदत्ता—(हाथसे रोकती हुई) आर्यपुत्र, उठिये, उठिये। वह आदमी निर्लज्ज है जो आर्यपुत्रके हृदयको ऐसा समझकर भी क्रोध करे। इसलिये आप सुखीसे रहें, मैं ही चली जाऊँगी। (जाना चाहती है)

काञ्चनमाला—देवि, आप प्रसन्न हो जाँय। यदि आप पादपतित महाराजको इस प्रकार छोड़कर चली जायेंगी तो आपको पछतावा होगा।

वास०—अवेहि अपण्डिदे कुदो एत्थ पसादस्स पच्चादावस्स वा कारणम्। ता एहि। गच्छम्ह। (अपेहि अपण्डिते कुतोऽत्र प्रसादस्य पश्चात्तापस्य वा कारणम्। तदेहि। गच्छावः।)

राजा—देवि प्रसीद प्रसीद। ('आताम्रतामपनयामि' इत्यादि पुनः पठति।)

विदू०—भो उठ्ठेहि। गदा देवी। ता कीस एत्थ अरण्णरुदिदं करेसि। (भो उत्तिष्ठ गता देवी। तत्कस्मादत्रारण्यरुदितं करोषि।)

राजा—(मुखमुन्नमय्य दृष्ट्वा।) कथमकृत्वैव प्रसादं गता देवी।

विदू०—कहं ण किदो पसादो जं अज्ज वि अक्खदसरीरा चिट्ठम्ह। (कथं न कृतः प्रसादो यदद्याप्यक्षतशरीरौ तिष्ठावः।)

राजा—धिङ्मूर्ख किमेवं मामुपहससि। ननु त्वत्कृत एवायमापतितोऽस्माकं महाननर्थस्य क्रमः।

अपण्डिते = मूढे।

अरण्यरुदितम् = व्यर्थप्रलापः, देव्या गतत्वेन तवोक्तयो व्यर्था इति भावः।

अक्षतशरीरौ = अनुपहतदेहौ। अहं त्वञ्च यदनया कोपनया न कशाभिस्ताडितौ स एव तस्याः प्रसादो मन्यताम्, आवयोरपराधस्य गुरुत्वात्तस्याश्च कोपपारवश्यात्। एवञ्चाकृत्वा प्रसादं गतेति त्वदुक्तिर्न युक्तेति भावः।

एवम् = अक्षतसरीरोऽसीति कथयित्वा। उपहससि = निन्दसि। अयम् = देवीकोपरूपः। अनर्थस्य = अनिष्टस्यार्थस्य। क्रमः = परिपाटी तवैवाविवेकेनायमनर्थोपनिपात इति भावः।

वासवदत्ता—हट मूर्खे, इसमें प्रसन्नता अथवा पश्चात्तापकी क्या बात है, चलो, हम दोनों चलें।

राजा—देवि, प्रसन्न हो जाओ। ('आताम्रताम्' इत्यादि श्लोकको पुनः पढता है)

विदूषक—अजी, उठिये, देवी चली गई, क्या अरण्य-रोदन कर रहे हैं?

राजा—(मुँह उठाकर, देखकर) क्या बिना प्रसन्न हुए ही देवी चली गई!

विदूषक—इनकी इतनी ही प्रसन्नता क्या कम है कि अभी तक हम लोगोंकी देह ज्यों की त्यों है।

राजा—धिक्, मूर्ख, क्यों तुम इस तरह मेरा उपहास कर रहे हो, तुम्हीं तो इस महान् अनर्थकी जड़ हो? क्योंकि—

समारूढा प्रीतिः प्रणयबहुमानादनुदिनं
व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया ।
प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ
प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति ॥ १५ ॥

विदू०—भो रुट्ठा देवी किं करिस्सदित्ति ण जाणामि । साअरिआ उण दुक्करं जीवस्सदित्ति तक्केमि । (भो रुष्टा देवी किं करिष्यतीति न जानामि । सागरिका पुनर्दुष्करं जीविष्यतीति तर्कयामि ।)

समारूढेति । प्रणयबहुमानात् । प्रेम्णः समादरात् प्रीतिः स्नेहः अनुदिनम् सततम् समारूढा दृढीभूता । देवीकृतस्य प्रणयस्य मया कृतात्तदादरात्तस्या मद्विषया प्रीतिर्वद्धभूमिरजायतेत्यर्थः । असहना कोपनस्वभावा असौ देवी अद्य कृतम् मया (तया सातिशयस्नेहलालितेन) अकृतपूर्वम् कदापि पूर्वमितोऽनाचरितम् इदम् सम्प्रत्यनुष्ठितम् व्यलीकम् अकर्त्तव्यम् अन्यस्त्रीप्रार्थनारूपम् वीक्ष्य दृष्ट्वा स्फुटम् प्रकटम् जीवितम् जीवनम् मुञ्चति खलु निश्चयेन त्यक्ष्यति । मदीयमभूतपूर्वमीदृशं दासीप्रार्थनारूपमविनयं कोपना सा क्षन्तुमसमर्था स्वान् प्राणान् परिहास्यतीत्यर्थः । तत्र हेतुमुपन्यस्यति–प्रकृष्टस्येति । हि यतः प्रकृष्टस्य अत्यारूढस्य प्रेम्णः अनुरागस्य स्खलितम् त्रुटिः अविषह्यम् सोढुमशक्यं भवतीति । प्रणयबहुमानादिति देवीविषयः स्वस्यादरः, अकृतपूर्वमितीदृशप्रियापराधकृतक्लेशस्य तयाऽननुभूतपूर्वता, तया च तस्यासह्यत्वम्, तेन च प्राणत्यागप्रवृत्तेः सम्भवित्वम्, असहनेति तस्या औदासीन्यरूपपक्षान्तरपरिग्रहवैमुख्यम् इत्याद्यर्था व्यज्यन्ते । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ १५ ॥

न जानामि = प्राणाँस्त्यक्ष्यति औदासीन्यं वा श्रयिष्यतीति मम न निश्चयः, अतस्तव तन्मृत्युविषयकं निश्चयमहं नानुमोदयामीति भावः । दुष्करम्=कष्टपूर्वकम् ।

अन्योन्य प्रणयके आदरसे स्नेह दिनानुदिन बढ़ता ही गया, मेरे द्वारा किये गये इस प्रथम किन्तु भयङ्कर अपराधको वह सह नहीं सकेगी, निश्चय ही मेरी प्रिया प्राणत्याग देगी, क्योंकि गाढ़े स्नेहकी त्रुटि बड़ी भयानक होती है ॥ १५ ॥

विदूषक—अजी, देवी रुष्ट होकर क्या करेगी यह तो मैं नहीं जानता, किन्तु सागरिकाका जीवन पहाड़ हो जायगा ।

राजा—वयस्य अहमप्येवं चिन्तयामि । हा प्रिये सागरिके !

(ततः प्रविशति वासवदत्तावेषधारिणी सागरिका ।)

साग०—(सोद्वेगम् ।) दिट्ठिआ णाहं इमिणा विरइददेवीवेसेण इमादो चित्तसालिआदो णिक्कमन्ती केणावि लक्खिदम्हि । ता इदाणिं किं करिस्सम् । (दिष्टया नाहमनेन विरचितदेवीवेषेणास्याश्चित्रशालिकाया निष्क्रामन्ती केनापि लक्षितास्मि । तदिदानीं किं करिष्यामि ।) (सास्रं चिन्तयति ।)

विदू०—भोः किं मूढो विअ चिट्ठसि । चिन्तेहि एत्थ पडिआरं। (भोः किं मूढ इव तिष्ठसि । चिन्तयात्र प्रतीकारम् ।)

राजा—ननु तमेव चिन्तयामि । वयस्य देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि । तदेहि । तत्रैव गच्छावः ।

(इति परिक्रामतः ।)

अत्र 'राजा'-धिङ्मूर्ख' इत्यादिना 'सागरिका पुनर्दुष्करं जीविष्यति' इत्यन्तेन सन्दर्भेण सागरिकानुरागजन्येन प्रकृष्टप्रेमस्खलनेन राज्ञा वासवदत्ताया मरणस्याभ्यूहनादनुमानं नाम गर्भसन्धेरङ्गमुक्तम् ।

दिष्टया = भाग्येन । निष्क्रामन्ती = बहिर्भवन्ती ।

प्रतिकारम् = स्खलितशोधनोपायम् ।

प्रसादनम् = अनुनयनम् । अत्र = तत्कोपोपशमे । अत्रानन्तरार्थचिन्तनानेन देवीप्राणत्यागलक्षणापायस्य तत्प्रसादनेन निवर्त्तनान्नियता फलप्राप्तिः सूचिता।

राजा—मित्र, मुझे भी ऐसा ही मालूम पड़ता है ।

[इसके बाद वासवदत्ताके वेषमें सागरिकाका प्रवेश ।]

सागरिका—(उद्वेगपूर्वक) भाग्यवश इस देवीवेषसे चित्रशालिकासे निकलते मुझे किसीने नहीं देखा, अब क्या करूँ ।

(रोती हुई चिन्ता करती है ।)

विदूषक—क्या मूर्खकी तरह बैठे हो, इसका उपाय न सोचो ?

राजा—मैं तो वही सोच रहा हूँ । मित्र, मुझे तो देवी को मनानेके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं दीखता है । आओ, वहीं चलें ।

(दोनों जाते हैं)

सागरिका—(विमृश्य।) वरं दाणिं सअं ज्जेव्व अप्पाणं उब्बन्धिअ उवरदा ण उण जाणिदसंकेतवुत्तन्ताए देवीए परिभूदम्हि। ता जाव अहं असोअपादवं गदुअ जहासमीहिदं करिस्सिम्। (वरमिदानीं स्वयमेवात्मानमुद्बध्योपरता न पुनर्ज्ञातसंकेतवृत्तान्तया देव्या परिभूतास्मि। तद्यावदहमशोकपादपं गत्वा यथासमीहितं करिष्यामि।)

विदू०—(आकर्ण्य।) चिट्ठ दाव। चिट्ठ भो। पदसद्दो सुणीअदि। जाणामि कदावि गहिदपच्छादावा पुणोवि देवी आगदा भवे। (तिष्ठ तावत्। तिष्ठ भोः। पदशब्दः श्रूयते। जानामि कदापि गृहीतपश्चात्तापा पुनरपि देव्यागता भवेत्।)

राजा—वयस्य महानुभावा खलु देवी। कदाचिदेवमपि स्यात्। त्वरितं निरूप्यताम्।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि। (यद्भवानाज्ञापयति।) (इति परिक्रामति।)

उद्बध्य = कण्ठे पाशं निक्षिप्य। उपरता = मृता। ज्ञातसङ्केतवृत्तान्तया = अवगतमदीयराजाभिसारसमाचारया। परिभूतास्मि = तिरस्कृता तिष्ठामि, इति न वरम् इति शेषः। परतिरस्कारो हि मानिजनस्य मृत्योरप्यधिक इत्यर्थः। यथासमीहितम् = उद्बन्धनरूपं प्राणत्यागोपायम्।

पदशब्दः = मार्गे चरणनिपातजनितो ध्वनिः। गृहीतपश्चात्तापा = चरणपतितस्यापि मम त्यागेन सञ्जातखेदा।

देवी=वासवदत्ता। 'आगता भवेत्' इत्यस्य प्रसादेन मामनुग्रहीतुमिति शेषः। निरूप्यताम् = कस्य पदशब्द इति निर्धार्यताम्।

सागरिका—(सोचकर) अच्छा है कि स्वयं गलेमें फाँसी लगाकर प्राण त्याग कर दूँ, नहीं तो देवी इस संकेत वृत्तान्तको जानकर बड़ी दुर्गत करेगी। इसलिये इस अशोकवृक्षके पास जाकर अपना कार्य पूरा करूं।

विदूषक—(आहट सुनकर) ठहरिये, ठहरिये, पैरकी आहट सुनाई देती है, मालूम पड़ता है पश्चात्तापसे प्रेरित होकर देवी फिर आ रही हैं।

राजा—देवी बड़ी विशालहृदया हैं, हो सकता है ऐसा ही हो। शीघ्र निर्णय करो।

विदूषक—जो आज्ञा। (चलता है)

सागरिका—(उपसृत्य ।) ता जाव इमाए माहवीलदाए पासं विरइअ असोअपादवे अप्पाणअं उब्बन्धिअ वावादेमि । हा ताद हा अम्ब एसा दाणिं अहं अणाधा असरणा विवज्जामि मन्दभाइणी । (तावदेतस्याः माधवीलतायाः पाशं विरचय्याशोकपादप आत्मानमुद्बध्य व्यापादयामि । (इति लतापाशं रचयन्ती ।) हा तात हा अम्ब एषेदानीमहमनाथाऽशरणा विपद्ये मन्दभागिनी ।) (इति कण्ठे लतापाशमर्पयति ।)

विदूषकः—(विलोक्य ।) का पुण एसा । कहं देवी वासवदत्ता । भो वअस्स परित्ताहि परित्ताहि । एसा क्खु देवी वासवदत्ता उब्बन्धिअ अत्ताणअं वावादेदि । (का पुनरेषा । कथं देवी वासवदत्ता (ससंभ्रममुच्चैः ।) भो वयस्य परित्रायस्व । परित्रायस्व । एषा खलु देवी वासवदत्तोद्बध्यात्मानं व्यापादयति ।)

राजा—(ससंभ्रममुपसृत्य ।) क्वासौ क्वासौ ।

विदूषकः—णं एसा । (नन्वेषा ।)

पाशम् = उद्बन्धनसाधनं रज्जुम् । व्यापादयामि = मारयामि । अनाथा = अपतिका । अशरणा = रक्षकरहिता । विपद्ये = म्रिये ।

'कथं देवी वासवदत्ता' एष च विदूषकस्य भ्रमः सागरिकाया वासवदत्तावेषेणागतत्वाज्जातः ।

परित्रायस्व = रक्ष, उद्बन्धनादिति शेषः, संभ्रमे द्विरुक्तिः, स च क्षणविलम्बस्याप्यनर्थावहत्वं व्यञ्जयति । उद्बध्य=कण्ठे पाशमासज्य । आत्मानं व्यापादयति = आत्महत्यां करोति ।

सागरिका—(समीप जाकर) तो इसी माधवीलताको पाश बनाकर इस अशोक वृक्षमें अपने को लटका दूँ । (लताका पाश बनाती है) हा तात ! हा अम्ब ! यह मैं अभागी इस दीन तथा अशरणकी स्थितिमें मरती हूँ । (गलेमें फांसी लगाती है)

विदूषक—(देखकर) यह कौन है ? क्या देवी वासवदत्ता है ? (घबड़ाकर, जोर-जोरसे) अजी मित्र, बचाओ, इसे बचाओ । देवी वासवदत्ता अपने गलेमें फांसी लगाकर मर रही हैं ।

राजा—(घबड़ाकर, समीप आकर) कहाँ है वह ? कहाँ है ?

विदूषक—यही तो ।

राजा—(उपसृत्य कण्ठात्पाशमपनयन् ।) अयि साहसकारिणि किमिदमकार्यं क्रियते ।

मम कण्ठगताः प्राणाः पाशे कण्ठगते तव ।
अतः स्वार्थः प्रयत्नोऽयं त्यज्यतां साहसं प्रिये ॥ १६ ॥

सागरिका—(राजानं दृष्ट्वा ।) अम्मो । कधं एसो भट्टा । जं सच्चं एणं पेक्खिअ पुणोवि मे जीविदाहिलासो संवुत्तो । अह वा एणं पेक्खिअ कदत्था भविअ सुहेण एव्व जीविदं परिच्चइस्सम् । मुञ्चदु मुञ्चदु मं भट्टा । पराहीणो क्खु अअं जणो ण उण ईदिसं अवसरं मरिदुं पावेदि । (अम्मो । कथमेष भर्ता । (सहर्षमात्मगतम् ।) यत्सत्यमेनं प्रेक्ष्य पुनरपि मे जीविताभिलाषः संवृत्तः । अथवैनं प्रेक्ष्य कृतार्था भूत्वा सुखेनैव जीवितं परित्यक्ष्यामि । (प्रकाशम् ।) मुञ्चतु मुञ्चतु मां भर्ता । पराधीनः खल्वयं जनः न पुनरीदृशमवसरं मर्तुं प्राप्नोति ।)

साहसकारिणि = प्रहिले । अकार्यम् = कर्तुं न योग्यम्, स्वोद्बन्धनरूपं निन्द्यं कर्मेति यावत् ।

ममेति । प्रिये वासवदत्ते साहसम् उद्बन्धनेन स्वप्राणत्यागरूपम् साहसकार्यम् त्यज्यताम् विसृज्यताम्, यतः पाशे उद्बन्धनसाधनरज्जौ तव कण्ठगते त्वद्गलदेशप्रत्यासन्ने मम प्राणाः कण्ठगताः बहिर्गन्तुं तत्पराः भवन्तीति शेषः । अतः मम अयम् त्वदुद्बन्धनमोचनात्मा प्रयत्नः स्वार्थः स्वप्राणत्राणार्थः । अतो मद्रक्षार्थमपि त्वया जीवितव्यमिति जहिहि दुराग्रहमिममिति भावः । 'पाशः कण्ठे वासवदत्तायाः प्राणाश्च प्रयान्ति राज्ञ इति कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतयोपनिबन्धनादसङ्गतिरलङ्कारः ॥१३॥

जीविताभिलाषः = जीवनेच्छा । एवं जातेऽपि राजदर्शने जीवन्त्याः सागरिकाया वासवदत्ताकृततिरस्कारैरवमानना स्यादिति मनसि कृत्वेदमथवावचनम् ।

पराधीनः=परायत्तः, परायत्तस्य जनस्य मरणमपि परायत्तमिति वरं तादृशा-

---

राजा—(समीप जाकर, फांसी खोलता हुआ) ओ हठीली, यह क्या अकार्य कर रही हो ? तुम्हारे गलेमें फन्दाके लगने पर मेरे प्राण कण्ठगत होने लगते हैं, अतः इसके छुड़ानेके प्रयत्नमें मेरा स्वार्थ है, प्रिये, तुम यह साहस न करो ॥ १६ ॥

सागरिका—(राजाको देखकर) क्या ये स्वामी हैं ? (हर्षसे स्वगत) इन्हें देखकर मुझे फिर जीनेकी इच्छा होने लगी । अथवा मैं इनके दर्शनोंसे कृतार्थ होकर अब सुखसे मर सकूंगी । (प्रकट) स्वामी मुझे छोड़ दें । मैं पराधीनजन मरनेके लिये फिर ऐसा स्वर्ण समय न पा सकूंगी ।

(इति पुनः कण्ठे पाशं दातुमिच्छति ।)

राजा—(निर्वर्ण्य । सहर्षमात्मगतम् ।) कथं प्रिया मे सागरिका ।

(कण्ठात्पाशमाक्षिप्य ।)

अलमलमतिमात्रं साहसेनामुना ते
त्वरितमयि विमुञ्च त्वं लतापाशमेतम् ।
चलितमपि निरोद्धुं जीवितं जीवितेशे
क्षणमिह मम कण्ठे बाहुपाशं निधेहि ॥ १७ ॥

(इति बाहुमाक्षिप्य कण्ठे कृत्वा स्पर्शं नाटयन् ।) सखे इयमनभ्रा वृष्टिः ।

जीवनान्मरणम्, मम पुनर्भाग्याद् भवानत्र सन्निहित इति सन्तोषेण म्रिये, तदत्र विघ्नं माकार्षीदिति तत्प्रार्थनाशयः ।

अलमलमिति । अयि (सागरिकासम्बोधनमिदम्) अमुना उद्बन्धनप्रस्त्यात्मना अतिमात्रम् अतिक्रान्ता मात्रा मर्यादा यत्र कर्मणि तत्तथा साहसेन स्वव्यापादनात्मना दुराग्रहेण अलम् । सर्वथाऽनुचितमिदं तव साहसमतो निवर्त्तस्वास्मात्कर्मण इत्यर्थः । कर्त्तव्यमुपदिशति—त्वरितमिति । त्वरितम् शीघ्रम् एतम् लतापाशम् विमुञ्च त्यज कण्ठादपनयेत्यर्थः । जीवितेशे प्राणेश्वरि चलितम् त्वत्साहसदर्शनात्प्रस्थानोन्मुखम् अपि (मम) जीवितम् निरोद्धुम् गमनाद्वारयितुम् इह मम कण्ठे क्षणम् अल्पकालपर्यन्तम् बाहुपाशम् स्वभुजलताम् निधेहि स्थापय । मामालिङ्ग, तस्यैव मज्जीवितरक्षाहेतुत्वादिति भावः । 'अष्टादश निमेषास्तु काष्ठास्त्रिंशत्तु ताः कलाः । तास्तु त्रिंशत्क्षणः' इत्यमरः । अत्र मामालिङ्गेति गम्यस्यार्थस्य मज्जीवितस्त्वमीशिषेऽतो यियासु तन्निजवस्तु बाहुपाशेन वारयेति भङ्ग्यन्तरेणोक्तत्वात्पर्यायोक्तिरलङ्कारः । मालिनी वृत्तम्, 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति च तल्लक्षणम् ॥ १७ ॥

अनभ्रा—मेघेन विना कृता; अकस्मात् प्रियासङ्गमपर्यवसायिनीयमुक्तिः । 'अभ्रं

(फिर गले में फांसी डालना चाहती है)

राजा- (भलीभांति देखकर सहर्ष तथा स्वगत) क्या मेरी प्यारी सागरिका ! (गलेसें फांसी छुड़ाकर) तुम ऐसा साहस मत करो, इस लतापाशको शीघ्र दूर करो, हे जीवनेश्वरि जानेको उद्यत मेरे इन प्राणोंको रोकनेके लिये एक क्षणके लिए मेरे गलेमें अपना बाहुपाश डाल दो ॥ १७ ॥

(हाथ खींचकर गलेसे लगा लेता है और स्पर्शका अभिनय करता हुआ) मित्र, यह बिना मेघकी वर्षा है ।

विदू०—भो एवं ण्णेदं जदि अआलवादावली भविअ ण आआदि देवी वासवदत्ता। (भो एवं न्विदं यद्यकालवातावली भूत्वा नायाति देवी वासवदत्ता।)

(ततः प्रविशति वासवदत्ता काञ्चनमाला च।)

वासव०—हञ्जे कञ्चणमाले तं तहा चलणनिवडिदं अज्जउत्तं अवधीरिअ आअच्छन्तीए मए अदिणिठ्ठुरं किदम्। ता दाणिं सअं जेव्व गदुअ अज्जउत्तं अणुणइस्सम्। (हञ्जे काञ्चनमाले तं तथा चरणनिपतितमार्यपुत्रमवधीर्यागच्छन्त्या मयातिनिष्ठुरं कृतम्। तदिदानीं स्वयमेव गत्वार्यपुत्रमनुनेष्यामि।)

काञ्चन०—को अण्णो देवीं वज्जिअ एव्वं भणिदुं जाणादि। वरं सो ज्जेव देवो दुज्जणो भोदु ण उण देवी। ता एदु एदु भट्टिणी। (कोऽन्यो देवीं वर्जयित्वैवं भणितुं जानाति। वरं स एव देवो दुर्जनो भवतु न पुनर्देवी। तदेत्वेतु भट्टिनी।)

मेघो वारिवाहः' इत्यमरः।

एवं न्विदम् = युक्तं त्वदुक्तमित्यर्थः, अकालवातावली=असमयवात्या। वात्या शमकालविशेषणमुग्रताद्योतनाय।

अवधीर्य = अपमत्य। तयैव हित्वेत्यर्थः।

देवीं वर्जयित्वा = भवतीं विहाय, इयं तवैव महानुभावता यैवं मन्त्रयति, अन्या त्वेवमपकृता मुखमपि न दर्शयेत्का कथाऽनुतापस्येति भावः। स एव = देव एव, दुर्जनः = निन्द्यः, तादृशाचरणकर्तृत्वं दुर्जनत्वं बोध्यमत्र। न पुनर्देवी, = भवत्या स्वयमागत्य राज्ञः प्रसादनात्सौजन्यं प्रकाशेतेति तात्पर्यम्।

विदूषक—ठीक तो है अगर असमयकी आँधी बनकर देवी वासवदत्ता न आ जाँय।

(वासवदत्ता और काञ्चनमालाका प्रवेश)

वासवदत्ता—काञ्चनमाले, मैं पैरों पर पड़े हुए आर्यपुत्र की अवज्ञा करके चली आई, यह मेरी बड़ी निर्दयता हुई। इसलिए मैं खुद ही जाकर आर्यपुत्रसे अनुनय करूँगी।

काञ्चनमाला—आपको छोड़कर कौन ऐसा कह सकता है ? भले ही वे दुर्जन रहें, पर आप वैसा न बनें। आप चलें।

(परिक्रामतः ।)

राजा—अयि मुग्धे किमद्यापि मध्यस्थतया वयं विफलमनोरथाः क्रियामहे ।

काञ्च०—(कर्णं दत्त्वा ।) भट्टिणि एसो क्खु जहा समीवे भट्टा मन्तेदि तहा तक्केमि तुमं एव्वं अणुणेदुं इदो एव्व आअच्छदि । (भट्टिनि एष खलु यथा समीपे भर्ता मन्त्रयते तथा तर्कयामि त्वामेवानुनेतुमित एवागच्छति ।)

वासव०—(सहर्षम् ।) तेण हि अलक्खिदा एव्व पुट्ठदो गदुअ कण्ठे गेण्हिअ पसादइस्सम् । (तेन ह्यलक्षितैव पृष्ठतो गत्वा कण्ठे गृहीत्वा प्रसादयिष्यामि ।)

विदू०—भोदि साअरिए वीसत्था भविअ पिअवअस्सं आलवेहि । (भवति सागरिके विश्वस्ता भूत्वा प्रियवयस्यमालप ।)

वासव०—(आकर्ण्य । सविषादम् ।) कञ्चणमाले कधं साअरिआ इदो एव्व आगदा । ता सुणिस्सं दाव । पच्छा उवसप्पिस्सम् । (काञ्चनमाले कथं सागरिकेत एवागता । तच्छ्रोष्यामि तावत् । पश्चादुपसर्प्स्यामि ।) (तथा करोति ।)

मुग्धे = सामयिककर्त्तव्यानभिज्ञे, मध्यस्थतया = ताटस्थ्येन, विफलमनोरथाः = असफलालिङ्गनाभिलाषाः ।

'सहर्षम्' इति हर्षकारणन्तु मामनुनेतुं राजा गच्छतीति श्रुत्वा जायमानस्तत्प्रेमपात्रताविश्वासः । अलक्षिता = राज्ञाऽदृष्टा, पृष्ठतः = पृष्ठदेशे, कण्ठेगृहीत्वा = आलिङ्ग्य, प्रसादयिष्यामि = विनोदयिष्यामि ।

विश्वस्ता = सञ्जातविश्रम्भा, तथाभावश्च भयकारणाभावेन बोध्यः ।

(दोनों चलती हैं)

राजा—ओ मुग्धे, अब भी तटस्थ बनकर क्यों मेरे मनोरथको विफल बना रही हो ?

काञ्चनमाला—(कान लगाकर) देवि, समीपमें ही महाराज जो कह रहे हैं उससे ज्ञात होता है कि आपको मनाने इधर ही आ रहे हैं ।

वासवदत्ता—(हर्षसे) तब तो छिपी हुई जाकर पीछेसे गलबांही डालकर प्रसन्न कर लूँगी ।

विदूषक—देवि सागरिके—विश्वस्त होकर मेरे मित्रसे प्रेमालाप करो ।

वासवदत्ता—(सुनकर सविषाद) काञ्चनमाले, क्या सागरिका इधर ही आई है ? तब तक सुनती हूँ, पीछे समीप जाऊँगी । (वैसा करती है)

सागo—भट्टा किं एदिणा अलिअदक्खिण्णेन जीविआदोवि वल्लह-तराए देवीए अप्पाणं अवराहिणं करेसि। (भर्तः किमेतेनालीकदाक्षिण्येन जीवितादपि वल्लभतराया देव्या आत्मानमपराधिनं करोषि।)

राजा—अयि मिथ्यावादिनी खल्वसि। कुतः—

श्वासोत्कम्पिनि कम्पितं कुचयुगे मौने प्रियं भाषितं
वक्त्रेऽस्याः कुटिलीकृतभ्रुणि तथा यातं मया पादयोः।
इत्थं नः सहजाभिजात्यजनिता सेवैव देव्याः परं

एतेन = भवता प्रदर्श्यमानेन। अलीकदाक्षिण्येन = अलीकम् = मिथ्या, दक्षिणः = परच्छन्दानुवर्ती, तस्य भावः दाक्षिण्यम् तेन तथोक्तेन। व्यर्थमिदं तव दाक्षिण्यमिति भावः। जीवितात् = जीवनात्। वल्लभतरायाः = अधिकप्रियायाः। देव्याः = वासवदत्तायाः। अपराधिनम् = कृतागसम्। अनेन मिथ्याप्रेमप्रदर्शनेन केवलं वासवदत्ताया दृष्टावात्मानमपराधिनमेव प्रमापयसि नतु मम हृदयमाकर्षसीति तात्पर्यम्।

श्वासोत्कम्पिनीति। अस्याः देव्याः वासवदत्तायाः कुचयुगे स्तनद्वये श्वासोत्कम्पिनि कोपसमेधितनिःश्वासेन चलिते सति मया कम्पितम् भयेन कम्पः अनुभूतः, छन्दोऽनुवृत्त्या प्रदर्शित इति वा। मौने मूकीभावे प्रियम् (तस्याः सन्तोषं जनयितुम्) मधुरम् भाषितम् व्याहृतम्। तथा अस्याः वक्त्रे मुखे कुटिलीकृतभ्रुणि कुटिलीकृते वक्रतां गमिते भ्रुवौ यत्र तस्मिन् भ्रुकुटियुते सतीत्यर्थः (मया) पादयोः तच्चरणयोः यातम् पतितम्। परम् किन्तु इत्थम् अनेन प्रकारेण (कृतेऽपि कम्प प्रियवचनपादनमनादौ प्रसादनव्यापारे) नः अस्माकम् यत् सहजम् स्वाभाविकम् आभिजात्यम् कुलीनता भद्रता वा तेन जनिता तादृशी सा देव्याः सेवैव आधीन्यद्योतिका आराधना एव जाता इति शेषः। सर्वमपि मया कृतं तदनुवर्त्तनं मदीयां

सागरिका—स्वामिन्! क्यों मेरे प्रति इस बनावटी प्रेम दर्शानेकी उदारता से प्राणसे भी अधिक प्रिया वासवदत्ताके प्रति अपने को अपराधी बना रहे हैं?

राजा—तुम मुझे झूठ कह रही हो, क्योंकि—

रानीने उसांसे भरीं, मैं कौंप उठा, उसने चुप्पी साधी, मैं मीठी बातें करने लगा, उसकी त्यौरियां चढ़ीं, मैं उसके पैरों पड़ा, इस तरहका मेरा व्यवहार उसकी सेवा ही भर है, जिसे मेरी स्वाभाविक भद्रतासे सम्बन्ध है, जिसमें प्रेमके बन्धनका

प्रेमाबन्धविवर्धिताधिकरसा प्रीतिस्तु या सा त्वयि ॥ १८॥

वासव०—(सहसोपसृत्य सरोषम्।) अज्जउत्त जुत्तं एदं सरिसं एदम्। (आर्यपुत्र युक्तमेतत् सदृशमेतत्।)

राजा—(दृष्ट्वा। सवैलक्ष्यम्।) देवि न खल्वकारणे मामुपालब्धुमर्हसि। सत्यं त्वामेव मत्वा वेषसादृश्यविप्रलब्धा वयमिहागताः। तत्क्षम्यताम्। (इति पादयोः पतति।)

वासव०—(सरोषम्।) अज्जउत्त उठ्ठेहि उठ्ठेहि! किं अज्जवि सहजाभिजादाए सेवाए दुक्खं अणुहवीअदि। (आर्यपुत्र उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। किमद्यापि सहजाभिजातायाः सेवया दुःखमनुभूयते।)

भद्रतामेवोपादानीकरोति नतु प्रीतिमिति एवकारद्योत्यम्। तदेव स्पष्टयति—प्रेमेति। या तु प्रेम्ण आबन्धेन विवर्धिता उत्कर्षं नीता अथ च अधिकः रसः भावपक्षो यस्यां तादृशी चेति प्रेमाबन्धविवर्धिताधिकरसा प्रीतिः हृदयानुरक्तिः सा तु त्वयि त्वद्विषये। त्वमेव मे प्रिया, मया क्रियमाणा वासवदत्ताशुश्रूषा तु मम स्वकुलीनतापालनमात्रम्, अतस्तदनुरक्ततया त्वयि मिथ्याप्रेमाहमिति मा प्रतीपीरिति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १८ ॥

युक्तमेतत् = 'वासवदत्ताविषयकं सममपि प्रेमप्रदर्शनमुपचारमात्रम्' इति त्वयोच्यमानं मयापि समर्थ्यतेऽतस्तत् सत्यमिति भावः। सदृशम = त्वद्योग्यम, शठस्य तव तादृशाचारताया उचितत्वादिति भावः।

उपालब्धुम् = जुगुप्सितुम्। त्वामेव मत्वा = त्वद्वेषधारिणीं सागरिकां त्वामेव प्रतीत्य। वेषसादृश्यविप्रलब्धाः = परिधानादिपरिच्छदतुल्यतावञ्चिताः।

सहजाभिजातायाः = स्वभावतः कुलीनाया मम।

रस प्रवाहित हो रहा है ऐसी प्रीति तो केवल तुझीपर रखता हूँ ॥ १८ ॥

वासवदत्ता—(समीप आकर, क्रोधसे) आपने ठीक कहा, उपयुक्त कहा।

राजा—(देखकर, लज्जासे) देवि, व्यर्थ मुझे मत अपमानित करो, मैंने तो वेषसादृश्यसे वञ्चित होकर तुम्हें समझ कर यहाँ आया। क्षमा करो। (पैरों पर गिरता है)

वासवदत्ता—(सक्रोध) आर्यपुत्र, उठिये उठिये। क्यों अब भी भद्रताकी दृष्टिसे सेवा करके कष्ट भोग रहे हैं।

राजा—(स्वगतम् ।) किमेतदपि श्रुतं देव्या। तत्सर्वथा देवीप्रसादनं प्रति निराशीभूताः स्मः। (अधोमुखस्तिष्ठति ।)

विदू०—भोदि तुमं किं उब्बन्धिअ अत्ताणअं वावादेसित्ति वेससारिस्समोहिदेण मए पिअवअस्सो एत्थो आणिदो। जइ मय वअणं ण पत्तिआअसि तां पेक्ख एतं लदापासम्। (भवति त्वं किमुद्बध्यात्मानं व्यापादयसीति वेषसादृश्यमोहितेन मया प्रियवयस्योऽत्रानीतः। यदि मम वचनं न प्रत्येषि तत्प्रेक्षस्वैतं लतापाशम्।) इति लतापाशं दर्शयति।)

वासव०—(सकोपम्।) कञ्चणमाले एदेण जेव्व लदापासेण बन्धिअ गेण्ह एणं बम्भणम्। एदं च दुव्विणीदं कण्णकं अग्गदो करेहि। (काञ्चनमाले एतेनैव लतापाशेन बद्ध्वा गृहाणैनं ब्राह्मणम्। एतां च दुर्विनीतां कन्यकामग्रतः कुरु।)

एतत् = मया केवलं कुलीनतया देव्याः सेवा क्रियते, नतु तस्यां मम प्रीतिः, सा तु सम्पूर्णभावेन त्वयीति सागरिकां प्रति मयोच्यमानम्।

मोहितेन = वञ्चितेन। प्रत्येषि = विश्वसिषि। लतापाशम् इति अर्थाद्यदि मद्वचसि विश्वासं न करिष्यसि तदाऽनेनैषोद्बध्य स्वब्रह्महत्यापातकेन त्वां योजयिष्यामीत्याशयः।

अत्र 'वासवदत्ता—(उपसृत्य) आर्यपुत्र, युक्तमिदम्' इत्यत आरभ्य 'एतामपि कन्यकामग्रतः कुरु' इत्यन्तेन सन्दर्भेण वासवदत्तासंरब्धवचसा सागरिकासमागमान्तरायभूतेन अनियतप्राप्तिकारणं तोटकं नाम गर्भसन्धेरङ्गमुक्तम्।

राजा—(स्वगत) क्या देवीने यह भी सुन लिया? तब तो इसकी प्रसन्नता के विषय में आशा नहीं रही।

(सिर झुका लेता है)

विदूषक—तुम लतापाशसे आत्महत्या कर रही हो मुझे वेश सादृश्यसे यही मालूम हुआ, और मैंने इन्हें यहाँ बुलाया। यदि तुम मेरी बात पर विश्वास न करती हो तो देखो यह लतापाश।

(लतापाश दिखलाता है)

वासवदत्ता—(क्रोधसे) काञ्चनमाले, इसी लतासे बाँधकर इस ब्राह्मणको पकड़ो और इस बदमाश छोकरीको आगे करो।

काञ्चन०—जं देवी आणवेदि । हदास अणुहव दाणिं अत्तणो दुण्णअस्स फलम् । साअरिए तुमं वि अग्गदो होहि । (यदेव्याज्ञापयति । (लतापाशेन विदूषकं बध्नाति ।) हताश अनुभवेदानीमात्मनो दुर्नयस्य फलम् । सागरिके त्वमप्यग्रतो भव ।)

साग०—(स्वगतम् ।) हद्धी कधं अकिदपुण्णाए मए मरिदुं वि अत्तणो इच्छाए न पारिदम् । (हा धिक् कथमकृतपुण्यया मया मर्तुमप्यात्मन इच्छया न पारितम् ।)

विदू०—(सविषादं राजानमवलोक्य ।) भो वअस्स सुमरेहि मं अणाधं देवीए बन्धनादो विवज्जन्तं । (भो वयस्य स्मर मामनाथं देव्या बन्धनाद्विपद्यमानम् ।)

(सर्वानादाय निष्क्रान्ता वासवदत्ता ।)

राजा...(सखेदम् ।) कष्टं भो कष्टम् ।

किं देव्याः कृतदीर्घरोषमुषितस्निग्धस्मितं तन्मुखं
अस्तां सागरिकां सुसंभृतरुषा किं तर्ज्यमानां तया ।

अकृतपुण्यया=अनुपार्जितसुकृतया । अत्र वासवदत्ताऽऽपादानकं सागरिकाया भयमित्युद्वेगो नाम गर्भसन्धेरङ्गमुक्तम् ।

किं देव्या इति । कृतः आहितः यः दीर्घः चिरव्यापकः रोषः मन्युः तेन मुषितम् अपहृतम् स्निग्धम् स्नेहद्योतकम् स्थितम् हासः यस्य तत् तादृशम् तत् पूर्वानुभूतम् देव्याः मुखम् चिन्तयामि शोचामि किम् तथा क्रुद्धया देव्या सुसंभृतरुषा चिरसञ्चितेन रोषेण (करणेन) तर्ज्यमानाम् सदोपालभ्यमानाम् सागरिकाम्

काञ्चनमाला—जो आज्ञा । (लतासे विदूषकको बाँधती है) अभागा भोग अपनी करनीका फल, सागरिके ! तुम भी आगे चलो ।

सागरिका—हाय, मुझ अभागिनीको अपनी इच्छासे मरनेमें भी सफलता नहीं मिली ।

विदूषक—(सविषाद, राजाको देखकर) मित्र, मैं देवीके बन्धनसे मरजाऊँ तो मुझे याद रखना ।

(सबको लेकर वासवदत्ता का प्रस्थान)

राजा—(सखेद) बड़ा कष्ट है ।

क्या मैं क्रोधवश उदास देवीकी मुखकी चिन्ता करूँ या क्रोधाविष्ट देवी द्वारा

बद्ध्वा नीतमितो वसन्तकमहं किं चिन्तयामीत्यहो
सर्वाकारकृतव्यथः क्षणमपि प्राप्नोमि नो निर्वृतिम् ॥ १९ ॥

तत्किमिदानीमिह स्थितेन । देवीं प्रसादयितुमभ्यन्तरमेव प्रविशामि ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति संकेतो नाम तृतीयोऽङ्कः ।

किम् ? चिन्तयामि क्रियाया अत्राप्यनुषङ्गः । किंवा बद्ध्वा पाशेन निगडितं कृत्वा इतः अस्मात् स्थानात् नीतम् वसन्तकम् विदूषकम् चिन्तयामि किम् ? अहो इह खेदे । सर्वाकारेण सर्वप्रकारेण कृता व्यथा पीड़ा यस्य सः अहम् क्षणमपि निर्वृतिम् शान्तिम् नो प्राप्नोमि । एकतः कोपकलुषितमुख्या देव्या दशाविपर्यासं शोचामि, अन्यतो देव्या रोषेण भर्त्स्यमानां सागरिकां भावयन्नन्तर्व्यथामनुभवामि, अपरतश्चास्य विदूषकस्य बद्ध्वा नीतस्य स्थितिं पर्यालोचयामीति मदीयं चित्तं क्षणमपि शान्तिं नाकलयतीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १९ ॥

प्रसादयितुम् = देव्या मानमपनेतुम् । अभ्यन्तरम् = अन्तःपुरम् ।

अत्र देवीप्रसादायत्ता सागरिकासमागमसिद्धिरिति गर्भबीजोद्भेदादाक्षेपो नाम गर्भसन्धेरङ्गमुक्तम् ।

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते रत्नावली 'प्रकाशे'
तृतीयाङ्क-प्रकाशः ।

तर्जित सागरिका की, अथवा देवी द्वारा बांधकर ले जाये गये विदूषककी । इस पीड़ासे व्यथित होकर मैं क्षणभर भी किसी तरह शान्ति नहीं पा रहा हूँ ॥ १९ ॥

तब यहाँ बैठ कर क्या करूंगा । तब तक देवीको खुश करने अन्तःपुर ही चलूं ।

(सबका प्रस्थान)

तृतीय अङ्क समाप्त

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति गृहीतरत्नमाला सास्रा सुसंगता ।)

सुसंगता—(सकरुणं निःश्वस्य ।) हा पिअसहि साअरिए हा लज्जावण्णि हा उदारसीले हा सहीजणवच्छले हा सोम्मदंसणे कहिं दाणिं तुमं मए पेक्खिदव्वा । अइ देव्वहदअ अअरुण असामण्णरूअसोहा तादिसी तुए जइ णिम्मिदा ता कीस उण ईदिसं अवत्थन्तरं पाविदा । इअं अ रअणमाला जीविदणिरासाए ताए कस्सवि बम्हणस्स हत्थे पडिवादेसित्ति भणिअ मम हत्थे समप्पिदा । ता जाव कं पि बम्हणं अण्णोसामि । अए एसो क्खु अज्जवसन्तओ इदो ज्जेव आअच्छदि । ता जाव एदस्स ज्जेव एदं पडिवादइस्सम् । (हा प्रियसखि सागरिके हा लज्जावति हा उदारशीले हा सखीजनवत्सले हा सौम्यदर्शने कुत्रेदानीं त्वं मया प्रेक्षितव्या । (इति रोदिति । ऊर्ध्वमवलोक्य निःश्वस्य च ।) अयि दैवहतक अकरुण असामान्यरूपशोभा तादृशी त्वया यदि निर्मिता तत्कस्मात्पुनरीदृशमवस्थान्तरं प्रापिता । इयं च रत्न-

---

निःश्वस्य = तथाकरणं च प्रियसखीवियोगस्यासह्यतां व्यञ्जयति ।

हा इति सर्वत्रात्र विषादे, 'हा विषादशुगर्त्तिषु' इत्यमरः । लज्जावति=प्रशंसनीयलज्जे, अत्र प्रशंसायां मतुप् । उदारम् अकृपणम् शीलम् चरित्रं यस्याः सा तत्संबुद्धौ उदारशीले । सखीजनवत्सले = सखीवर्गप्रणयिनि । सौम्यदर्शने = मनोज्ञरूपे । कुत्रेदानीं त्वं मया प्रेक्षितव्या = कुत्राधुना त्वामहं पश्येयमिति भावः । ऊर्ध्वमवलोक्य, तथाकरणं चासहायतां दुःखप्रतिकारासमर्थतांचाह । दैवहतक = दुर्दैव । हतकशब्दो निन्दाव्यञ्जकः । असामान्यरूपशोभा = अनितरसाधारणसौन्दर्या । तादृशी= सागरिकासमा । ईदृशम् = एतादृशम् । अवस्थान्तरम् = दशाविपर्यासम् , प्रिय-

---

[रत्नमाला हाथमें लिये रोती हुई सुसंगताका प्रवेश]

सुसंगता—(खेद सूचक सांस लेकर) हा प्रिय सखि सागरिके, हा लज्जावति, हा उदारशीले, हा सखीजनों पर वात्सल्य रखनेवाली, हा सुन्दरि, इस समय तुम्हें कहाँ देखूंगी । (रोती है, ऊपर देखकर उसाँसें लेकर) अरे दुष्टभाग्य, निर्दय, तुमने उसे असाधारण सुन्दरी बनाकर इस स्थितिमें क्यों डाल दिया ? जीनेसे

माला जीवितनिराशया तया कस्यापि ब्राह्मणस्य हस्ते प्रतिपादयेति भणित्वा मम हस्ते समर्पिता। तद्यावत्कमपि ब्राह्मणमन्विष्यामि। (परिक्रम्याग्रतो विलोक्य च।) अये एष खल्वार्यवसन्तक इत एवागच्छति। तद्यावदेतस्मा एवैतां प्रतिपादयिष्यामि।)

(ततः प्रविशति प्रहृष्टो वसन्तकः।)

वसन्तकः—ही ही भो अज्ज क्खु पिअवअस्सेण पसादिदाए तत्तभोदीए वासवदत्ताए बन्धणादो मोंचिअ सहत्थदिण्णेहिं मोदएहिं चिरस्स दाव कालस्य उअरं मे सुपूरिदं किदम्। अण्णं च एदं पट्टंसुअजुअलं कण्णाभरणं अ दिण्णम्। ता जाव दाणिं गदुअ पिअवअस्सं पेक्खामि। (ही ही भो अद्य खलु प्रियवयस्येन प्रसादितया तत्रभवत्या वासवदत्तया बन्धनान्मोचयित्वा स्वहस्तदत्तैर्मोदकैश्चिरस्य तावत्कालस्योदरं मे सुपूरितं कृतम्। अन्यच्चैतत्पट्टांशुकयुगलं कर्णाभरणं च दत्तम्। तद्यावदिदानीं गत्वा प्रियवयस्यं प्रेक्षे।)

समागमप्रतिबन्धस्वकारावासादिकष्टपरम्परायुतां स्थितिमित्याशयः। प्रापिता = गमिता। तादृशरूपामुत्पाद्येदृशकष्टे किमिति न्यपातय इतित्वमेव वेत्थेत्यर्थः। जीवितनिराशया = जीवनाशारहितया। तया = सागरिकया। प्रतिपादय = समर्पय। प्रतिपादनं समर्पणं-तथा च प्रयोगः-'अर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानविभवः' इति भर्तृहरेः। 'गुणवते कन्या प्रतिपादनीया' इति कालिदासश्च। अन्विष्यामि = गवेषयामि। एतस्मै आर्यवसन्तकाय। एताम् = सागरिकया कस्मैचित सद्ब्राह्मणाय समर्पयितुं मह्यं दत्तां रत्नमालाम्। प्रतिपादयिष्यामि = समर्पयिष्यामि।

प्रसादितया = प्रसन्नतां प्रापितया। तत्रभवत्या = पूज्यया। स्वहस्तदत्तैः = आत्मकरसमर्पितैः (एतेनादरो व्यञ्जितः) मोदकैः = मधुरभोजनीयद्रव्यविशेषैः। सुपूरितम् = आप्यायितम्। पट्टांशुकयुगलम् = पट्टनिर्मितवस्त्रद्वयम्। सर्वत्र वक्र

हताश होकर उसने यह रत्नमाला मुझे किसी ब्राह्मण को दे देनेके लिये दी है, इसलिये किसी ब्राह्मणको ढूंढूँ। (कुछ चलकर तथा आगे देखकर) अहा! आर्य वसन्तक इधर ही तो आ रहे हैं। यह माला उन्हींको दे दूंगी।

(प्रसन्न मुख वसन्तकका प्रवेश)

वसन्तक—हहह! आज मेरे मित्र ने महारानी को मना लिया, और महारानीने प्रसन्न होकर मेरे बन्धन कटवा दिये, और अपने हाथोंसे इतना खिलाया कि कुछ दिनोंके लिये छुट्टी हो गई। इतना ही नहीं, यह रेशमी धोती, चादर तथा यह

(परिक्रामति ।)

सुसं०—(रुदती सहसोपसृत्य ।) अज्ज वसन्तअ चिठ्ठ दाव मुहुत्तअम् (आर्य वसन्तक तिष्ठ तावन्मुहूर्तम् ।)

विदू०—(दृष्ट्वा ।) कधं सुसंगदा । सुसंगदे किंणिमित्तं रोदीअदि । ण क्खु साअरिआए अच्चाहिदं किंवि संवुत्तम् । (कथं सुसंगता । सुसंगते किंनिमित्तं रुद्यते । न खलु सागरिकाया अत्याहितं किमपि संवृत्तम् ।)

सुसं०—अज्ज वसन्तअ एदं णिवेदइस्सम् । सा क्खु तवस्सिणी देवीए उज्जइणि णीअदित्ति पवादं कदुअ उवत्थिदे अद्धरत्तेण जाणीअदि कहिं णीदेत्ति । (आर्य वसन्तक एतदेव निवेदयिष्यामि । सा खलु तपस्विनी देव्या उज्जयिनीं नीयत इति प्रवादं कृत्वोपस्थितेऽर्धरात्रे न ज्ञायते कुत्र नीतेति ।)

द्वयाभिधानेन परिधानीयं धौतमुत्तरीयञ्च प्रतीयत इति व्यवहारमर्यादा :

मुहूर्तम् = क्षणम् । तिष्ठ=स्थिरो भव । 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया ।

किं निमित्तं रुद्यते = किमर्थमश्रु विसृज्यते । अत्याहितम् = महाभीतिः, महदनिष्टमिति यावत् , तथा चामरः-'अत्याहितं महाभीतिः कर्मजीवानपेक्षि च' इति । दृश्यते चान्यत्राप्यस्यात्रार्थे प्रयोगः, यथा विक्रमोर्वशीये 'मया अत्याहितमुपलब्धम्' इति । वेणीसंहारेऽपि-'पाण्डुपुत्रैर्न किमप्यत्याहितमाचेष्टितं भवेत्' (इति)

तपस्विनी=अनुकम्पार्हा, दीनेति यावत् । प्रवादम् = जनरवम् , प्रख्यातिमिति यावत् । अर्धरात्रे = रात्रेरर्धम् अर्धरात्रः तस्मिन् , निशीथसमय इति भावः ।

कर्णभूषण भी दिया । इसलिये चलकर मित्रसे मिलूं ।

(चलता है)

सुसंगता—(रोती हुई जल्दी जल्दी पास आकर) आर्य वसन्तक, जरा ठहरिये तो ।

विदूषक—क्या सुसंगता है ? अरी, रोती क्यों है ? क्या सागरिका पर कुछ आपत्ति आपड़ी है ?

सुसंगता—आर्य वसन्तक, यही तो कहना है । बेचारी सागरिकाको महारानीने न जाने कहां भेज दिया है, और आप लोगोंसे कहला दिया है कि वह उज्जयिनी भेजी जारही है ।

विदू०—(सोद्वेगम् ।) अदिणिग्घिणं क्खु किदं देवीए। (अतिनिर्घृणं खलु कृतं देव्या ।)

सुसं—इअं अ रअणमाला ताए जीविदणिरासाए अज्जवसन्तअस्स हत्थे पडिवादेसित्ति भणिआ मम हत्थे समप्पिदा। ता गेण्हदु एदं अज्जो। (इदं च रत्नमाला तया जीवितनिराशया आर्यवसन्तकस्य हस्ते प्रतिपादयेति मम हस्ते समर्पिता। तद्गृह्णात्वेतामार्यः।)

विदू०—(सास्रम् ।) भोदि ण मे ईदिसे पत्थावे हत्था गेण्हिदुं पसरन्ति। (भवति न मे ईदृशे प्रस्तावे हस्तौ ग्रहीतुं प्रसरतः।)

(उभौ रुदितः।)

सुसं०—(अञ्जलिं बद्ध्वा) ताए ज्जेव अणुग्गहं करन्तो अङ्गीकरेदु एदं अज्जो। (तस्या एवानुग्रहं कुर्वन्नङ्गीकरोत्वेतामार्यः।)

विदू०—(विचिन्त्य।) अह वा उवणेहि। जेण इमाए ज्जेव्व साअरिआविरहदुक्खिदं पिअवअस्सं विणोदइस्सम्। (अथवोपनय। येनानयैव

अतिर्निघृणम् = अतिनिष्ठुरम्।

ईदृशे प्रस्तावे = अतिमर्मपीडकस्थितौ। प्रसरतः = पुरोभवतः, विपत्तिपतितजनदानग्रहणस्यानुत्साहपराहतत्वादिति भावः।

तस्याः = सागरिकायाः। अनुग्रहं कुर्वन् = दयमानः। तदन्तिमानुरोधपूर्त्यैव एव गृह्णात्वेनां रत्नमालामार्यो न लोभेनेति भावः।

'विचिन्त्य' इति चिन्ताबीजं त्वसमञ्जसस्थितिविनिपातः, तथाहि तत्प्रत्याख्याने तदनुरोधभङ्गः तत्स्वीकारे च स्वस्यानुत्साह इति। उपनय = देहि। अनया =

विदूषक—(खेदके साथ) महारानीने बहुत निर्दयता की!

सुसंगता—हताश सागरिकाने इस रत्नमालाको मुझे यह कहकर दिया कि इसे आर्यवसन्तकको दे देना। इसलिये यह आप ले लें।

विदूषक—(रोकर) अजी, ऐसी स्थितिमें इसे लेनेके लिये हमारे हाथ नहीं बढ़ रहे हैं।

[दोनों रोते हैं]

सुसंगता—(हाथ जोड़कर) उसी पर कृपा कर इसे आप ले लें।

विदूषक—(सोचकर) अथवा लाओ, तब तक सागरिकाके विरहसे पीड़ित

सागरिकाविरहदुःखितं प्रियवयस्यं विनोदयिष्यामि ।)

(सुसंगतोपनयति ।)

विदू०—(गृहीत्वा निर्वर्ण्य सविस्मयम् ।) सुसंगदे कुदो उण ताए ईदिसस्स अलंकारस्स समागमो । (सुसंगते कुतः पुनस्तस्या ईदृशस्यालंकारस्य समागमः ।)

सुसं०—अज्ज मए वि सा कोदूहलेण पुच्छिदा ज्जेवासि । (आर्य मयापि सा कौतूहलेन पृष्टैवासीत् ।)

विदू०—तदो ताए किं भणिदम् । (ततस्तया किं भणितम् ।)

सुसं०—तदो सा उद्धं पेक्खिअ दीहं णिस्ससिअ सुसंगदे किं दाणिं तुए एदाए कधाएत्ति भणिअ रोदिदुं पउत्ता । (ततः सोर्ध्वं प्रेक्ष्य दीर्घं निःश्वस्य सुसंगते किमिदानीं तवैतया कथयेति भणित्वा रोदितुं प्रवृत्ता ।)

सागरिकोपभुक्तया रत्नमालया । दुःखितम् = सागरिकाविपत्तिश्रवणविमनायमानम् । विनोदयिष्यामि=सुखयिष्यामि, प्रियजनोपभुक्तवस्तुलाभो विरहे धैर्यमावहति, तथा च दृश्यते वर्णनम् , यथा दिङ्नागस्य कुन्दमालायां सीताविरहिणो रामस्योक्तिः –'द्यूते पणः प्रणयकेलिषु कण्ठपाशः क्रीडापरिश्रमहरं व्यजनं रतान्ते । शय्या निशीथकलहे मदिरेक्षणायाः प्राप्तं मया विधिवशादिदमुत्तरीयम्' इति ।

निर्वर्ण्य = निपुणं निरीक्ष्य । सविस्मयम्=साश्चर्यम् , तच्च साधारणजनदुरापरत्नमालायाः सागरिकासम्बन्धमधिकृत्य । तस्याः सागरिकायाः ईदृशस्य=एतादृशस्य बहुमूल्यस्य । समागमः = प्राप्तिः ।

कौतूहलेन = कुतुकेन । कुतोऽस्या रत्नमालायाः समागम इत्यर्थमहमपि सागरिकां पृष्टवतीति भावः । ऊर्ध्वं प्रेक्ष्य दीर्घं निश्वस्य च तयाकरणं च स्वपरिस्थितिस्मरणजन्य दुःखं विस्मर्तुं लघूकर्तुं वा ।

मित्रको इसीसे कुछ बहलाऊंगा।

[सुसंगता देती है]

विदूषक—(लेकर, देखकर, आश्चर्यसे) सुसंगते, उसने ऐसी माला पाई कहां!

सुसंगता—मैंने भी उससे ऐसा पूछा था।

विदूषक—तब उसने क्या कहा ?

सुसंगता—तब ऊपर की ओर देखकर उसने सांस ली और कहा। 'सुसंगते, यह अब जानकर क्या करोगी ? और रोने लगी।

विदू०—णं कहिदं ज्जेव सामण्णजणदुल्लहेण इमिणा परिच्छदेण सव्वहा महाकुलप्पसूदाए ताए होदव्वंत्ति। सुसंगदे पिअवअस्सो दाणिं कहिं । (ननु कथितमेव सामान्यजनदुर्लभेनानेन परिच्छदेन सर्वथा महाकुलप्रसूतया तया भवितव्यमिति । सुसंगते प्रियवयस्य इदानीं कुत्र ।)

सुसं०—अज्ज एसो क्खु भट्टा देवीभवणाओ णिक्कमिअ फडिअसिलामण्डवं गदो । ता गच्छदु अज्जो । अहं वि देवीए पासवत्तिणी भविस्सम् । (आर्य एष खलु भर्ता देवीभवनान्निष्क्रम्य स्फटिकशिलामण्डपं गतः । तद्गच्छत्वार्यः । अहमपि देव्याः पार्श्ववर्तिनी भविष्यामि ।)

विदू०—एव्वम् । (एवम् ।)

(इति निष्क्रान्तौ ।)

इति प्रवेशकः ।

सामान्यजनदुर्लभेन = साधारणलोकदुरापेण परिच्छदेन = अलङ्कारेण ।
निष्क्रम्य = बहिर्भूय । पार्श्ववर्त्तिनी = समीपगता ।
निष्क्रान्तौ = निर्गतौ सुसङ्गताविदूषकौ । निष्क्रान्ता च निष्क्रान्तश्चेति निष्क्रान्तौ 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषः ।

अत्राङ्केऽवमर्शो निर्वहणश्चेति सन्धिद्वयं दर्शयिष्यते । तत्रावमर्शो यथा—'क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् । गर्भं निर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्शः' इति । अस्यावमर्शस्य त्रयोदशाङ्गानि, तत्रापवादाख्यमङ्गमत्रोक्तम् , तल्लक्षणं यथा—'दोषख्याऽपवादः स्यात्' इति । निर्वहणसन्धिश्च 'बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायम् । एकार्थमुपगीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्' इति लक्षितम् । तच्चाग्रे दर्शयिष्यते ।

विदूषक—उसका असाधारण वस्त्राभूषण ही कह रहा है कि वह किसी उच्चकुलकी कन्या है । सुसंगते ! इस समय मेरे मित्र कहाँ हैं ?

सुसंगता—भगवन् ! ये महाराज देवी वासवदत्ताके भवनसे निकलकर अभी स्फटिक शिला मण्डपमें गये हैं । इसलिये आप भी जायं । मैं भी देवीके पास चली जाती हूँ ।

विदूषक—ऐसा करें ।

(दोनों जाते हैं)

[प्रवेशक]

(ततः प्रविशत्यासनस्थो राजा ।)

राजा—(विचिन्त्य ।)

सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्त्याधिकं
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः ।
प्रत्यापत्तिमुपागता न हि तथा देवी रुदत्या यथा
प्रक्षाल्येव तथैव बाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम् ॥ १ ॥

सव्याजैरिति । व्याजेन कपटेन संहिताः सव्याजाः कपटोपपादिताः तैः तादृशैः शपथैः, (यथाऽऽत्मानं मिथ्याशपथदोषो न स्पृशेद्देवी चानुनीता भवेत्तादृशैः कपटोपपादितैः शपथैरित्यर्थः) प्रियेण मधुरेण वचसा, अधिकम् सर्वांशतः चित्तानुवृत्त्या, परेण महता वैलक्ष्येण त्रपाप्रभवेण मुखमालिन्येन, (स्वकृताप्रियाचरणस्वीकारसूचकं लज्जाभिनयेनेत्यर्थः) पादपतनैः चरणपातैः, मुहुः पुनः पुनः सखीनाम् वाक्यैः प्रबोधनोक्तिभिः, देवी वासवदत्ता तथा तावतीम् प्रत्यापत्तिम् प्रकृतिस्थताम् (प्रसन्नताम्) नहि उपागता आयाता, यथा रुदत्या अश्रु मुञ्चन्त्या तया देव्या स्वयमेव आत्मनैव बाष्पसलिलैः अश्रुलक्षणपयोबिन्दुभिः प्रक्षाल्य इव परिमृज्य इव कोपः मद्विषयः क्रोधः अपनीतः दूरीकृतः । मत्कृतैः शपथग्रहणप्रियवचनचित्तानुवर्तन सखीद्वारकप्रबोधनलज्जाभिनयनपादपतनादिरूपैः सान्त्वनोपायैः सा न प्रासीदत् रुदत्यास्तस्या अश्रुबिन्दवस्तदीयं हृदयं प्रक्षाल्येव तत्र स्थितं कोपमपानयन्निति भावः । अत्र देव्याः क्रोधः पत्युरन्यप्रियासङ्गदर्शनेन मानः, तदपनुत्तये राज्ञा मानभङ्गोपायाः कृताः, प्रियवचनं साम, सखीवचनं भेदः, पादपतनं नतिः नायिका चेयं धीराधीरा, 'धीराधीरा तु रुदितैः' इति दर्शनादिति विभावनीयम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । प्रक्षाल्येवेति हेतूत्प्रेक्षा ॥ १ ॥

अत्र सागरिकालाभप्रतिबन्धकवासवदत्ताकोपप्रशमोपनिबन्धनाच्छक्त्याख्यं विमर्शसन्धेरङ्गमुक्तम् , यथोक्तं भरतेन-'विरोधप्रशमो यस्तु सा शक्तिः परिकीर्तिता' इति ।

[आसनस्थ राजाका प्रवेश]

राजा—(चिन्ता करके) मैं शपथ करके, बहाने बनाकर, मीठी बातें करके अनुसरण करके, लज्जा प्रकाशित करके, पैरोंपर गिरकर और सखियोंसे प्रबोध दिलाकर देवीको नहीं प्रसन्न कर सका, लेकिन उसने स्वयं रोकर नयन जलसे कोपको धो बहाया ॥ १ ॥

(सोत्कण्ठं निःश्वस्य ।) इदानीं देव्यां प्रसन्नायां सागरिकाचिन्तैव केवलं मां बाधते । कुतः—

अम्भोजगर्भसुकुमारतनुस्तदाऽसौ
कण्ठग्रहे प्रथमरागघने विलीय ।
सद्यःपतन्मदनमार्गणरन्ध्रमार्गै-
र्मन्ये मम प्रियतमा हृदयं प्रविष्टा ॥ २ ॥

(विचिन्त्य ।) योऽपि मे विश्वासस्थानं वसन्तकः सोऽपि देव्या संयतस्तिष्ठति । तत्कस्याग्रे बाष्पमोक्षं करिष्ये । (इति निःश्वसिति ।)

प्रसन्नायाम् = अपगतकोपायाम् । सव्याजैरिति पद्ये चिन्ताहेतुतया यानि त्रीणि स्थानानि कथितानि तेषु देव्यां प्रसन्नायां कोपकुटिलदेवीमुखबद्धविदूषकरूपयोर्द्वयोरशोच्यत्वे सागरिकैव तथात्वेनावशिष्यत इति पिण्डार्थः ।

अम्भोजेति । अम्भोजस्य कमलस्य गर्भः मध्यभागः स इव सुकुमारा मृदुतमा तनुः कायलता यस्याः सा अम्भोजगर्भसुकुमारतनुः असौ मम प्रियतमा प्रेयसी सागरिका तदा मकरन्दोद्यानोपनतप्रथमसम्मिलनवेलायाम् प्रथमरागघने अभिनवस्नेहनिविडे (दृढतमे इत्यर्थः) कण्ठग्रहे कण्ठाश्लेषे विलीय विलयनमिव प्राप्य सद्यः कण्ठाश्लेपक्षण एव पतन्तः ये मदनस्य कामदेवस्य मार्गणाः बाणाः तेषां रन्ध्राणि तत्कृतानि छिद्राणि तान्येव मार्गाः अन्तःप्रवेशपथाः तैः (मम) हृदयम् चित्तम् प्रविष्टा इति मन्ये उत्प्रेक्षे सुकुमाराङ्गी सागरिका मकरन्दोद्याने प्रथमसङ्गमे नवानुरागवशाद्यन्मम कण्ठं सुदृढमाश्लिक्षन्मन्ये तदैव पततां कामबाणानां पुंखैः कृतानि मदुरश्छिद्राणि द्वारीकृत्य मदन्तरलीयतेति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २ ॥

विश्वासस्थानम् = विश्वसनीयः, (यस्य पुरो रहस्यमपि निवेद्यात्मा लघूकर्तुं शक्येत) वसन्तकः = तदभिधानो विदूषकः । संयतः = निगडितकरचरणः । बाष्पमोक्षम् = रोदनम् ।

(उत्कण्ठासे सांस लेकर) अब देवीके प्रसन्न हो जानेपर मुझे केवल सागरिकाकी चिन्ता ही सता रही है । क्योंकि कमल कोमलाङ्गी वह हमारी प्रिया प्रथम प्रणयालिङ्गनके समय कन्दर्प द्वारा किये जानेवाले बाण प्रहारोंसे क्षतविक्षत हमारे कलेजेमें घुस गई ॥ २ ॥

(चिन्ता करके) जो कुछ तसल्ली देता वह वसन्तक भी देवीके कारावासमें पड़ा है, तब मैं किससे अपना दुखड़ा सुनाऊं ? (उसासें भरता है)

(ततः प्रविशति वसन्तकः ।)

वस०—(राजानं दृष्ट्वा ।) एसो क्खु णिब्भरोक्कण्ठापरिक्खामं वि सलाघणिज्जलावण्णं तणुं समुव्वहन्तो उदिओ विअ दुदिआचन्दो अहिअअरं सोहदि पिअवअस्सो । ता जाव णं उवसप्पामि । सोत्थि भवदे। दिठ्ठिआ दिठ्ठोसि देवीहत्थगदेणावि मए पुणोवि एदेहिं अच्छीहिं। (एष खलु निर्भरोत्कण्ठापरिक्षामामपि श्लाघनीयलावण्यां तनुं समुद्वहन्नुदित इव द्वितीयाचन्द्रोऽधिकतरं शोभते प्रियवयस्यः । तद्यावदेनमुपसर्पामि । (उपसृत्य ।) स्वस्ति भवते । दिष्ट्या दृष्टोऽसि देवीहस्तगतेनापि मया पुनरप्येताभ्यामक्षिभ्याम् ।)

राजा—(दृष्ट्वा सहर्षम् ।) अये वसन्तकः प्राप्तः। सखे परिष्वजस्व माम्।

विदू०—(परिष्वजति ।)

राजा—वयस्य वेषेणैव निवेदितस्ते देव्याः प्रसादः । तत्कथ्यतामिदानीं सागरिकायाः का वार्तेति !

निर्भरोत्कण्ठापरिक्षामाम् = निर्भरा अतिभूमिं गता या उत्कण्ठा तया परिक्षामाम् अतिकृशाम् । श्लाघनीयलावण्याम् = प्रशंसाऽऽस्पदसौन्दर्याम् । तनुं समुद्वहन् = कायं धारयन् । द्वितीयाचन्द्रोऽपि कृशः परं कमनीयश्च भवति, तद्वदयमपि, किञ्च यथा तस्यानुदिनमुपचयः कलावृद्धया, तथैवास्यापि मनोरथसिद्धयेत्युपमाभ्युदयम् । देवीहस्तगतेन = वासवदत्तया संयतेन (मया तु तथामृतेन स्वमृत्युरेव सम्भावितः, परमिदं मम सौभाग्यं यत्तया मुच्यमानः पुनरपि त्वां साक्षात्करोमि)

परिष्वजस्व = आलिङ्ग ।

वेषेण = परिच्छदेन । स चात्र पट्टांशुकयुगं कर्णाभरणञ्च लक्ष्यीकृत्योक्तः ।

[वसन्तक का प्रवेश]

वसन्तक—(राजाको देखकर) अतिशय उत्कण्ठासे कृश तथापि रमणीय देहधारी ये हमारे मित्र द्वितीया चन्द्रके समान रमणीय लग रहे हैं, तबतक इनसे मिल लूं । (समीप जाकर) आपका कल्याण हो । सौभाग्यसे आपको पुनः इन आंखोंसे देख रहा हूँ, नहीं तो मैं देवीके हाथोंमें पड़ गया था ।

राजा—(देखकर हर्षसे) अहा वसन्तक आ गये! मित्र मुझे आलिङ्गन करो

विदूषक—(आलिङ्गन करता है)

राजा—मित्र, तुम्हारा वेष ही कह रहा है कि तुम पर देवी प्रसन्न हैं, यह तो कहो सागरिकाकी क्या खबर है ?

(विदूषकः सवैलक्ष्यमधोमुखस्तिष्ठति ।)

राजा—वयस्य किं न कथयसि ।

विदू०—अप्पिअं दे णिवेदिदुं ण पारेमि । (अप्रियं ते निवेदयितुं न पारयामि ।)

राजा—(सोद्वेगम् ।) वयस्य कथमप्रियम् । व्यक्तमुत्सृष्टं जीवितं तया । हा प्रिये सागरिके । (इति मूर्च्छति ।)

विदू०—(ससंभ्रमम् ।) समस्ससदु समस्ससदु पिअवअस्सो । (समाश्वसितु समाश्वसितु प्रियवयस्यः ।)

राजा—(समाश्वस्य । सास्रम् ।)

प्राणाः परित्यजत काममदक्षिणं मां
रे दक्षिणा भवत मद्वचनं कुरुध्वम् ।
शीघ्रं न यात यदि तन्मुषिताः स्थ नूनं
याता सुदूरमधुना गजगामिनी सा ॥ ३ ॥

सोद्वेगम्=उद्वेगेन मनोव्यथया सहितम् । स चात्र 'अप्रियं ते' इति विदूषकोक्तं निशम्य सागरिकाविषयकानिष्टसम्भावनया जनितः । व्यक्तम् = स्फुटम् । उत्सृष्टम्= परित्यक्तम् ।

समाश्वसिहि = चेतयस्व, संज्ञां लभस्वेत्यर्थः ।

प्राणा इति । हे प्राणाः, दक्षिणाः अनुकूलाः (प्रार्थनाश्रवणं तदनुकूलमाचरणं चात्र दाक्षिण्यम्) भवत, मद्वचनम् मम उक्तिम् कुरुध्वम् पालयत, कामम् अन्यर्थम् अदक्षिणम् निरनुक्रोशम् (प्रियायां प्राणान् परित्यक्तवत्यामपि धृतजीवितत्वेनादाक्षिण्यम्) माम् परित्यजत मुञ्चत । ननु गन्तव्यतानिश्चयेऽपि नास्ति त्वरेति चेदत्राह–शीघ्रमिति । यदि शीघ्रम् त्वरितं न यात गच्छत तत् तदा मुषिताः स्थ

राजा—मित्र, कहते क्यों नहीं ?

विदूषक—आपसे अप्रिय नहीं कह सकूंगा ।

राजा—(उद्वेग पूर्वक) मित्र, अप्रिय ! निश्चित उसने प्राण छोड़ दिये ? । हा प्रिये सागरिके ! (मूर्च्छित होता है)

विदूषक—(आवेगके साथ) मित्र, धीरज धरें । धीरज धरें ।

राजा—(होश करके-रोता हुआ) मेरे प्राणो, मुझ निर्दयको छोड़ दो, मेरे ऊपर दयाकर मेरी बात मानो । तुम यदि शीघ्र नहीं जाओगे तो वञ्चित होगे, क्योंकि वह सुन्दरी दूर चली जायगी ॥ ३ ॥

विदू०—भो वअस्स मा अण्णधा संभावेहि। सा क्खु तवस्सिणी देवीए उज्जइणिं पेसिदत्ति सुणीअदि। अदो मए अप्पिअं त्ति भणिदम्। (भो वयस्य माऽन्यथा संभावय। सा खलु तपस्विनी देव्योज्जयिनीं प्रेषितेति श्रूयते। अतो मयाऽप्रियमिति भणितम्।)

राजा—कथमुज्जयिनीं प्रेषिता। अहो निरनुरोधा मयि देवी। वयस्य केन तवैतदाख्यातम्?

विदू०—(सास्रं निःश्वस्य।) भो सुसंगदाए। अण्णं च। मम हत्थे ताए किंवि णिमित्तं इअं रअणमाला पेसिदा। (भोः सुसंगतया। अन्यच्च। मम हस्ते तया किमपि निमित्तमियं रत्नमाला प्रेषिता।)

वञ्चिताः भवथ, (यतः) सा गजगामिनी गज इव गन्तुं शीलमस्याः सा सागरिका अधुना सुदूरम् याता। अतः सागरिकाप्रियाणां गमनमपि प्राप्तकालं 'गन्तव्ये सति जीवितप्रियसुहृत् सार्थः किमु त्यज्यते' इत्याशयः। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ ३॥

अन्यथा = अन्येन प्रकारेण, सम्भावय=मनसि कुरु। सागरिका मृतेति चित्ते मा कृथा इत्यर्थः। तपस्विनी = दयनीया।

निरनुरोधा = निर्दया, तथा च प्रयोगः 'प्रियो मन्युर्जातस्तस्य निरनुरोधे न तु वयम्' इति।

अत्र 'सुसंगता—'सा खलु तपस्विनी कुत्रापि नीता' विदूषकः—(सोद्वेगम्) अतिनिर्घृणं खलु कृतं देव्या' पुनः 'भो वयस्य मा खलु अन्यथा संभावय—अतोऽप्रियमिति भणितम्' 'राजा—अहो निरनुरोधा मयि देवी' इत्यादिग्रन्थेन वासवदत्तादोषप्रख्यापनात् अपवादो नामावमर्शसन्ध्यङ्गमुक्तम्, तल्लक्षणं यथा—दोषप्रख्यापवादः स्यादिति।

'अहो निरनुरोधा मयि देवी' इत्यत्र च वासवदत्तयेष्टासम्पादनाद्वत्सराजस्यावमाननाच्छलमित्यवमर्शसन्धेरङ्गमुक्तम्।

किमपि निमित्तम्, निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनमिति प्रथमा,

---

विदूषक—मित्र, ऐसी बात नहीं है, उस बेचारीको देवीने उज्जयिनी भेज दिया है—ऐसा सुना जाता है, इसीलिये मैंने अप्रिय कहा था।

राजा—क्या उज्जयिनी भेज दिया? अहो, देवीकी मुझसे इतनी चिढ़! मित्र यह किसने कहा?

विदूषक—सुसंगताने, और उसने यह माला भी किसी कारणवश मुझे भेजी है।

राजा—किमपरम्। मां समाश्वासयितुम्। तद्वयस्योपनय।

(विदूषक उपनयति।)

राजा—(गृहीत्वा रत्नमालां निर्वर्ण्य हृदये निधाय।) अहह—

कण्ठाश्लेषं समासाद्य तस्याः प्रभ्रष्टयाऽनया।
तुल्यावस्था सखीवेयं तनुराश्वास्यते मम॥ ४॥

वयस्य त्वं परिधत्स्वैताम्। येन वयमेनां तावद् दृष्ट्वा धृतिं करिष्यामः।

विदू०—जं भवं आणवेदि। (यद्भवानाज्ञापयति।) (परिदधाति।)

राजा—(सास्रम्।) वयस्य दुर्लभं पुनर्दर्शनं प्रियायाः।

केनापि कारणेनेत्यर्थः।

किमपरम् = एतस्या रत्नमालायाः प्रेषणे तस्या मदाश्वासनेच्छैव कारणं नान्यत् किञ्चिदित्यर्थः।

अहह = खेदव्यञ्जकमव्ययमिदम्, 'अहहेत्यद्भुते खेदे' इत्यमरः।

कण्ठाश्लेषमिति। तस्याः सागरिकायाः कण्ठाश्लेषम् कण्ठालिङ्गनम् समासाद्य अधिगत्य प्रभ्रष्टया तत्सौभाग्याच्च्युतया अनया सागरिकाप्रेषितरत्नमालया तुल्यावस्था समदशा (अर्थात् तदीयकण्ठग्रहमासाद्य प्रभ्रष्टा) सखी वयस्या इव मम तनुः आश्वास्यते सान्त्व्यते। 'दशाऽवस्था' इत्यमरः। यथा कण्ठाश्लेषप्रणयिनी काचित्सखी समावस्थया कयाचिदपरया सख्या वियोगे समाश्वास्यते तद्वत्सागरिकाकण्ठाश्लेषसुखमनुभूय विपन्नेयं रत्नमाला स्वसमानशीलां मम तनुं समाश्वासयतीति भावः॥ ४॥

परिधत्स्व = धारय। अन्यकण्ठस्थितायास्तस्या मालायाः सुखं सर्वांशतश्च

राजा—और किसलिए? मेरी तसल्लीके लिए। मित्र, लाओ तो।

(विदूषक देता है)

राजा—(मालाको लेकर भलीभांति देखकर, तथा कलेजेसे लगाकर) अहह! उसके गलेसे लगकर बिछुड़ी हुई यह माला स्वसमान दुःखिनी मेरे देहको सान्त्वना प्रदान कर रही है॥ ४॥

मित्र, तुम इसे पहनो, जिससे मैं इसे देखकर धीरज धर सकूं।

विदूषक—जो आपकी आज्ञा। (पहनता है)

राजा—(रोकर) मित्र, प्रियाके दर्शन अब दुर्लभ हो गये।

विदू०—(दिशोऽवलोक्य सभयम्।) भो वअस्स मा एव्वं उच्चं मन्तेहि। कआवि को वि देवीए इह संचरदि। (भो वयस्य मैवमुच्चैर्मन्त्रयस्व कदापि कोऽपि देव्या इह संचरति।)

(ततः प्रविशति वेत्रहस्ता वसुन्धरा।)

वसुं०—(उपसृत्य।) जअदु जअदु भट्टा। भट्टा एसो क्खु रुमण्णदो भाइणेओ विजअवम्मा पिअं किंपि णिवेदिदुकामो दुआरे चिठ्ठदि। (जयतु जयतु भर्ता। भर्तः एष खलु रुमण्वतो भागिनेयो विजयवर्मा प्रियं किमपि निवेदयितुकामो द्वारे तिष्ठति।)

राजा—वसुंधरे अविलम्बितं प्रवेशय।

वसुं०—जं देवो आणवेदि। विजअवम्म एसो क्खु भट्टा। ता उवसप्पदु अज्जो। (यद्देव आज्ञापयति। (इति निष्क्रम्य विजयवर्मणा सह पुनः प्रविश्य।) विजयवर्मन् एष खलु भर्ता। तदुपसर्पत्वार्यः।)

दृष्टुं शक्यत्वादित्थमुक्तिः। धृतिम् = सन्तोषम्। 'धृतिर्नष्टौ स्त्रियां तुष्टौ योगभिद्धैर्यधारणे' इति मेदिनी।

'सभयम्' = सातङ्कम्, (तत्कारणञ्च देवीकर्तृकैतादृशमन्त्रश्रवणसंभावनातर्कः) मन्त्रयस्व = भाषस्व।

वेत्रहस्ता = वेत्रं यष्टिर्हस्ते यस्यास्तादृशी वसुन्धरा = नामेदं प्रतीहार्याः।

रुमण्वतः = वत्सराजप्रधानसेनानायकस्य। भागिनेयः = भगिनीपुत्रः स्त्रीभ्यो ढगिति ढक्, तस्यैयादेशः। निवेदयितुं कामः अभिलाषो यस्य स निवेदयितुकामः, 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुं काममनसोरपि। समो वा हिततयोर्मांसस्य पचियुड्घञोः' इति मलोपः। द्वारे = प्रतीहारे।

विदूषक—(चारों ओर देखकर, भयसे) मित्र, जरा धीरेसे बोला करें, कहीं कोई देवीका आदमी न सुन ले।

[वेत्र धारिणी वसुन्धराका प्रवेश]

वसुन्धरा—(समीप जाकर) महाराजकी जय हो। महाराज, रुमण्वान्के भागिनेय विजय वर्मा कुछ खुश खबर सुनाने आये हैं, वे द्वारपर खड़े हैं।

राजा—वसुन्धरे, उसे शीघ्र बुला लाओ।

वसुन्धरा—जो आज्ञा [बाहर जाकर विजयवर्माके साथ पुनः प्रवेश] विजयवर्मा, ये ही महाराज हैं, आप चलें।

विजय०—(उपसृत्य ।) जयतु जयतु देवः। देव दिष्ट्या वर्धसे रुमण्वतो विजयेन।

राजा—साधु रुमण्वन् साधु। अचिरान्महत्प्रयोजनमनुष्ठितम्। विजयवर्मन् इत आस्यताम्।

(विजयवर्मोपविशति ।)

राजा—विजयवर्मन् जितः कोसलाधिपतिः ?

विजय०—देवस्य प्रभावेण।

राजा—विजयवर्मन् तत्कथय कथमिति। विस्तरतः श्रोतुमिच्छामि।

विजय०—देव श्रूयताम्। वयमितो देवादेशात्कतिपयैरेवाहोभिरनेक-

रुमण्वतो विजयेन = रुमण्वता कृतेन रिपुविजयेनेत्यर्थः, स्वसेनापतिविजयः स्वविजय एव राज्ञा मतः सौभाग्यमिदं तवेति तदाशयः।

साधु साध्विति द्विरुक्तिरन्तस्तोषव्यञ्जिका। अचिरात्=अल्पेन समयेन। महत्= अत्यावश्यकं विशालञ्च। प्रयोजनम् = कार्यम्। अनुष्ठितम् = सम्पादितम्।

देवस्य = भवतः। प्रभावेण = प्रभुत्वेन।

विस्तरतः = विस्तरेण, सार्वविभक्तिकस्तसिः।

वयम् = सेनायां नियुक्ताः। इतः अस्मात् स्थानात्, इदं गत्वेत्यनेन सम्बध्यते। देवादेशात् = आज्ञामधिगत्य। कतिपयैः = अल्पैः, कतिपयशब्दस्याल्पार्थकत्वमन्यत्रापि दृश्यते यथा—'इहैव त्वं तिष्ठ द्रुतमहमह्नोभिः कतिपयैः, समागन्ता कान्ते मृदुरसि न चायाससहना' इति। अहोभिः = दिवसैः। अनेके बहवः करिणः

विजयवर्मा—(समीप जाकर) महाराजकी जय हो। रुमण्वान्‌की विजयसे श्रीमान्‌की विजय है।

राजा—शाबाश रुमण्वान्, शाबाश, शीघ्रतामें तुमने महान् कार्य कर लिया। विजयवर्मा यहाँ बैठो।

(विजयवर्मा बैठता है)

राजा—विजयवर्मा ! क्या कोसलराज पराजित हो गया ?

विजयवर्मा—महाराजके प्रतापसे।

राजा—बताओ, कैसे क्या हुआ ? विस्तारसे सुनना चाहता हूँ।

विजयवर्मा—महाराज सुनिये हम लोगोंने श्रीमान्‌की आज्ञा लेकर थोड़े ही

करितुरगपत्तिदुर्निवारेण महता बलसमूहेन गत्वा विन्ध्यदुर्गावस्थितस्य कोसलाधिपतेर्द्वारमवष्टभ्य सेनाः समावेशयितुमारब्धाः ।

राजा—ततस्ततः ।

विजय०—ततः कोसलाधिपतिरपि दर्पात्परिभवमसहमानो हास्तिकप्रायमशेषमात्मसैन्यं सज्जीकृतवान् ।

विदू०—भोः लहुं आचक्ख । वेवदि विअ मे हिअअम् । (भो लघ्वाचक्ष्व । वेपत इव मे हृदयम् ।)

राजा—ततस्ततः ।

गजाश्च तुरगाः अश्वाश्च पत्तयः पदातयश्चेति अनेककरितुरगपत्ति (सेनाङ्गत्वात् एकवद्भावः) तेन दुर्निवारेण = दुर्योवेन । महता = अधिकसंख्यकेन । बलसमूहेन= सैन्यसमूहेन । विन्ध्यदुर्गावस्थितस्य = विन्ध्य एव दुर्गः, विन्ध्ये स्थितो वा दुर्गः विन्ध्यदुर्गः, तत्रावस्थितस्य वर्त्तमानस्य । द्वारम् = यातायातवर्त्म । अवष्टभ्य = अवरुध्य । समावेशयितुम् = पुरीरोधाय व्यवस्थापयितुम् । आरब्धाः = आरब्धवन्तः । अत्र 'वयमारब्धाः' इति प्रयोगश्चिन्त्यः, रभेः कर्त्तरि क्तस्याप्राप्तेः । अतः 'समारब्धवन्तः' इति पठनीयमन्यो वा शुद्धः पाठः कल्पनीयः । वस्तुतस्तु 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' इति कर्तरि क्तप्रत्ययः ।

परिभवम् = द्वाररोधकृतमपमानं कष्टं च । असहमानः = सोढुमपारयन् । हास्तिकप्रायम् = हस्तिनां समूहो हास्तिकम् , तत्प्रायम् = तद्बहुलम् ।' 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्' इति ठक् । सज्जीकृतवान् सन्नद्धं कृतवान् ।

लघ्वाचक्ष्व = शीघ्रं कथय । वेपते = कम्पते, कम्पश्च युद्धचर्चया, तेन च तस्य भीरुत्वं व्यज्यते ।

दिनोंमें अनेक हाथी घोड़े और पैदल सैनिकोंसे सजी बड़ी भारी सेना लेकर विन्ध्यदुर्ग पर स्थिर कोसलाधिपतिको घेरे में डाल दिया ।

राजा—उसके बाद ?

विजयवर्मा—उसके बाद कोशलाधिपति अपनी बेइज्जतीसे दुःखी होकर हाथियोंकी प्रधानता से अपनी सेना तैयार की ।

विदूषक—अजी जल्दी कहो, मेरा कलेजा कांप रहा है ।

राजा—उसके बाद ?

विजय०—देव कृतनिश्चयश्चासौ—

योद्धुं निर्गत्य विन्ध्याद्‌भवदभिमुखस्तत्क्षणं दिग्विभागा-
न्विन्ध्येनेवापरेण द्विपपतिपृतनापीडबन्धेन रुन्धन् ।
वेगाद्‌बाणान्विमुञ्चन्समदकरिघटोत्पिष्टपत्तिर्निपत्य
प्रत्यैच्छद्वाञ्छितात्तिर्द्विगुणितरभसस्तं रुमण्वान्क्षणेन ॥ ५ ॥

कृतनिश्चयः = योद्धुं व्यवस्थापितमतिः । असौ कोसलाधिपतिः ।

योद्धुमिति । (असौ कोसलाधिपतिः) योद्धुम् युद्धं कर्तुम् तत्क्षणम् निर्गत्य दुर्गाद्‌बहिरागत्य अपरेण अन्येन विन्ध्येन तदाख्यया प्रसिद्धेन पर्वतेन इव द्वाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबन्तीति द्विपाः गजाः तेषाम् पतयः स्वामिनः द्विपपतयः महागजाः पृतना सेना तस्याः आपीडबन्धः घनव्यूहाकारेण रचना तेन द्विपपतिपृतनाऽऽपीड-बन्धेन महागजसेना विरचितघनव्यूहेन दिग्विभागान् दिशावकाशान् रुन्धन् आवृ-ण्वन् अभिमुखः पुरोवर्ती अभवत् अजायत । यदैव वयं तदीयं दुर्गमवरुध्य सेनाः समावेशयितुमारब्धवन्तस्तत्क्षणमेवासौ कोसलाधिपतिर्योद्धुं निश्चित्य गजव्यूहेना-परेण विन्ध्याचलेनेव दिशावकाशानावृत्याभिमुखमायात इत्याद्यपादद्वयार्थः । क्षणेन तत्क्षणम् बाणान् शरान् विमुञ्चन् समदानाम् मदस्राविणाम् करिणाम् हस्तिनाम् या घटा पङ्क्तिसमूहः तया उत्पिष्टाः चूर्णीकृताः पत्तयः पदातयो येन सः तथोक्तः, वा-ञ्छितस्य ईप्सितस्य कोसलाधिपतिना सह युद्धस्य आप्तिः प्राप्तिः तया द्विगुणितर-भसः द्विगुणीकृतवेगः रुमण्वान् भवदीयः सेनानी वेगात् संरम्भात् निपत्य तम् कोस-लाधिपतिम् प्रत्यैच्छत् प्रतीष्टवान् । प्रतिपूर्वकस्येच्छतेः परप्रहारावरोधोऽर्थः, तथाच प्रयोगो नैषधीये 'ततः प्रतीच्छ प्रहरेति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे' इति 'प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम्' इति च । कोसलाधिपतिं तथा निर्गच्छन्तं बाणान्मु-ञ्चन्तं च दृष्ट्वा वर्धितयुद्धोत्साहो रुमण्वानपि तं प्रति प्रजहारेत्याशयः । यद्यप्यत्र करि-घटापदघटकं करिपदमनर्थकम्', 'घटना करिणां घटा' इति कोशस्वारस्येन करि-

विजयवर्मा—देव, निश्चय करके वह—

विन्ध्यदुर्गसे लड़नेके लिये निकलकर विन्ध्य-समान अपने सैन्यगजोंसे दिशा-ओंको घेरता हुआ कोसलाधिपति मैदानमें उतरा, और मतवाले हाथियोंसे हमारी पैदल सेनाको रौंदवाने लगा, इसी समय जोरोंकी बाणवर्षा करनेवाले हमारे सेनापति रुमण्वान् ने युद्ध प्राप्तिसे दुगुना उत्साहित हो उसे रोक किया ॥ ५ ॥

अपि च।

अस्त्रव्यस्तशिरस्त्रशस्त्रकषणोत्कृत्तोत्तमाङ्गे क्षण
व्यूढासृक्सरिति स्वनत्प्रहरणे वर्मोद्वलद्वह्निनि।
आहूयाजिमुखे स कोसलपतिर्भङ्गप्रतीपीभव-
न्नेकेनैव रुमण्वता शरशतैर्मत्तद्विपस्थो हतः॥ ६॥

घटारूपार्थस्य घटापदेनैव प्रतीतेरित्यधिकपदता प्रतिभासते, तथापि 'सकीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः' इत्यत्रेव 'विशिष्टवाचकपदानां सति विशेषणवाचकपदपृथक्समवधाने विशेष्यमात्रपरत्वमास्थाय निर्वाहश्चिन्तनीयः। अत्र सात्वती वृत्तिः, वीरो रसः, ओजोगुणः। स्रग्धरा वृत्तम्॥ ५॥

अस्त्रव्यस्तेति। अस्त्रैः आयुधैः व्यस्तानि क्षिप्तानि शिरस्त्राणि उष्णीषरूपतया धृतानि शिरोरक्षासाधनानि यत्र तत् अस्त्रव्यस्तशिरस्त्रम्, तच्च शस्त्रैः आक्षिप्यमाणैः खड्गादिभिरायुधैर्यत्कषणम् प्रहारः तेन उत्कृत्तानि छिन्नानि उत्तमाङ्गानि रिपूणां शिरांसि यस्मिन् तत् शस्त्रकषणोत्कृत्तोत्तमाङ्गञ्चेति कर्मधारयस्तस्मिन् अस्त्रव्यस्तशिरस्त्रशस्त्रकषणोत्कृत्तोत्तमाङ्गे अस्त्रापसारितोष्णीषशस्त्रच्छिन्नशिरसीत्यर्थः, तादृशे क्षणम् व्यूढा प्रवाहिता असृजः शोणितस्य सरित् नदी यस्मिंस्तथाभूते किञ्च स्वनन्ति परस्परसङ्घर्षवशात् शब्दायमानानि प्रहरणानि यत्र तस्मिन्, अपि च वर्मभ्यः योद्धृभिः परिहितेभ्यः कवचेभ्यः उद्वलन् प्रकटीभवन् वह्निः अग्निर्यत्र तादृशे आजिमुखे समरप्राङ्गणे आहूय रणार्थमागच्छेति स्पर्द्धासूचकवाक्येनाहूय भङ्गप्रतीपीभवन् स्वपराजयं निवारयितुमुद्युञ्जानः मत्तद्विपस्थः मदस्राविकरिपृष्ठारूढः सः कोसलपतिः एकेन सहायकान्तररहितेन एव रुमण्वता शरशतैः शतसङ्ख्याकैः बाणैः हतः मारितः। यत्र युद्धे अस्त्रैः शिरस्त्राणि क्षिप्यन्ते, शस्त्रैः शिरांसि छिद्यन्ते शोणितनदी प्रवहति, प्रहरणानि शब्दायन्ते, कवचेभ्यो वह्निस्फुलिङ्गाः प्रकटन्ति च तत्र स्वपराजयं निवारयितुं प्राणपणेन चेष्टमानम् मत्तद्विपस्थञ्च कोसलपतिमाहूय रुमण्वानन्यदीयां सहायतामनधिगच्छन्नपि शरशतैरवधीदिति भावः। अत्राहूयेति एकेनेति, च छलप्रवधाशङ्का निवारिता। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ ६॥

और, तलवारोंसे टोपियाँ उधेड़ी जाने लगीं, शिर काटे जाने लगे, शोणितकी नदी बहने लगी, हथियार झनझनाने लगे, और तलवारोंकी चोटसे कवचोंसे चिनगारियाँ निकलने लगीं। इसी समय विजयको रोकनेवाले गजारूढ कोसलापतिको रुमण्वान्ने ललकारा, और सैकड़ों बाणोंसे इसे स्वर्ग भेज दिया॥ ६॥

विदू०—जअदु जअदु भवं। जितं अम्हेहिं (जयतु जयतु भवान्। जितमस्माभिः।) (इत्युत्थाय नृत्यति।)

राजा—साधु कोसलपते साधु। मृत्युरपि ते श्लाघ्यो यस्य शत्रवोऽप्येवं पुरुषकारं वर्णयन्ति। ततस्ततः।

विजय०—देव ततो रुमण्वानपि कोसलेषु मद्भ्रातरं ज्यायांसं जयवर्माणं स्थापयित्वा समरव्रणितमशेषबलमनुवर्तमानः शनैः शनैराग-च्छत्येव।

राजा—वसुन्धरे उच्यतां यौगन्धरायणः दीयतां मत्प्रसादोऽस्येति।

वसुं०—जं देवो आणवेदि। (यद्देव आज्ञापयति।) (इति विजयवर्मणा सह निष्क्रान्ता।)

(ततः प्रविशति काञ्चनमाला।)

मृत्युः = मरणम् श्लाघ्यः=प्रशसनीयः। पुरुषकारम्=पराक्रमम्। वर्णयन्ति = अभिनन्दन्ति, 'नाम यस्याभिनन्दन्ति द्विषोऽपि स पुमान् पुमान्' इति भावः।

तत० = कोसलाधिपतिमरणानन्तरम्। कोसलेषु = कोसलराज्ये। ज्यायांसम्= ज्येष्ठम्, प्रशस्यशब्दादीयसुन्प्रत्यये 'ज्य च' इत्यनेन ज्यादेशे 'ज्यादादीयसः' इत्यालोपे च 'ज्यायस्' इति शब्दस्य सिद्धिः। समरव्रणितम् = युद्धविक्षतदेहम्। अशेषबलम् = सकलसैन्यम्। अनुवर्तमानः ॥ अनुसरन्।

मत्प्रसादः = मत्प्रसादसूचकं पारितोषिकम्।

विदूषक—जय हो महाराजकी, हमारी जीत है। (इस तरह खड़ा होकर नाचता है)

राजा—धन्य कोसलपति तुम धन्य हो, क्योंकि तुम्हारे दुश्मन भी तुम्हारी बहादुरीकी प्रशंसा करते हैं। उसके बाद?

विजयवर्मा—देव, उसके बाद रुमण्वान् कोसलमें हमारे बड़े भाई जयवर्माको रखकर जख्मी सैन्यके साथ धीरे-धीरे आते हैं।

राजा—वसुन्धरे, जाओ, यौगन्धरायणसे कहो कि इसे हमारी ओरसे पारितोषिक दें।

वसुन्धरा—जो आज्ञा। (विजयवर्माके साथ प्रस्थान)

(काञ्चनमाला का प्रवेश)

काञ्चन०—आणत्तम्हि देवीए जह—हञ्जे काञ्चणमाले गच्छ । एदं इन्द्रजालिअं अज्जउत्तस्य दंसेहि । एसो क्खु भट्टा । ता जाव उपसप्पामि । जअदु जअदु भट्टा । देवी विण्णवेदि—एसो क्खु उज्जइणीदो सव्वसिद्धी णाम इन्दजालिओ आअदो । ता पेक्खदु णं अज्जउत्तोत्ति। (आज्ञप्तास्मि देव्या यथा—हञ्जे काञ्चनमाले गच्छ । एतमैन्द्रजालिकमार्यपुत्राय दर्शय । (परिक्रम्यावलोक्य च ।) । एषः खलु भर्ता । तद्यावदुपसर्पामि । (उपसृत्य ।) जयतु जयतु भर्ता । देवी विज्ञापयति—एष खलूज्जयिनीतः सर्वसिद्धिर्नामैन्द्रजालिक आगतः । तत्प्रेक्षतामेनमार्यपुत्र इति ।)

राजा—अस्ति नः कौतुकमिन्द्रजाले । तच्छीघ्रं प्रवेशय ।

काञ्चन०—जं देवो आणवेदि । (यद्देव आज्ञापयति ।)

(निष्क्रम्य पुनः पिच्छिकाहस्तेनेन्द्रजालिकेन सह प्रविशति ।)

ऐन्द्रजालिकः—(पिच्छिकां भ्रमयन् ।)

पणमह चलणे इन्दस्स इन्दजालअपिणद्धणामस्स ।
तह ज्जेव्व संबरस्स माआसुपरिट्ठिदजसस्स ॥

आज्ञप्ता = आदिष्टा । ऐन्द्रजालिकम् = इन्द्रजालम् मायाक्रीडाप्रदर्शनम् शिल्पं यस्य तादृशम्, 'शिल्पम्' इति ठक् । आर्यपुत्राय दर्शय = राज्ञः साक्षात्कुरु । एनम् = ऐन्द्रजालिकम् ।

कौतुकम् = उत्कण्ठा ।

पिच्छिकाहस्तेन = पिच्छिका-मयूरपिच्छस्तवकः, सा हस्त यस्य तन ।

पिच्छिकां भ्रमयन् = तथाकरणं दिग्बन्धनार्थमिति तत्त्वविदः ।

काञ्चनमाला—देवीकी आज्ञा है—'काञ्चनमाले, जाओ, इस ऐन्द्रजालिकको महाराजका दर्शन कराओ । (कुछ चलकर, तथा देखकर) ये ही तो महाराज हैं, (समीप जाकर) जय हो महाराजकी । देवीने निवेदन किया है कि यह सर्वार्थसिद्धिनामक ऐन्द्रजालिक उज्जयिनीसे आया है, महाराज इसे दर्शन दें ।

राजा—हमको इन्द्रजालका स्नेह है । शीघ्र बुला लाओ ।

काञ्चनमाला—महाराजकी जो आज्ञा ।

[बाहर आकर पिच्छिका हस्त ऐन्द्रजालिकके साथ प्रवेश]

ऐन्द्रजालिक—(पिच्छिका घुमाता है)

(प्रणमत चरणाविन्द्रस्येन्द्रजालकपिनद्धनाम्नः।
तथैव शम्बरस्य मायासुप्रतिष्ठितयशसः॥ ७॥)

काञ्चन०—(उपसृत्य।) भट्टा एसो क्खु इन्दजालिओ। (भर्तः एष खल्वैन्द्रजालिकः।)

ऐन्द्र०—जंअदु जअदु देवो। देव। (जयतु जयतु देवः। देव।)

किं धरणिए मिअङ्को आआसे महिहरो जले जलणो।
मज्झण्हम्मि पओसो दाविज्जइ देहि आणतिम्॥

(किं धरण्यां मृगाङ्क आकाशे महीधरो जले ज्वलनः।
मध्याह्ने प्रदोषो दर्श्यतां देह्याज्ञप्तिम्॥ ८॥)

प्रणमतेति। इन्द्रजालकपिनद्धनाम्नः-इन्द्रजालमेवेन्द्रजालकं तत्र पिनद्धम् अनुस्यूतम् सर्वथाऽपृथक्कार्यतया संबद्धम् नाम यस्य तस्य, इन्द्रजालप्रवर्त्तकस्येति भावः। इन्द्रप्रवर्त्तितत्वादेव तस्येन्द्रजालमिति समाख्याऽतएव चेत्थमुक्तम्। इन्द्रस्य देवराजस्य चरणौ पादौ प्रणमत नमस्कुरुत। तथैव इन्द्रवत् मायासु· ऐन्द्रजालिक-क्रियासु सुप्रतिष्ठितम् अतिविख्यातम् यशः कीर्त्तिः यस्य तादृशस्य शम्बरस्य तदा-ख्यस्य मायिकस्य चरणौ प्रणमत इत्यस्यात्रापि सम्बन्धः। एतच्चैन्द्रशम्बरनम-स्कारात्मकं तन्मङ्गलं तयोरेतत्कलाप्रवर्त्तकतया कर्त्तव्यत्वेनावधार्यते॥ ७॥

किं धरण्यामिति। किम् धरण्याम् पृथिव्याम् मृगः हरिणः अङ्कः चिह्नम् यस्य सः चन्द्रः प्रदर्श्यताम् दर्शनपथम् प्राप्यताम्? एवमेव प्रदर्श्यतामित्यस्याग्रेऽपि योजना। आकाशे व्योम्नि महीधरः पर्वतः प्रदर्श्यताम् किम्? धरतीति धरः, मह्याः धरः महीधरः इति विग्रहः। जले पानीये ज्वलनः वह्निः किम्? मध्याह्ने मध्यन्दिने प्रदोषः रजनीमुखम् किम्? आज्ञप्तिम् आदेशम् देहि वितर। यद्यादि-शसि तदाऽसम्भूतमपि वस्तुजातमहं दर्शयितुं क्षमस्तत्तादृशवस्तुप्रदर्शनाज्ञां वितरेति

इन्द्रजालके प्रवर्त्तक इन्द्र और मायामें प्रसिद्ध शम्बरासुरके चरणोंको प्रणाम करो॥ ७॥

काञ्चनमाला—(समीप जाकर) महाराज, यही ऐन्द्रजालिक है।

ऐन्द्रजालिक—जय हो महाराजकी, महाराज!

क्या पृथ्वीपर चन्द्रमा या आकाशमें पर्वत या जलमें आग अथवा दोपहरमें सन्ध्या, क्या दिखलाया जाय, आज्ञा दें॥ ८॥

अह वा किं बहुणा जप्पिदेण। (अथ वा किं बहुना जल्पितेन।)

मज्झ पइण्णा एसा जं जं हिअएण इहसि संदट्ठुम्।
तं तं दंसेमि अहं गुरुणो मन्तप्पभावेण॥

(मम प्रतिज्ञैषा यद्यद् हृदयेनेहसे संद्रष्टुम्।
तत्तद्दर्शयाम्यहं गुरोर्मन्त्रप्रभावेण॥ ९॥)

विदूषकः—भो वअस्स अवहिदो होहि। ईदिसो से अवठ्ठम्भो जेण सव्वं संभावीअदि। (भो वयस्य अवहितो भव। ईदृशोऽस्यावष्टम्भो येन सर्वं सम्भाव्यते।)

भावः। मध्याह्नपदेऽह्नो मध्यमिति विग्रहे एकदेशिसमासे 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः' इत्यह्नादेशः, 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति च पुंस्त्वम्॥ ८॥

जल्पितेन = भाषितेन।

मम प्रतिज्ञैषेति। यत् यत् हृदयेन सन्द्रष्टुम् विलोकयितुमीहसे इच्छसि तत तत् अहम् गुरोः एतद्विद्याशिक्षकस्य मन्त्रप्रभावेण मन्त्रबलेन दर्शयामि एषा ईदृशी मम प्रतिज्ञा दृढनिश्चयः। भवता मनसिकृतं वाचाऽप्रकाशितमपि दर्शयितुमहं प्रतिजाने तदलं भवत आदेशदानश्रमेण, केवलमवलोकनेनानुग्रहं करोतु देव इति भावः॥

अत्रैतेन श्लोकद्वयेनैन्द्रजालिको मिथ्याऽग्निसंभ्रमोत्थापनेन वत्सराजहृदयाभिलषितसागरिकादर्शनानुकूलां निजशक्तिमाविष्कृतवानिति व्यवसायाख्यमङ्गमिदम्, तदुक्तम्—'व्यवसायश्च विज्ञेयः प्रतिज्ञाहेतुसम्भवः' इति।

अवहितः = सावधानः, एतत्प्रदर्श्यमानाद्भुतव्यापारविलोकनदत्तमना इत्यर्थः। अवष्टम्भः = उत्साहप्रभवा दृढता।

अथवा बहुत क्या कहा जाय—

मेरी यह प्रतिज्ञा है कि जो कुछ श्रीमान् हृदयसे देखना चाहते होंगे, वे सभी चीजें गुरु मन्त्रके प्रभावसे मैं दिखा दूँगा॥ ९॥

विदूषक—मित्र, सावधानी बरतें। इसकी ढिठाईसे मालूम होता है कि यह सब कर सकता है।

राजा—भद्र तिष्ठ तावत्। काञ्चनमाले उच्यतां देवी। युष्मदीय एवायमैन्द्रजालिको विजनीकृतश्चायमुद्देशः। तदेहि। सहितावेवैनं पश्याव इति।

काञ्चन०—जं भट्टा आणवेदि। (यद्भर्ताज्ञापयति।) (इति निष्क्रान्ता।)

(ततः प्रविशति वासवदत्ता काञ्चनमाला च।)

वासव०—कञ्चणमाले उज्जइणीदो आअदोत्ति अत्थि मे तस्सिं इन्दजालिए पक्खवादो। (काञ्चनमाले उज्जयिनीत आगत इत्यस्ति मे तस्मिन्नैन्द्रजालिके पक्षपातः।)

काञ्चन०—णादिकुलबहुमाणो क्खु एसो भट्टिणीए। ता एदु एदु भट्टिणी। (ज्ञातिकुलबहुमानः खल्वेष भर्त्र्याः। तदेत्वेतु भर्त्री।) (इति परिक्रामतः।)

वासव०—(उपसृत्य।) जेदु जेदु अज्जउत्तो। (जयतु जयत्वार्यपुत्रः।)

युष्मदीयः = युष्माकम्, 'त्यदादीनि च' इति वृद्धसंज्ञायां 'वृद्धाच्छः' इति युष्मदश्छप्रत्ययः। एतेन तद्दर्शनपथावतारे क्षत्यभावः उक्तः। ननु स्यादसावैन्द्रजालिक उज्जयिनीवासित्वेन राज्ञ्या आत्मीयस्तथाऽपि राज्ञः समीपेऽन्येऽपि बाह्याः सम्भाव्यन्तेऽतो राज्ञ्यास्तत्रागमनं न योग्यमत आह—विजनीकृतः = निर्जनतां गमितः उद्देशः = प्रदेशः। सहितौ = मिलितौ, आवाम् इति शेषः। एनम् ऐन्द्रजालिकम्।

पक्षपातः = आत्मीयताकृत आदरातिशयः।

ज्ञातिकुलबहुमानः = स्वपितृवंशे समादरभूमा।

राजा—तब तक ठहरो। काञ्चनमाले, देवीसे कहो कि यह ऐन्द्रजालिक आपका ही है, और इस स्थानको भी एकान्त बना दिया गया है, इसलिये आओ हम दोनों मिलकर ही देखें।

काञ्चनमाला—जो आज्ञा। (जाती है)

[वासवदत्ता और काञ्चनमालाका प्रवेश]

वासवदत्ता—काञ्चनमाले, उज्जयिनीसे आया है, इस हेतु मेरा भी इस ऐन्द्रजालिकके प्रति पक्षपात है।

काञ्चनमाला—आपका यह नैहरके प्रति आदर है। आप चलें। (दोनों चलते हैं)

वासवदत्ता—जय हो महाराज की।

राजा—देवि बहुतरमनेन गर्जितम्। तदिहोपविश्यताम्। पश्यामस्तावत्। (वासवदत्तोपविशति।)

राजा—भद्र प्रस्तूयतामिन्द्रजालम्।

ऐन्द्रजा०—जं देवो आणवेदि (यद्देव आज्ञापयति।)

(इति बहुविधं नाट्यं कृत्वा पिच्छिकां भ्रमयन्।)

हरिहरबम्हप्पमुहे देवे दंसेमि देवराअं च।
गगणम्मि सिद्धचारणसुरवहुसत्थं च णच्चन्तम्॥
(हरिहरब्रह्मप्रमुखान्देवान्दर्शयामि देवराजं च।
गगने सिद्धचारणसुरवधूसार्थं च नृत्यन्तम्॥ १०॥)

ता पेक्खदु देवो (तत्प्रेक्षतां देवः।)

राजा—(ऊर्ध्वमवलोक्यासनादवतरन्।) आश्चर्यमाश्चर्यम्। देवि पश्य—

बहुतरं गर्जितम् = स्वकीयं पाटवं विषयीकृत्य बहु विकत्थितमित्यर्थः।
प्रस्तूयताम् = आरभ्यताम्।

हरिहरेति। हरिः विष्णुः हरः शिवः ब्रह्मा विधाता ते हरिहरब्रह्माणस्ते प्रमुखाः प्रधानभूता येषाम् तान् देवान् सुरान् दर्शयामि, देवराजम् इन्द्रम् च (दर्शयामि) गगने आकाशे सिद्धचारणाः देवयोनिभेदाः, सुरवध्वः देवाङ्गनाः तासाम् सार्थम् समूहम् च नृत्यन्तम् नृत्यमाचरन्तम् दर्शयामि। गगने हरिहरब्रह्मप्रधानान् सुरान् देवराजसिद्धचारणान् नृत्यन्तीर्देवाङ्गनाश्च दर्शयामि तत्पश्यतु महाराज इति भावः। 'विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः' इत्यमरः॥ १०॥

आसनात् = स्वाधिष्ठितात्पीठात्। अवतरन् = अवरोहन्, तथाकरणश्चाश्चर्या

राजा—देवि, यह बहुत आत्मश्लाघा करता है, यहां बैठें और देखें।

(वासवदत्ता बैठती है)

राजा—अजी, दिखाओ अपना इन्द्रजाल।

ऐन्द्रजालिक—जो आज्ञा। (नाना प्रकारका नृत्य करता तथा पिच्छिका घुमाता हुआ)

ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रभृति देवगण, इन्द्र, सिद्धगण और नाचती हुई उनकी ललनाओंको आकाशमें दिखाता हूँ॥ १०॥

महाराज देखें।

राजा—(ऊपरकी ओर देखकर, आसनसे उतरता हुआ) आश्चर्य! आश्चर्य!

एष ब्रह्मा सरोजे रजनिकरकलाशेखरः शंकरोऽयं
दोर्भिर्दैत्यान्तकोऽसौ सधनुरसिगदाचक्रचिह्नैश्चतुर्भिः।
एषोऽप्यैरावतस्थस्त्रिदशपतिरमी देवि देवास्तथान्ये
नृत्यन्ति व्योम्नि चैताश्चलचरणरणन्नूपुरा दिव्यनार्यः॥११॥

वासव०—अच्चरिअं अच्चरिअम्। (आश्चर्यमाश्चर्यम्।)

तिशयं द्योतयति। आश्चर्यकारणन्तु येषां हरिहरादीनां दर्शनं महताऽपि तपसा दुरापं त एवानेन साक्षाद्वियति दर्श्यन्त इत्यलौकिकचमत्कारभावनैवात्रेति बोध्यम्।

एष ब्रह्मेति। व्योम्नि आकाशे सरोजे स्वाधिष्ठानभूते कमले एषः ब्रह्मा विधाता, दृश्यत इति शेषः। अयम् प्रत्यक्षदृश्यः रजनिकरस्य चन्द्रमसः कला षोडशो भागः शेखरः शिरोभूषणम् यस्य सः शशाङ्कचूडामणिः शङ्करः शिवः। अत्रापि दृश्यते विद्यते इति वाऽध्याहर्त्तव्यम्। असौ विप्रकृष्टवर्त्ती धनुः चापः, असिः खड्गः गदा, चक्रम् तैः चतुर्भिः चिह्नैः सहितैः दोर्भिः बाहुभिः उपलक्षितः दैत्यान्तकः दानवारिः विष्णुः, चतुर्ष्वपि करेषु शार्ङ्गचापनन्दकखड्गकौमोदकीगदासुदर्शनचक्ररूपैश्चतुर्भिचिह्नैरुपेतो विष्णुः, अत्रापि पूर्ववत् क्रियाऽध्याहार्या। एषः ऐरावतस्थः तदाख्यया प्रसिद्धे गजे स्थिरीभूय वर्त्तमानः त्रिदशपतिः। क्रियाध्याहारः पूर्ववत्। इरा उदकानि सन्त्यस्येतीरावान् समुद्रः, इरावति भवः, ऐरावतः। इराशब्दस्य जलार्थत्वे—'इरा उदकं तेन माद्यति दीप्यत इतीरम्मदो मेघज्योतिः' इति सिद्धान्तकौमुद्यपि मानम्। तथाऽन्ये अमी देवाः सुराः (ये विशिष्य नामग्राहं न शक्यनिर्देशाः) अत्रापि दृश्यन्ते इत्यध्याहार्यम्। एताश्च चलेषु गतिवशगेषु रणत्सु पादेषु रणन्तः मुखराः मञ्जीराः नूपुराः यासाम् तादृश्यः दिविभवाः दिव्या (दिगादित्वाद्यत्) दिव्याश्च ताः नार्यः दिव्यनार्यः देवाङ्गनाः नृत्यन्ति नृत्यं कुर्वन्ति। देवि एतान्पश्येति पूर्वोक्ता क्रिया। अतश्च यथाऽनेन हरिहरब्रह्ममुखान् देवान्दर्शयामीति प्रतिज्ञातं तत्साधुनिरूढं तद्देवी निरीक्षतां मम तु तादृशालौकिककर्मदर्शनजन्यविस्मयवशंवदतामिव गतं मन इति भावः। स्रग्धरा वृत्तम्॥ ११॥

देवी, देखो तो—

यह कमलमें ब्रह्मा, यह चन्द्रशेखर शङ्कर; धनुष, खड्ग, गदा, चक्रसे युक्त चारों भुजाओंसे भूषित यह भगवान् विष्णु, यह ऐरावतारूढ देवराज और यह अन्य देवगण दिखलाते हैं। इधर देवाङ्गनायें नूपुर झनकारती हुई नृत्य कर रही हैं॥ ११॥

वासवदत्ता—आश्चर्य! आश्चर्य!!

विदूषकः—(अपवार्य।) आः दासीएपुत्तो इन्दजालिअ किं एदेहिं देवेहिं अच्छराहिं च दंसिदाहिं। जइ दे इमिणा परितुठ्ठेण कज्जं ता साअरिअं दंसेहि। (आः दास्याः पुत्र ऐन्द्रजालिक किमेतैर्देवैरप्सरोभिश्च दर्शितैः। यदि तेऽनेन परितुष्टेन कार्यं तत्सागरिकां दर्शय।)

(ततः प्रविशति वसुन्धरा।)

वसुन्धरा—(राजानमुपसृत्य।) जेदु जेदु भट्टा। अमच्चो जोअन्धराअणो विण्णवेदि—एसो क्खु विक्कमबाहुणो पहाणामच्चो वसुभूदी बब्भव्वेण कञ्चुइण अह आगदो। ता अरुहदि देवो इमस्सि ज्जेव सुन्दरमुहुत्तए पेक्खिदुम्। अहंपि कज्जसेसं समापिअ आगदो एव्वत्ति। (जयतु जयतु भर्ता। अमात्यो यौगन्धरायणो विज्ञापयति—एष खलु विक्रमबाहोः प्रधानामात्यो वसुभूतिर्बाभ्राव्येण कञ्चुकिना सहागतः। तदर्हति देवोऽस्मिन्नेव सुन्दरमुहूर्ते पेक्षितुम्। अहमपि कार्यशेषं समाप्यागत एवेति।)

वासव०—अज्जउत्त चिठ्ठदु दाव इन्दआलं। माउलघरादो पहाणामच्चो वसुभूदी आगदो। तं दाव पेक्खदु अज्जउत्तो। (आर्यपुत्र तिष्ठतु तावदिन्द्र...

'दास्याः पुत्र इति प्रयोगे' 'षष्ठ्या आक्रोशे' इत्यलुक्। आक्रोशश्चानभी... तत्तत्सुरदर्शनजन्मा। यदि तेऽनेन परितुष्टेन कार्यम् = यदि त्वमिमं परितोषयि... मिच्छसि, तदेव च तवोद्देश्यमुचितं तथा सत्येवार्थलाभसम्भवात्।

विक्रमबाहोः = सिंहलेश्वरस्य तदाख्यस्य राज्ञः। प्रधानामात्यः = मुख्यमन्त्री सुन्दरमुहूर्त्ते = सुसमये। कार्यशेषम् = कर्त्तव्यराजकार्यविशेषम्।

तिष्ठतु = विरतो भवतु। मातुलगृहात् = मन्मातुलस्य सिंहलेश्वरस्य गृहा...

विदूषक—(छिपाकर) अरे बेवकूफ ऐन्द्रजालिक, देवी देवता और अप्सराओं... दिखाकर क्या करोगे? यदि तुम इन्हें रिझाना चाहते हो तो सागरिकाको दिखाओ।

(वसुन्धराका प्रवेश)

वसुन्धरा—(राजाके पास आकर) जय हो महाराजकी, अमात्य यौगन्धरायणने निवेदन किया है कि—यह विक्रमबाहुके प्रधानामात्य वसुभूति इस कञ्चुकी बाभ्रव्यके साथ पधारे हैं। महाराज उन्हें इसी सुन्दर मुहूर्त्तमें दर्शन दें। मैं भी शेष कार्य समाप्त करके आ ही रहा हूँ।

वासवदत्ता—महाराज, तब तक इन्द्रजाल बन्द रहे। मामाके यहाँसे प्रधा...

जालम्। मातुलगृहात्प्रधानामात्यो वसुभूतिरागतः तं तावत्प्रेक्षतामार्यपुत्रः।)

राजा—यथाह देवी। (ऐन्द्रजालिकं प्रति।) भद्र विश्रम्यतामिदानीम्।

ऐन्द्रजालिकः—जं देवो आणवेदि। एक्को उण मह खेलओ अवस्सं देवेण पेक्खिदव्वो। (यद् देव आज्ञापयति। (पुनः पिच्छिकां भ्रमयति।) (निष्क्रामन्।) एकः पुनर्मम खेलोऽवश्यं देवेन प्रेक्षितव्यः।)

राजा—भद्र द्रक्ष्यामः।

वासव०—कञ्चणमाले गच्छ तुमं देहि से पारितोसिकम्। (काञ्चनमाले गच्छ त्वं देह्यस्य पारितोषिकम्।)

काञ्चन०—जं देवी आणवेदि। (यद् देव्याज्ञापयति।) (ऐन्द्रजालिकेन सह निष्क्रान्ता।)

राजा—वसन्तक, प्रत्युद्गम्य प्रवेश्यतां वसुभूतिः।

विदू०—जं देवो आणवेदि। (यद् देव आज्ञापयति।) (इति वसुन्धरया सह निष्क्रान्तः।)

सिंहलात्। प्रेक्षताम् = दर्शनदानेन संभावयतु, सम्बन्धिराजमन्त्रिसत्कारस्य सम्बन्धिसत्काररूपत्वात्तस्य चानुपेक्ष्यकार्यत्वादिति भावः।

यथाह देवी = युक्तमुक्तम् भवत्या, यथा भवती प्राह तथैव वस्तुस्थितिरतस्तथा कुर्वे इत्याशयः। विश्रम्यताम्=विश्रामः क्रियताम्, एतेनेन्द्रजालकार्यस्य विरतिरादिष्टा।

अस्य = ऐन्द्रजालिकस्य, पारितोषिकम् = प्रसादचिह्नं धनादि। अत्र सम्प्रदानस्य शेषत्वविवक्षायां षष्ठी।

प्रत्युद्गम्य = आदरसूचनार्थमग्रे गत्वा सहभूय।

मन्त्री वसुभूति आये हैं, आप उन्हें दर्शन दें।

राजा—अच्छी बात है। (ऐन्द्रजालिकसे) तुम कुछ देर तक विश्राम कर लो!

ऐन्द्रजालिक—महाराजकी जो आज्ञा। (पुनः पिच्छिका घुमाता है) (जाता हुआ) हमारा एक खेल और श्रीमान् को अवश्य देखना होगा।

राजा—देखूंगा।

वासवदत्ता—काञ्चनमाले, जाओ इसे इनाम दिलवाओ।

काञ्चनमाला—महारानी जी की जो आज्ञा। (ऐन्द्रजालिकके साथ प्रस्थान)

राजा—वसन्तक, अगवानी करके वसुभूतिको बुला लाओ।

विदूषक—जो आज्ञा। (वसुन्धराके साथ प्रस्थान)

(ततः प्रविशति वसन्तकेनानुगम्यमानो वसुभूतिर्बाभ्रव्यश्च ।)

वसुभूतिः—(समन्तादवलोक्य ।) अहो वत्सेश्वरस्यानुभावः । इह हि-

आक्षिप्तो जयकुञ्जरेण तुरगान्निर्वर्णयन्वल्लभा-
न्संगीतध्वनिना हृतः क्षितिभृतां गोष्ठीषु तिष्ठन्क्षणम् ।
सद्यो विस्मृतसिंहलेन्द्रविभवः कक्षाप्रदेशेऽप्यहो
द्वाःस्थेनैव कुतूहलेन महता ग्राम्यो यथाहं कृतः ॥ १२ ॥

वत्सेश्वरस्य = उदयनस्य । अनुभावः = प्रभावः, तथा च भारविः—'तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया निगूढतत्त्वं नयवर्त्म विद्विषाम्' इति ।

आक्षिप्त इति । वल्लभान् गुणगौरवेण रूपप्रकर्षेण च राज्ञः प्रियतमान् तुरगान् राजाश्वान् निर्वर्णयन् निपुणं निरीक्षमाणः अहम् जयकुञ्जरेण जयस्य कुञ्जरः हस्ती तेन गन्धमादनद्विपेनेत्यर्थः, आक्षिप्तः आकृष्टः, मनोज्ञवाजिराजबद्धदृष्टिरहं मनोज्ञतरकुञ्जरेणाकृष्टदृष्टिरस्मीत्यर्थः । एतेन राज्ञस्तुरगकुञ्जरकुलयोरन्योन्यसौन्दर्यस्पर्द्धयाऽतिशयसौन्दर्यवत्ता व्यक्तीकृता । कुञ्जः हस्तिहनुस्तद्दन्तो वाऽस्यास्तीति कुञ्जरः, 'खमुखकुञ्जेभ्यः' इति मत्वर्थीयो रप्रत्ययः । जयकुञ्जरविषयेऽन्यत्रोक्तम्—'यस्य गन्धं समाघ्राय न तिष्ठन्ति प्रतिद्विपाः । तं गन्धहस्तिनं प्राहुर्नृपतेर्विजयावहम्' ॥ इति । क्षितिभृताम् वत्सेश्वरोपासनार्थम् आगतानाम् अवनिपालानाम् गोष्ठीषु मण्डलेषु क्षणम् किञ्चित्कालपर्यन्तम् तिष्ठन् वर्त्तमानः सङ्गीतध्वनिना गीतस्वरेण हृतः बलादिवाकृष्टः । यावदहं वत्सेश्वरसभासमागतराजपरिषदि क्षणं तिष्ठामि तावदेव सङ्गीतमाधुर्येणाकृष्टोऽभवमिति भावः । एतेन राज्ञो मण्डलेश्वरत्वं कलाप्रियत्वं चावेदितम् । अहो इत्याश्चर्ये । एवम् कक्षाप्रदेशं बहिःप्रकोष्ठे (वर्त्तमानः) सद्य तत्कालम् विस्मृतसिंहलेन्द्रविभवः ध्यानापगतसिंहलेश्वरसमृद्धिः अहम् द्वारि द्वारदेशे तिष्ठतीति द्वाःस्थम् तेन द्वारदेशे समुत्पद्यमानेन एव महता कुतूहलेन

(वसन्तकके साथ वसुभूति और बाभ्रव्यका प्रवेश)

वसुभूति—(चारों ओर देखकर) वत्सेश्वरका कैसा प्रभाव है ! यहाँ—

मतवाले हाथियों पर आकृष्ट मेरी दृष्टिको घोड़े अपनी ओर खींचते हैं, कभी मैं संगीत-लहरीमें गोते लगाता हूँ और कभी राजगोष्ठीका आनन्द लेता हूँ । इन बाहरी कमरोंको देखनेसे ही मुझे सिंहलेश्वरकी समृद्धि भूलती जा रही है । मैं तो यहाँकी तड़क-भड़कमें गंवई गांवका आदमी हो रहा हूँ ॥ १२ ॥

बाभ्रव्य—वसुभूते अद्य खलु चिरात्स्वामिनं द्रक्ष्यामीति यत्सत्यमानन्दातिशयेन किमप्यवस्थान्तरमनुभवामि। कुतः—

विवृद्धिं कम्पस्य प्रथयतितरां साध्वसवशा-
दविस्पष्टां दृष्टिं तिरयतितरां बाष्पपटलैः।
स्खलद्वर्णां वाणीं जडयतितरां गद्गदतया
जरायाः साहाय्यं मम हि परितोषोऽद्य कुरुते॥ १३॥

कुत एतावती समृद्धिरिति कौतुकेन ग्रामें भवः ग्राम्यः यथा (तथा) कृतः। नगरं गतः ग्राम्यः प्रथमप्रथमं नगरवैभवं निरीक्ष्य यथा कुतुकितान्तरङ्गतया विस्फारितदृष्टिर्जायते तथैवाहमेतदीयविभवं विलोक्य सञ्जातोऽस्मि, सा चेयं मम दशा कक्षाप्रकोष्ठे एव सतो राजाध्युषितप्रकोष्ठप्रवेशे त्वितोऽप्यधिकं वैलक्ष्यं सम्भाव्यत इति भावः। उदात्तालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ १२॥

चिरात् = चिरमतियाप्य, बहोः कालादनन्तरम् इति भावः, ल्यब्लोपे पञ्चमी। आनन्दातिशयेन = हर्षातिरेकेण। किमपि = अनिर्वचनीयम्, अवस्थान्तरम् = अन्यावस्थाऽवस्थान्तरम्, मयूरव्यंसकादिः।

विवृद्धिमिति। अद्य मम परितोषः सम्भाव्यमानस्वामिदर्शनजन्माऽऽनन्दातिरेकः जरायाः वार्द्धकस्य साहाय्यम् सहायतामिव करोति हि यतः साध्वसवशात् राजपुरोगमनसम्भविभयहेतोः कम्पस्य वेपथोः विवृद्धिम् अधिकताम् प्रथयतितराम् बहु वर्धयति। बाष्पपटलैः आनन्दाश्रुप्रवाहैः अविस्पष्टाम् मन्दाम् दृष्टिम् दर्शनसामर्थ्यम् तिरयतितराम् अन्तर्दधाति। तिरश्शब्दात्तत्करोतीति णिच्, (किञ्च) स्खलन्तः अविस्पष्टम् निर्गच्छन्तः वर्णाः अक्षराणि यस्याम् तां स्खलद्वर्णाम् अस्फुटाक्षराम् वाणीम् गिरम् गद्गदतया गद्गदभावेन वाक्स्खलनेन जडयतितराम् अतिशयेन जडयति। अयमाशयः, चिराद्राजानं वीक्षमाणस्य ममायमानन्दो मदीयां जरां सहायतया द्विगुणयति, तथाहि जरावस्थायां कम्पदृष्टिमान्द्यवाक्स्खलनानि स्वभावत

बाभ्रव्य—वसुभूति, आज बहुत दिनों पर मुझे प्रभुके दर्शन होंगे, अतः मैं एक दूसरी ही स्थिति का अनुभव कर रहा हूँ। क्योंकि—

यहाँ आनेकी यह प्रसन्नता हमारी वृद्धावस्थाकी सहायता कर रही है, भयवश मेरी देहका काँपना बढ़ गया है, आँखोंकी ज्योति यों ही कम हो रही थी, उसे इन आनन्दाश्रुओंने एकदम घटा दिया है, हर्षसे गद्गद होनेके कारण मेरी वाणी स्पष्ट नहीं हो पा रही है॥ १३॥

विदूषकः—(अग्रे भूत्वा।) एदु एदु अमच्चो। (एत्वेत्वमात्यः।)

वसुभू०—(विदूषकस्य कण्ठे रत्नमालां दृष्ट्वाऽपवार्य।) बाभ्रव्य जाने सैवेयं रत्नमाला या देवेन राजपुत्र्यै प्रस्थानकाले दत्ता।

बाभ्रव्यः—अमात्य अस्ति सादृश्यम्। तत्किं वसन्तकं पृच्छामि प्राप्तिमस्याः।

वसुभू०—बाभ्रव्य मा मैवम्। महति राजकुले रत्नबाहुल्यान्न दुर्लभो भूषणानां संवादः (इति परिक्रामति।)

एव भवन्ति, तत्रायमानन्दोऽतिशयमुत्पाद्य मन्ये तत्साहाय्यमाचरतीति। तिसृष्वपि क्रियासु तिङन्तात्तरप्, ततश्चाम्। अत्र प्राक् सिद्धस्य जरोत्पन्नकम्पादेः परितोषजन्यसाध्वसादिना गुणोत्कर्षवर्णनादनुगुणालङ्कारः, तथा च तल्लक्षणम्—'प्राक् सिद्धस्वगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसन्निधेः' इति। शिखरिणी वृत्तम्॥ १३॥

देवेन = सिंहलेश्वरेण विक्रमबाहुना। राजपुत्र्यै = सागरिकायै। प्रस्थानकाले= प्रयाणसमये। अत्र वासवदत्ता लावाणके दग्धेति प्रतीत्य वत्सेश्वरेण सह सम्बन्धं तिष्ठापयिषुणा सिंहलेश्वरेण स्वामात्येन वत्सेश्वरकञ्चुकिना बाभ्रव्येण च सह स्वदुहिता सागरिका वत्सेश्वराय प्रतिपादयितुं प्रेषिता, तत्प्रयाणसमये च तस्याः कण्ठे रत्नमालाऽर्पितेयं च सैव रत्नमाला जीवितनिराशया सागरिकया कस्मैचिद् ब्राह्मणाय दातुं सुसङ्गतायै दत्ता तया च विदूषकायेत्यन्तःकथोन्नेया।

प्राप्तिम् = अधिगमम्, अस्याः = रत्नमालायाः।

मा मैवम्=नैवं प्रश्नः कर्त्तव्यः, सम्भ्रमे द्विरुक्तिः स चात्यन्तनिषेधपर्यवसायी। महति = श्रेष्ठे। रत्नबाहुल्यात् = मणिगणाधिक्यात्। संवादः = सादृश्यम्। अतो भूषणसंवादेन तदधिगमप्रश्नस्तदीयं दुर्लभत्वं व्यञ्जयन्नस्य राजकुलस्य रत्नवैकल्यं प्रतीक्षितं कुर्वन्निदमीयमपमानं व्यञ्जयेदतस्तादृशः प्रश्नस्त्वया कथमपि न कर्त्तव्य इति भावः।

विदूषक—(आगे होकर) अमात्यप्रवर, पधारिये।

वसुभूति—(विदूषकके गलेमें माला देखकर) बाभ्रव्य, मालूम पड़ता है यह वही रत्नमाला है जो राजपुत्रीको प्रस्थानकालमें दी गई थी।

बाभ्रव्य—अमात्यवर, तुलना तो है। तब क्या वसन्तकसे इसके विषयमें पूछूं।

वसुभूति—नहीं नहीं। इस महान् राजकुलमें रत्नोंकी क्या कमी है, सादृश्य होना बहुत संभव है। (आगे बढ़ता है)

विदू०—भो एसो क्खु महाराओ । ता उपसप्पदु अमच्चो । (भो एष खलु महाराजः । तदुपसर्पत्वमात्यः ।)

वसु०—(उपसृत्य ।) विजयतां महाराजः ।

राजा—(उत्थाय ।) आर्य अभिवादये ।

वसु०—आयुष्मान्भव ।

राजा—आसनमासनमार्याय ।

विदू०—एदं आसणम् । उपविसदु अमच्चो । (एतदासनम् । उपविशत्वमात्यः ।)

(वसुभूतिरुपविशति ।)

बाभ्रव्यः—देव बाभ्रव्यः प्रणमति ।

राजा—(पृष्ठे हस्तं दत्त्वा ।) बाभ्रव्य इत आस्यताम् ।

(बाभ्रव्य उपविशति ।)

विदू०—अमच्च एसा देवी वासवदत्ता पणमदि । (अमात्य एषा देवी वासवदत्ता प्रणमति ।)

उत्थाय = उत्थितः सन्, तथाकरणञ्च वसुभूतेर्वृद्धतया सम्बन्धिश्रेष्ठमन्त्रितया चोपयुक्तम् ।

पृष्ठे हस्तं दत्त्वा = तथाकरणं स्नेहादरं सूचयितुम् ।

विदूषक—यहीं महाराज हैं, आप पधारें ।

वसुभूति—(पास जाकर) महाराजकी जय हो ।

राजा—(उठकर) आर्य, अभिवादन करता हूँ ।

वसुभूति—महाराज चिरायु हों ।

राजा—मन्त्रिप्रवर, आसनपर विराजिये ।

विदूषक—यह आसन है, मन्त्रिप्रवर विराजिये ।

(वसुभूति बैठता है)

बाभ्रव्य—देव, बाभ्रव्यका प्रणाम स्वीकृत हो ।

राजा—(पीठ सहलाकर) बाभ्रव्य, इधर बैठो ।

(बाभ्रव्य बैठता है)

विदूषक—मन्त्रिप्रवर, देवी वासवदत्ता प्रणाम करती हैं ।

वासव०—अज्ज पणमामि। (आर्य प्रणमामि।)

वसुभू०—आयुष्मति वत्सराजसदृशं पुत्रमाप्नुहि।

(सर्वे उपविशन्ति।)

राजा—आर्य वसुभूते अपि कुशलं तत्रभवतः सिंहलेश्वरस्य।

वसुभू०—(ऊर्ध्वमवलोक्य निःश्वस्य च।) देव न जाने किं विज्ञापयामि। (अधोमुखस्तिष्ठति।)

वासव०—(सविषादमात्मगतम्।) हद्धी हद्धी। किं दाणिं वसुभूदी कधइस्सदि। (हा धिक् हा धिक्। किमिदानीं वसुभूतिः कथयिष्यति।)

राजा—कथय किमेतत्। आर्य आकुल इव मेऽन्तरात्मा।

बाभ्रव्यः—(अपवार्य।) अमात्य चिरमपि स्थित्वा कथनीयम्। तत्कथ्यताम्।

न जाने किं विज्ञापयामि = कुशलम् अकुशलम् वा मम भर्त्तुरिति न जाने तत् किं निवेदयामि ? अयमत्राभिसन्धिः वासवदत्ता दग्धेति प्रवादः सा जीवति च, किञ्च वसुभूतिना सहागच्छन्ती सागरिका नाम सिंहलेश्वरदुहिता यानभङ्गान्निमग्नेति तदपायः, अथ तद्धृतरत्नमालाया अत्रोपलब्धिरिति तदुज्जीवनाशा। तदयं संशयदोलामधिरूढः सिंहलेश्वरकुशलसमाचार इति मन्त्रिभाषितहृदयम्। अधोमुखस्तिष्ठति = तथाकरणञ्च खेदं व्यञ्जयति।

आकुलः—तद्वृत्तान्तश्रवणेच्छाव्याकुलः।

चिरमपि स्थित्वा कथनीयम् = कियत्कालं विलम्ब्यापि वक्तव्यम्, सर्वथोपेक्षा

वासवदत्ता—आर्य, प्रणाम।

वसुभूति—आयुष्मति, वत्सराजके सदृश पुत्रको प्राप्त करो।

(सभी बैठते हैं)

राजा—मन्त्रिप्रवर, महाराज सिंहलेश्वरके यहाँ सब कुशल तो है ?

वसुभूति—(ऊपर देखकर और उसांस भरकर) देव, नहीं समझता, क्या कहूँ।

(सिर झुकाता है)

वासवदत्ता—(विषादपूर्वक स्वगत) न जाने वसुभूति क्या कहेंगे ?

राजा—कहिये क्या बात है ? मेरी आत्मा आकुल हो रही है।

बाभ्रव्य—(छिपा कर) अमात्य, जब कुछ ठहर कर भी कहना है तो कहिये।

वसु०—(सास्रम् ।) देव न शक्यं निवेदयितुं तथाप्येष कथयामि मन्दभाग्यः । यासौ सिंहलेश्वरेण स्वदुहिता रत्नावली नाम आयुष्मतीं वासवदत्तां दग्धामुपश्रुत्य देवाय पूर्वं प्रार्थिता सती दत्ता—

राजा—(अपवार्य ।) देवि किमेतदलीकमेव त्वन्मातुलामात्यः कथयति ।

वासव०—(स्मित्वा ।) अज्जउत्त ण जाणीअदि को अलिअं मन्तेदित्ति । (आर्यपुत्र न ज्ञायते कोऽलीकं मन्त्रयत इति ।)

त्वस्य नैव सम्भवति तदलं विलम्बेन राज्ञः समधिकोत्कण्ठानिवारणस्यावश्यकर्त्तव्यत्वादिति भावः ।

पूर्वम् प्रार्थित्ता = वासवदत्ताजीवनकाले याचिता । अत्रेदमूहनीयम् , वासवदत्तायां जीवत्त्यामयं राजा स्वयं सागरिकाया याचनां न करिष्यति, सागरिकापरिणेत्रैव च चक्रवर्त्तित्वमधिगन्तव्यमिति मनसिकृत्य यौगन्धरायणो राजानमपृष्ट्वैव वत्सराजाय सागरिकापितरं तामयाचत, स च वासवदत्ताया मनःखेदो माभूदिति तथा नान्वमन्यत, ततः प्रयत्नान्तरसचिन्तो यौगन्धरायणो वासवदत्ता दग्धेति प्रतीतिं जनयामास, तया च दुःखितोऽपि सिंहलेश्वरः पूर्वसम्बन्धोच्छेदापाचिकीर्षया सागरिकां वत्सराजाय प्राहिणोदिति ।

अलीकम् = असत्यम् ।

स्मित्वा = तच्च राज्ञः सिंहलेश्वरकन्यानुरागश्रवणेन तच्चापलोपहासव्यञ्जनाय । कोऽलीकं मन्त्रयते = त्वं वसुभूतिर्वेति, तवापि शक्यतेऽन्यत्रानुरागः, सोऽपि मिथ्या वदेत्परं त्वमेवाधिकाविश्वासभाजनम् , अचिरदृष्टश्च तव सागरिकानुराग इति मन्त्री सत्यवाक् त्वमेवासत्यभाषी, सत्यमेव त्वया सा प्रार्थितेति भावः ।

वसुभूति—(आंसू बहाकर) देव, कहा नहीं जाता, फिर भी मुझ अभागेको कहना ही पड़ रहा है । सिंहलेश्वरने जिस अपनी पुत्री रत्नावलीको वासवदत्ता आगमें जल गयी ऐसा सुनकर प्रार्थनोपरान्त आपके पास भेजा था···

राजा—(छिपा कर) देवि, यह तुम्हारे मामाका मन्त्री क्या अनाप सनाप बक रहा है ?

वासवदत्ता—(हंसकर) आर्यपुत्र, मैं नहीं समझती, कौन मिथ्या कह रहा है ।

विदू०—तदो ताए किं वुत्तम् । (ततस्तस्याः किं वृत्तम् ।)

वसु०—सा च युष्मदन्तिकमानीयमाना यानभङ्गात्सागरे निमग्ना। (इति रुदन्नधोमुखस्तिष्ठति ।)

वासव०—(सास्रम् ।) हा हदम्हि मन्दभाइणी । हा बहिणि रअणावलि कहिं दाणिं सि । देहि मे पडिवअणम् । (हा हतास्मि मन्दभागिनी। हा भगिनि रत्नावलि कुत्रेदानीमसि । देहि मे प्रतिवचनम् ।)

राजा—देवि समाश्वसिहि समाश्वसिहि । दुरवगाहा गतिर्दैवस्य । यानभङ्गपतितोत्थितौ नन्वेतावेव ते निदर्शनम् (इति वसुभूतिबाभ्रव्यौ दर्शयति ।)

वासव०—अज्जउत्त जुज्जदि एदं । परं कुतो मम एत्तिअं भाअहेअम् । (आर्यपुत्र युज्यत एतत् । परं कुतो ममैतावद्भागधेयम् ।)

रुदन्नधोमुखस्तिष्ठति = तथाकरणञ्च तदनन्तरवृत्तान्तस्य वाचा प्रकाशयितुमशक्यतां प्रकाशयितुम् । प्रतिवचनम् = उत्तरम् ।

दुरवगाहा = दुर्विज्ञेया, दुःखेन अवगाहो यस्याः सा तादृशीति विग्रहः । यानभङ्गपतितोत्थितौ = यानभङ्गात्समुद्रे पतितौ, भाग्यवशात्कुतोऽपि कारणविशेषात्ततो निष्क्रान्तौ चेत्यर्थः । एतौ = वसुभूतिबाभ्रव्यौ । निदर्शनम् = दृष्टान्तत्वेन ज्ञेयौ । निदर्शनशब्दस्याजहल्लिङ्गवचनकतया प्रयोगोऽन्यत्रापि दृश्यते, यथा रघुवंशे—'हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता' इति । अयमत्र राजाभिप्रायः रत्नावली नाम तव भगिनी समुद्रे पतितैतावतैव तस्या मृत्युं मा निश्चैषीः, विस्मो हि भाग्यपरिणामः, अतः सा निर्गत्य जीवन्त्यपि संभाव्यते, यथेमावेव वसुभूतिबाभ्रव्याविति ।

एतत् = भाग्यबलात्समुद्रपतितस्य जीवनम् । भागधेयम् भाग्यम् । येन मम भगिनी समुद्रादुन्मज्जेदिति भावः ।

विदूषक—तब, उसका क्या हुआ ?

वसुभूति—वह आपके यहां लाई जा रही थी, इतनेमें समुद्रके बीचमें बेड़ेके डूब जानेसे डूब गई । (रोता हुआ मुंह नीचा कर लेता है)

वासवदत्ता—(आंसूके साथ) हा अभाग्य, हा बहन रत्नावली, तुम कहां गई ? मुझे उत्तर दो ।

राजा—देवि, धीरज धरो । भाग्यकी गति जानी नहीं जाती, इसका दृष्टान्त ये ही दोनों हैं जो डूबकर भी बच गये । (वसुभूति और बाभ्रव्यकी ओर संकेत करता है)

वासवदत्ता—यह तो ठीक है, पर हमारे इतने बड़े भाग्य कहां ?

(नेपथ्ये महान्कलकलः ।)

हर्म्याणां हेमशृङ्गश्रियमिव निचयैरर्चिषामादधानः
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः ।
कुर्वन्क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं धूमपातै—
रेष प्लोषार्तयोषिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्निः ॥१४॥

अपि च ।

देवीदाहप्रवादोऽसौ योऽभूल्लावाणके पुरा ।
करिष्यन्निव तं सत्यमयमग्निः समुत्थितः ॥ १५ ॥

हर्म्याणामिति । अर्चिषाम् ज्वालानाम् निचयैः सङ्घातैः हर्म्याणाम् राजप्रासादानाम् हेमशृङ्गश्रियमिव सुवर्णरचितशिखरशोभामिव आदधानः । ज्वालाभिर्नृपतिप्रासादानाक्रम्य तान् सुवर्णरचितशृङ्गभागानिव दर्शयन्नित्यर्थः । सान्द्राणाम् घनानाम् उद्यानद्रुमाणाम् पुष्पवाटिकातरूणाम् अग्राणि ऊर्ध्वभागाः तेषाम् ग्लपनेन म्लानतासम्पादनेन पिशुनितः सूचितः अत्यन्ततीव्रः अतिविषमः अभितापः सर्वतः प्रसारी ऊष्मा यस्य तादृशः । घनोद्यानवृक्षोर्ध्वभागम्लानिप्रमापितप्रसारिसन्ताप इत्यर्थः । (पुनश्च) धूमपातैः धूमाविर्भावैः क्रीडामहीध्रम् क्रीडाशैलम् जलेन सहितः सजलः स चासौ जलधरः मेघः सजलजलधरः तमिव श्यामलम् कृष्णवर्णम् कुर्वन् विदधत् । धूमोद्गमेन राजोद्यानस्थायिनं क्रीडाशैलं सद्यः सम्भृतजलजलधरश्यामवर्णं विदधान इत्यर्थः । प्लोषेण दाहेन आर्त्तः पीडितः योषिज्जनः स्त्रीसमूहो यस्मात्स प्लोषार्त्तयोषिज्जनः सन्तापकदर्थितराजान्तःपुरवर्त्तिवनितासमुदायः एषः पुरोदृश्यमानज्वालाजालः इह अन्तःपुरे सहसा अतर्कितम् एव उत्थितः प्रकटितः । आद्यपाद उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । भयानकोऽत्र रसः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ १४ ॥

देवीति । पुरा लावाणके तदाख्ये ग्रामे देव्याः वासवदत्तायाः यः दाहप्रवादः

(नेपथ्यमें जोरोंका कोलाहल)

आगकी लपटोंसे ऐसा मालूम पड़ रहा है जैसे राज-प्रसादोंके शिखर सोनेके बने हों, उद्यानवृक्षोंको मुरझा देनेसे उसकी तीव्रता प्रकटित हो रही है, क्रीडा-पर्वतों पर फैली हुई उसकी धूमराशि काले बादलोंके सदृश दीख पड़ती है । भयसे स्त्रियाँ आर्त्तनाद कर रही हैं । अन्तःपुरमें अकस्मात् आग लग गई है ॥ १४ ॥

लावाणकग्राममें देवी वासवदत्ता आगमें जल गयी यह जो अफवाह फैली थी. मालूम पड़ता है उसे ही सत्य करनेके लिये यह आग उपस्थित हुई है ॥१५॥

(सर्वे सम्भ्रान्ताः पश्यन्ति ।)

राजा—(ससंभ्रममुत्थाय ।) कथमन्तःपुरेऽग्निः । कष्टं देवी वासवदत्ता दग्धा । हा प्रिये वासवदत्ते ।

वासव०—अज्जउत्त परित्ताहि परित्ताहि । (आर्यपुत्र परित्रायस्व परित्रायस्व ।)

राजा—अये कथमतिसंभ्रमादिहस्थापि देवी नोपलक्षिता । देवि समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

वासव०—अज्जउत्त मए अत्तणो किदे ण भणिदम् । एसा क्खु मए णिग्घिणाए इध निअडेण संजमिदा साअरिआ विवज्जदि । ता तं परित्ताअदु अज्जउत्तो । (आर्यपुत्र मयात्मनः कृते न भणितम् । एषा खलु मया निर्घृणयेह निगडेन संयमिता सागरिका विपद्यते । तत्तां परित्रायतामार्यपुत्रः ।)

देवी दग्धेति मिथ्याख्यातिः अभूत् अवस्तुत्वेऽपि सञ्जातः तम् देवीदाहप्रवादम् सत्यम् यथार्थम् करिष्यन्निव कर्त्तुकाम इव अयम् अग्निः समुत्थितः उद्गतः । अन्योऽपि कश्चित्स्वविषये जातं प्रवादं यथार्थभावे परिणमयितुमुद्यच्छति तद्वदयं वह्निः लावाणके देवी दग्धेति प्रवादस्य सम्प्रति देवीं दग्ध्वा यथार्थतां कर्त्तुमुद्गत इति भावः ॥ १५ ॥

देवी वासवदत्ता दग्धा = अयं राज्ञो भ्रमः, स च 'देवीदाहप्रवादः' इत्यादि-पूर्वोक्तपद्यश्रवणानन्तरजायमानबौद्धदेवीदाहसम्भवकृतो बोध्यः ।

अतिसम्भ्रमात् = महत आवेगात् । इहस्थापि = वामभागस्थिताऽपि उपलक्षिता = दृष्टा ।

न भणितम् = त्रायस्वेति यद् भणितं मया तन्न स्वविषये, किन्त्वन्यजनविषय

(सभी घबड़ाकर देखते हैं)

राजा—(घबड़ाकर, उठकर) क्या अन्तःपुरमें आग लग गई है ? क्या देवी वासवदत्ता जल गई । हा प्रिये वासवदत्ते !!

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, बचाइए बचाइए ।

राजा—घबड़ाहटके कारण यहाँ मौजूद होनेपर भी देवीपर हमारी दृष्टि नहीं पड़ी । देवी, धीरज धरो ।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र मैं अपने लिये नहीं कह रही हूँ । मैंने निर्दय होकर सागरिकाको बन्धनमें डाल रखा है, वह जली जाती है, आप उसकी रक्षा करें ।

राजा—कथं देवि सागरिका विपद्यते। एष गच्छामि।

वसु०—देव किमकारणमेवं पतंगवृत्तिः क्रियते।

बाभ्रव्यः—देव युक्तमाह वसुभूतिः।

विदू०—(राजानमुत्तरीये गृहीत्वा।) वअस्स मा क्खु एव्वं साहसं करेहि। (वयस्य मा खल्वेवं साहसं कुरु।)

राजा—(उत्तरीयमुत्सृज्य।) धिङ् मूर्ख सागरिका विपद्यते। किमद्यापि प्राणा धार्यन्ते। (इति ज्वलनप्रवेशं नाटयित्वा धूमाभिभवं नाटयन्।)

विरम विरम वह्ने मुञ्च धूमानुबन्धं
प्रकटयसि किमुच्चैरर्चिषां चक्रवालम्।

इत्यर्थः। निर्घृणया = दयाशून्यया। निगडेन = शृङ्खलया (पादावरोधकारिण्या) संयमिता = सन्दानिता, बद्धा। विपद्यते = वह्निहोमीभवति।

पतङ्गवृत्तिः = पतङ्गवदग्नौ पातात् स्वशरीरनाशः।

युक्तमाह वसुभूतिः = इदं भवदीयमग्न्यभिमुखधावनं शलभस्याग्नौ पतनमिव प्राणनाशमात्रफलमस्मान्नेदं कर्त्तव्यमिति वसुभूत्युक्तं सर्वथा सङ्गतमित्यर्थः।

उत्तरीये गृहीत्वा = उत्तरीयावच्छेदेनावलम्ब्य। एतेन विदूषकस्य राज्ञा सह विश्रम्भव्यवहारो व्यज्यमानस्तयोरान्तरं प्रेम गमयति।

विपद्यते = अग्नौ दह्यते। धार्यन्ते = अवस्थाप्यन्ते, एतेन राज्ञः सागरिकायामनुरागप्रकर्ष उक्तः।

विरम विरमेति। हे वह्ने, विरम विरम झटिति स्वप्रसरणं सङ्कोचय। धूमानुबन्धम् धूमविस्तारम् मुञ्च अपसारय। उच्चैः उच्चगामि अर्चिषाम् ज्वालानाम्

राजा—देवि, क्या सागरिका जल रही है ? तो यह मैं चला।

वसुभूति—देव, क्यों नाहक जलने जारहे हैं ?

बाभ्रव्य—महाराज, वसुभूति ठीक कह रहे हैं।

विदूषक—(राजाकी चादर पकड़कर) मित्र, ऐसा साहस मत कीजिये।

राजा—(उत्तरीय छोड़कर) धिक्कार है तुझ मूर्खको। सागरिका जलरही है, क्या अब भी प्राण रखें।

(ज्वालामें प्रवेशका अभिनय, धुएसे कष्टका अभिनय)

अग्नि ! तुम ठहरा, अपनी धूमराशिको समेटो, ये लपटें क्यों प्रकट कर रही

विरहहुतभुजाऽहं यो न दग्धः प्रियायाः
प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि ॥ १६ ॥

वासव०—कधं मम दुक्खभाइणीए वअणादो एव्वं अज्झवसिदं अज्जउत्तेण। ता अहंपि अज्जउत्तं एव्व अणुगमिस्सम्। (कथं मम दुःखभागिन्या वचनादेवमध्यवसितमार्यपुत्रेण। तदहमप्यार्यपुत्रमेवानुगमिष्यामि।)

विदू०—(परिक्रामन्नग्रतो भूत्वा।) भोदि अहं वि दे पथोवदेसओ होमि। (भवति अहमपि ते पथ्युपदेशको भवामि।)

वसु०—कथं प्रविष्ट एव ज्वलनं वत्सराजः। तन्ममापि दृष्टराजपुत्रीविपत्तेरिहैव युक्तमात्मानमाहुतीकर्तुम्।

चक्रवालम् मण्डलम् किम् किमर्थम् प्रकटयसि आविष्करोषि। ननु त्वद्दाह एवास्यार्चिःप्रकटनस्योद्देश्यमस्त्वति शङ्कां वारयति—विरहेति। प्रलयदहनभासा प्रलयकालिकवह्निसमानार्चिषा प्रियायाः सागरिकायाः विरहः वियोगः एव हुतं भुङ्क्ते इति हुतभुक् अग्निः तेन यः (अहम्) न दग्धः तस्य मम त्वं साधारणवह्निः किं करोषि। प्रलयकाले वह्निरसाधारणतेजसा ज्वलति, तत्समश्च वियोगवह्निः, तेनापि यः सन्ताप्यमानोऽपि न दग्धस्तस्य साधारणवह्निना त्वया किमपि नापकर्त्तुं शक्यमत उचिता तव विरतिरिति भावः। मालिनी वृत्तम् ॥ १३ ॥

एवम् अध्यवसितम् = यथात्मा विपद्यते तथा प्रतिपन्नम्। अनुगमिष्यामि = अनुसरिष्यामि ममैव वचसाऽऽत्मानं विपत्तौ पातयतो निजस्वामिनोऽनुवृत्तिर्मयाऽवश्यं करिष्यते, तथाऽकरणे विश्वासघातप्रसङ्ग इति भावः, पथ्युपदेशकः = मार्गदर्शकः। अग्रेसर इति तात्पर्यम्।

ज्वलनम् = वह्निम्। दृष्टराजपुत्रीविपत्तेः = अवलोकितरत्नावलीनाशस्य। आहुतीकर्त्तुम् = हव्यद्रव्यवदग्नौ प्रक्षेप्तुम्।

हो ? क्या मुझे जलानेके लिये ? जो मैं प्यारीके वियोगाग्निमें, जो कि प्रलयानलके समान थी, नहीं जला उसका तुम क्या बिगाड़ सकती हो ॥ १६ ॥

वासवदत्ता—क्या हमारे ही कहनेपर आर्यपुत्रने अपना जीवन संशयमें डाल दिया ? तो मैं भी उनका साथ दूँ।

विदूषक—(चलकर आगे होकर) मैं भी तुम्हारा पथ-प्रदर्शक रहूँगा।

वसुभूति—क्या वत्सराज, आगमें पैठही गये ? तब तो मैं भी अपनेको इसी आगमें आहुति कर दूँ यही ठीक होगा, क्योंकि हमने राजपुत्रीकी मृत्यु देख ली है।

बाभ्रव्यः—हा दैव किमिदमकारणमेव भरतकुलं संशयतुलामारोपितम्। अथ वा किं प्रलापेन। अहमपि भक्तिसदृशमाचरामि।

(सर्वेऽग्निप्रवेशं नाटयन्ति।)

(ततः प्रविशति निगडसंयता सागरिका।)

साग०—(दिशोऽवलोक्य।) हद्धी समन्तदो पज्जलिदो हुतवहो। अज्ज हुतवहो दिट्ठिआ करिस्सदि मे दुःखावसाणम्। (हा धिक् समन्ततः प्रज्वलितो हुतवहः। (विचिन्त्य सपरितोषम्।) अद्य हुतवहो दिष्ट्या करिष्यति मम दुःखावसानम्।)

राजा—अये इयमासन्नहुतवहा वर्तते सागरिका। तत्त्वरितमेनां

अकारणम् = विनैव हेतुविशेषम्। भरतकुलम् = भरतस्य शाकुन्तलेयस्य कुलं वंशः। संशयतुलामारोपितम् = संदेहे निहितम्, अस्मिन् नृपे मृते भरतवंशस्य लोपः, स चायमग्निं प्रविष्टः, निर्याति न वाऽयं जीवन्नग्नेरिति संशय्यतेऽतो भरतकुलमेव संशयतुलामारूढमिति भावः। भक्तिसदृशम् = स्वामिभक्तेरुपयुक्तम्। आचरामि = करोमि, अग्निं प्रविशामीत्यर्थः।

सर्वे = वासवदत्ता-वसन्तक-वसुभूति-बाभ्रव्याः। निगडसंयता=शृङ्खलाबद्धा। समन्ततः = सर्वासु दिक्षु। हुतवहः = अग्निः, वहतीति वहः प्रापकः, हुतस्य देवतामुद्दिश्य क्षिप्तस्य द्रव्यस्य वहः प्रापकः, वह्निर्हि देवानां मुखमिति रीतिः, तथा च प्रयोगो यथा नैषधीये—'मुखेऽमराणामनले रदावलेरभाजि लाजैरनयोज्झितैर्द्युतिः' इति॥ दिष्ट्या = सुदैववशात्। दुःखावसानम् = दुःखसमाप्तिम्। वह्निना देहे दग्धे दुःखानां समाप्तिः स्यादिति तदाशयः।

'अये' इति विस्मये। आसन्नः समीपस्थः हुतवहः वह्निः यस्याः सा आसन्न-

---

बाभ्रव्य—हा दैव, क्यों नाहक भरत-वंशको समाप्त करने पर तुले हो? अथवा क्यों प्रलाप किया जाय। मैं भी भक्तिके अनुकूल आचरण करता हूँ।

(सभी आग में बैठते हैं)

(बेड़ीमें बंधी सागरिका का प्रवेश)

सागरिका—(चारों ओर देखकर) हा धिक्! आग चारों ओर फैल गई। (सोचकर, हर्षसे) आज भाग्यवश यह आग हमारी तकलीफोंको दूर कर देगी।

राजा—यह सागरिका आग के समीपमें आगई है। इसलिये इसे शीघ्र बचाऊँ,

संभावयामि। (त्वरितमुपसृत्य) अयि प्रिये किमद्यापि संभ्रमे स्वस्थयावस्थीयते।

सागरिका—(राजानं दृष्ट्वा। स्वगतम्।) कधं अज्जउत्तो। ता एदं पेक्खिअ पुणोवि मे जीविदाहिलासो संवुत्तो। परित्ताअदु परित्ताअदु भट्टा। (कथमार्यपुत्रः। तदेतं प्रेक्ष्य पुनरपि मे जीविताभिलाषः संवृत्तः। (प्रकाशम्।) परित्रायतां परित्रायतां भर्ता।)

राजा—भीरो अलं भयेन।

मुहूर्तमपि सह्यतां बहल एष धूमोद्गमो (अग्रतोऽवलोक्य।)
हहा धिगिदमंशुकं ज्वलति ते स्तनात्प्रच्युतम्।
(विलोक्य।) मुहुःस्खलसि किं कथं निगडसंयताऽसि द्रुतं (परिकरं बद्ध्वा।)

हुतवहा = समीपस्थितवह्निज्वाला, एनाम् = सागरिकाम्। सम्भावयामि=अन्वेक्षरामि। वर्त्तमानसामीप्ये लट्। सम्भ्रमे = त्वराकारणे, वह्निना दाहे प्राप्ते इत्यर्थः। स्वस्थया = स्थिरया। अवस्थीयते = भूयते। उचितं तवातो वह्न्युपद्रुतस्थलात्पलायनं, तथा च त्वया न प्रयत्यते, तत्र कारणं न वेद्मीति भावः।

जीविताभिलाषः = जीवनेच्छा। यदि जीवामि तदा कदाचिदेतद्दर्शनावसरमपि लभेऽतो मम जीवनेच्छा पुनः प्ररोहति नान्यत् किमपि फलं मम जीवन इति भावः।

मुहूर्तमपीति। एषः सर्वतो व्याप्नुवन् बहलः घनः अपि धूमोद्गमः धूमप्रसरः मुहूर्त्तम् क्षणम् सह्यताम् प्रतिपाल्यताम्। हहा इति खेदे। धिक्, वह्निमाद्येति वा शेषः, आद्ये एतादृशस्त्रीरत्नदेहबाधकत्वेनान्त्ये विपन्नताद्दृग्रमणीरत्नपरित्राणे विलम्बमानतया च धिक्कारयोग्यता। स्तनात् प्रच्युतम् स्खलितम् इदम् ते तव अंशुकम् वस्त्रम् ज्वलति दह्यते, अतोऽपसर ततः स्थानादिति भावः। किम् कस्मात् कारणात् मुहुः भूयो भूयः स्खलसि पातमनुभवसि? कथम् निगडसंयता

(शीघ्र समीप जाकर) प्रिये, इस स्थितिमें भी तुम स्थिर क्यों बैठी हो?

सागरिका—(राजाको देखकर, स्वगत) क्या आर्यपुत्र हैं? इन्हें देखकर मुझे फिर जीनेकी इच्छा होती है। (प्रकाश) महाराज, हमें बचाइए।

राजा—भीरो, डरो मत,

थोड़ी देरतक इस धूमकष्टको सहो (आगे देखकर) अहा, यह तुम्हारा आँचल स्तनसे गिरकर जलरहा है। (देखकर) फिर फिर गिरती क्यों हो?।

नयामि भवतीमितः प्रियतमेऽवलम्बस्व माम् ॥ १७ ॥
(कण्ठे गृहीत्वा निमीलिताक्षः स्पर्शसुखं नाटयन् ।) अहो क्षणान्मेऽपगतोऽयं संतापः । प्रिये समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

व्यक्तं लग्नोऽपि भवतीं न दहत्येव पावकः ।
यतः संतापमेवायं स्पर्शस्ते हरति प्रिये ॥ १८ ॥

(उन्मील्याक्षिणी दिशोऽवलोक्य सागरिकां च मुक्त्वा ।)अहो महदाश्चर्यम् ।
क्वासौ गतो हुतवहस्तदवस्थमेत—
दन्तःपुरं (वासवदत्तां दृष्ट्वा ।) कथमवन्तिनृपात्मजेयम् ।

शृङ्खलाबद्धा असि ? इतः अस्मात् वह्न्युपहृतस्थानात् द्रुतम् शीघ्रम् भवतीम् त्वाम् नयामि सुरक्षितं स्थानम् प्रापयामि, प्रियतमे प्रेयसि सागरिके मामवलम्बस्व गृहाण येनाहं त्वामितो नेतुं प्रभुः स्यामिति भावः ॥ १७ ॥

निमीलिताक्षः = निमीलिते मुद्रिते अक्षिणी यस्य तादृशः, मुद्रितलोचन इत्यर्थः ।

व्यक्तमिति । हे प्रिये, सागरिके, लग्नोऽपि देहसम्बद्धोऽपि पावकः अग्निः भवतीम् त्वाम् न एव दहति नैव सन्तापयति । ननु कथमग्नेः सन्तापकतास्वभाव-निवृत्तिरित्यत्राह—यत इति । यतः अयम् मयानुभूयमानः ते तव स्पर्शः गात्र-संयोगः सन्तापम् दाहकतां पीडाञ्च हरति अपनयति । त्वत्स्पर्शनिर्वर्तितसन्ताप-सामर्थ्यस्य वह्नेः कुतो दाहकतेति भावः ॥ १८ ॥

उन्मील्य = उन्मुद्रय, दिशोऽवलोक्य = तथाकरणं परिस्थितिपरिवर्तनेन प्राप्ता वसरम् ।

क्वासाविति । असौ हुतवहः अग्निः क्व गतः कुत्र निलीनः ? (यस्य प्रसृतया धूमावल्या शिखया च सम्पूर्णमिदमन्तःपुरं कवलितमिवालक्ष्यत क्षणमितः पूर्वमसौ

(झोली समेट कर) मैं शीघ्र ही तुम्हें यहाँ से हटाता हूँ, तुम मुझे पकड़लो ॥१७॥

(गलेसे लगाकर, आँखें मूँदकर, स्पर्श-सुखका अभिनय)

अहा ! हमारा संताप क्षणभरमें दूर हो गया । प्रिये धीरज धरो ।

तुम्हारी देहको छूकरभी यह आग जला नहीं सकेगी, क्योंकि तुमसे स्पर्श हो जानेपर सन्ताप रह ही नहीं जाता है ॥ १८ ॥

(आँखे खोलकर चारों ओर देखता हुआ सागरिकाको छोड़कर)

यह आग कहां चली गई ? यह अन्तःपुर तो पहले ही जैसा है ! (वासवदत्ताको देखकर) क्या यह वासवदत्ता है ?

वासव०—(राज्ञः शरीरं परामृश्य सहर्षम्।) दिट्ठिआ अक्खतसरीरो अज्जउत्तो। (दिष्ट्याऽक्षतशरीर आर्यपुत्रः।

राजा—बाभ्रव्य एष—

बाभ्रव्यः—देव इदानीं प्रत्युज्जीविताः स्मः।

राजा— वसुभूतिरयम्—

वसु०—विजयतां महाराजः।

राजा— —वयस्य—

विदू०—जअदु जअदु भवं। (जयतु जयतु भवान्।)

राजा—

स्वप्ने मतिर्भ्रमति किं न्विदमिन्द्रजालम् ॥ १९ ॥

विदू०—भो मा संदेहं करेहि। इन्दजालं एव्व एदम्। भणिदं तेण दासीएपुत्तेण इन्दजालिएण जहा एक्को उण मह खेलओ अवस्सं देवेण पेक्खिदव्वोत्ति। ता तं ज्जेव्व एदम्। (भोः मा संदेहं कुरु। इन्द्रजालमेवेदम्। भणितं तेन दास्याः पुत्रेणैन्द्रजालिकेन यथैको मम पुनः खेलोऽवश्यं देवेन प्रेक्षितव्य इति। तत्तदेवैतत्।)

वह्निः क गत इत्याश्चर्यमिति भावः) एतत् अन्तःपुरम् तदवस्थम् साऽग्निकाण्डात् पूर्वतनी अवस्था दशा यस्य तादृशम् अग्निकाण्डापादितदाहादिचिह्नरहितम् अस्तीति शेषः। कथम् इयमवन्तिनृपात्मजा वासवदत्ता। अन्यत्स्पष्टम् ॥ १९ ॥

परामृश्य = करेण स्पृष्ट्वा, तथाकरणं च स्नेहव्यञ्जकम्। अक्षतशरीरः = अग्निकृतदाहजनितविक्रियारहितदेहः।

वासवदत्ता—(राजा की देह सहलाकर) सौभाग्यसे आर्यपुत्रको आंच नहीं आई।

राजा—यह बाभ्रव्य।

बाभ्रव्य—देव, अब हम सभी जी उठे।

राजा—यह वसुभूति।

वसुभूति—जय हो महाराजकी।

राजा—यह वसन्तक।

विदूषक—जय हो तुम्हारी, जय हो।

राजा—क्या मैं सपना देख रहा हूँ या इन्द्रजाल है? ॥ १९ ॥

विदूषक—आप सन्देह न करें यह इन्द्रजाल ही है। उसने कहा था कि हमारा एक खेल और महाराजको देखना होगा। यह वही है।

राजा—देवि इयं त्वद्वचनादस्माभिरिहानीता सागरिका ।

वासव—(सस्मितम् ।) अज्जउत्त जाणिदं मए । (आर्यपुत्र ज्ञातं मया ।)

वसु०—(सागरिकां दृष्ट्वा । अपवार्य ।) बाभ्रव्य सदृशीयं राजपुत्र्या ।

बाभ्रव्यः—अमात्य ममाप्येतदेव मनसि वर्तते ।

वसु०—(राजानमुद्दिश्य ।) देव कुत इयं कन्यका ।

राजा—देवी जानाति ।

वसु०—देवि कुतः पुनरियं कन्यका ।

वासव०—अमच्च एसा क्खु सागरादो पाविदेत्ति भणिअ अमच्चजोअन्धराअणेण मम हत्थे णिक्खित्ता । अदो एव्व साअरिआत्ति सद्दावीअदि । (अमात्य एषा खलु सागरात्प्राप्तेति भणित्वामात्ययौगन्धरायणेन मम हस्ते निक्षिप्ता । अत एव सागरिकेति शब्द्यते ।)

सस्मितम् = सेषद्धासम्, तच्च राज्ञा कृते सागरिकायात्राणे स्वादेशस्य कारणत्वोत्प्रेक्षया ।

सदृशी = संवादिरूपवयाः । राजपुत्र्या=सागरिकया । इतो निर्वहणसन्धिरुपक्रम्यते । अत्र वसुभूतिबाभ्रव्याभ्यां नायिकारूपबीजोपगमात्सन्धिनामकं निर्वहणसन्धेरङ्गमुक्तम् ।

'कुत इयं कन्यका' इत्यस्योपलब्धेति शेषः ।

सागरिका=सागरोऽस्त्यस्याः प्राप्तिस्थानत्वेनेति सागरिका, 'अत इनिठनौ' इति ठन् । स्त्रियां टाप् । शब्द्यते=आख्यायते ।

राजा—देवि, तुम्हारे कहनेसे मैं सागरिका को ले आया ।

वासवदत्ता—(हंसती हुई) आर्यपुत्र, मैं जानती हूं ।

वसुभूति—(सागरिकाको देखकर, छिपाकर) बाभ्रव्य, यह राजकुमारी सी दीखती है ।

बाभ्रव्य—मैं भी ऐसा ही समझता हूँ ।

वसुभूति—(राजाको लक्ष्यकर) देव, यह लड़की कहांसे मिली ?

राजा—देवी जानती हैं ।

वसुभूति—देवी, यह कन्या कहां मिली ?

वासवदत्ता—मन्त्रिवर, यह समुद्रसे मिली है इसलिये इसे सागरिका कहा जाता है ऐसा कहकर अमात्य यौगन्धरायणने इसे मेरे हाथ में सौंपा था ।

राजा—(स्वगतम् ।) यौगन्धरायणेन न्यस्ता ? कथमसौ माममनिवेद्य किंचित्करिष्यति।

वसु०—(अपवार्य।) बाभ्रव्य यथा सुसदृशी वसन्तकस्य कण्ठे रत्नमाला, अस्याश्च सागरात्प्राप्तिः, तथा व्यक्तं सिंहलेश्वरस्य दुहिता रत्नावलीयम्। (प्रकाशम्।) आयुष्मति, न खलु राजपुत्री रत्नावली त्वमेनामवस्थामुपगता ?

साग०—(वसुभूतिं विलोक्य सास्रम्।) कहं अमच्चो वसुभूदी। (कथममात्यो वसुभूतिः।)

वसु०—(सास्रम्।) हा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः। (भूमौ निपतति।)

न्यस्ता=न्यासीकृता, इमां स्वाश्रये रक्ष, यथावसरमहं याचिष्य इति व्यवस्थाप्य रक्षितेत्यर्थः। माममनिवेद्य=मह्यमनाख्याय। एतेन यौगन्धरायणविषये राज्ञो विश्वासातिशयो व्यञ्जितः।

अत्र 'वसुभूतिः–देव, कुत इयं कन्यका' इत्यारभ्य 'कथमसौ माममनिवेद्य किंचित् करिष्यति' इत्यन्तेन ग्रन्थेन रत्नावलीलक्षणकार्यान्वेषणाद्विबोधाख्यं निर्वहणसन्धेरङ्गमुक्तम्।

सुसदृशी=अतिसन्निहिता, सागरे एवास्माकं राजपुत्री मग्ना, तत एव चेयमुदधेस्त्यानीता, अत्रेयमायाता, एतत्कण्ठवर्त्तिनी मालाऽप्यत्रैव दृष्टा, रूपं वयश्चापि विसंवादि, तन्मन्ये सिंहलेश्वरसुता रत्नावल्येवेयमिति अपवार्योक्तेरस्या आशयः। आयुष्मति,=चिरजीविनि, एनाम्=समुद्रमज्जनोन्मज्जनात्रावासरूपामिमाम्। अन्या काचित्त्वम् अथवा सिंहलेश्वरसुतैव त्वमिति स्पष्टमाख्यायापनुद नः संशयमिति भावः।

सास्रम्=साश्रु चात्र चिरविप्रयुक्तस्वजनविलोकनजन्यानन्देन।

मन्दभाग्यः—भाग्यहीनः, तथात्वं च विपन्नस्वस्वामिसुतावलोकनेन स्वस्मिन्नारोपितम्।

राजा—(स्वगत) यौगन्धरायणने सौंपा ? वह मुझसे बिना पूछे कैसे कुछ करेगा ?

वसुभूति—(छिपाकर) वसन्तकके कण्ठमें रत्नमाला है, और यह समुद्रसे मिली है, तो स्पष्ट है कि यह सिंहलेश्वरकी पुत्री रत्नावली ही है। (प्रकाश) आयुष्मति, क्या तुम राजपुत्री रत्नावली हो इस दशाको भुगत रही हो न ?

सागरिका—(वसुभूतिको देखकर, साश्रु) क्या ये अमात्य वसुभूति हैं ?

वसुभूति—अभाग्य मैं ही हूँ। (भूमिपर गिरता है।)

सागा०—हा ताद हा अम्ब कहिं सि। देहि मे पडिवअणम्। (हा तात हा अम्ब कुत्रासि। देहि मे प्रतिवचनम्।) इति वसुभूतेरुपरि पतन्ती मोहमुपगता।)

वास०—(ससंभ्रमम्।) अज्ज कञ्चुइ इअं सा मम बहिणी रअणावली। (आर्य कञ्चुकिन् इयं सा मम भगिनी रत्नावली।)

बाभ्र०—देवि इयमेव सा।

वास०—(रत्नावलीमालिङ्ग्य।) बहिणि समस्सस समस्सस। (भगिनि समाश्वसिहि समाश्वसिहि।)

राजा—कथमुदात्तवंशस्य सिंहलेश्वरस्य विक्रमबाहोरात्मजेयम्।

विदू०—(रत्नमालां स्पृशन्। स्वगतम्) पढमं जेव्व मए जाणिदं ण क्खु सामण्णजणस्स ईदिसो परिच्छओ होदित्ति। (प्रथममेव मया ज्ञातं न खलु सामान्यजनस्येदृशः परिच्छदो भवतीति।)

अत्र समाश्वसिहि समाश्वसिहि इत्यनेन दुःखनिर्याणोपनिबन्धनात्समयो नाम निर्वहणसन्धेरङ्गम्।

उदात्तवंशस्य = प्रतिष्ठितकुलस्य।

रत्नमालां स्पृशन् = कण्ठस्थितां सागरिकादत्तां मालां करेणास्पृशन्, तथाकरणं च वस्तुतत्त्वे सर्वविदिते रत्नमालेयं मम भविष्यति परावर्तनीया वा भविष्यतीति लोभोद्भावितोऽयं स्पर्श इति गमयति।

सामान्यजनस्य = साधारणलोकस्य। परिच्छदः = वस्त्राभरणादि।

सागरिका—हा तात, हा मातः, कहाँ हो मुझे उत्तर दो।

(वसुभूतिके ऊपर गिरकर मूर्छित होती है)

वासवदत्ता—(घबड़ा कर) कञ्चुकी, क्या यह वही हमारी बहन रत्नावली है?

बाभ्रव्य—हाँ यह वही है।

वासवदत्ता—(रत्नावलीसे लिपटकर) बहन, धीरज धरो, होश करो।

राजा—क्या यह महाकुलीन सिंहलेश्वरकी कन्या है?

विदूषक—(रत्नमाला छूकर स्वगत) मैं पहले से समझ रहा था—सामान्य जनके वस्त्रालङ्कार ऐसे नहीं हुआ करते।

वसु०—(उत्थाय।) आयुष्मति समाश्वसिहि समाश्वसिहि। नन्वियं ज्यायसी ते भगिनी दुःखमास्ते। तत्परिष्वजस्वैनाम्।

साग०—(समाश्वस्य वासवदत्तां दृष्ट्वा स्वगतम्।) किदावराहा क्खु अहं देवीए ण सक्कुणोमि मुहं दंसिदुम्। (कृतापराधा खल्वहं देव्या न शक्नोमि मुखं दर्शयितुम्।) (इत्यधोमुखी तिष्ठति।)

वास०—(सास्रं बाहू प्रसार्य।) एहि एहि अदिणिठ्ठुरे इदाणिं पि दाव सिणेहं दंसेहि। अज्जउत्त लज्जेमि क्खु इमिणा अत्तणो णिसंसत्तणेन। ता अवणेहि से बन्धणम् (एह्येह्यतिनिष्ठुरे इदानीमपि तावत्स्नेहं दर्शय। (इति कण्ठे गृह्णाति। रत्नावली स्खलितं नाटयति।) (अपवार्य।) आर्यपुत्र लज्जे खल्वनेनात्मनो नृशंसत्वेन। तदपनयास्या बन्धनम्।)

राजा—(सपरितोषम्।) यथाह देवी। (इति तथा करोति।)

ज्यायसी—ज्येष्ठा। दुःखमास्ते = कष्टेन वर्तते। परिष्वजस्व = आलिङ्ग। एनाम् = वासवदत्ताम्।

कृतापराधा = विहितराजानुरक्तितदभिसाररूपापकारा। मुखं दर्शयितुम्=साक्षाद्भवितुम्।

अतिनिष्ठुरे=एतावन्तं कालं यावत्स्ववृत्तान्तगोपनम्, तत्प्रयुक्तानादरादिसहनञ्चात्र तन्नैष्ठुर्यम्। अथवाऽधुनाऽनुरुध्यमानयाऽपि काष्ठवदवस्थानं तन्नैष्ठुर्यं बोध्यम्। नृशंसत्वेन = क्रूरकर्मणा, अतिक्रूरं हि मया कृतं यदियं शृङ्खलया नियन्त्रितेति भावः। अस्याः सागरिकायाः।

सपरितोषम्=ससन्तोषम्, सन्तोषश्च राज्ञीप्रसादजनितसागरिकाकष्टविगमाशया।

वसुभूति—(उठकर) आयुष्मति, उठो, धीरज धरो, यह तुम्हारी बड़ी बहन तकलीफ भोग रही है, इसके गले लगो।

सागरिका—(उठकर-वासवदत्ताको देखकर-स्वगत) मैंने अपराध किया है, मैं देवीको अपना मुँह नहीं दिखा सकूँगी। (सिर झुका लेती है)

वासवदत्ता—(रोती हुई, दोनों हाथ फैलाकर) अरी निठुर, आओ अबभी तो, स्नेह दिखा।

(गले लगाती है, रत्नावली गिरने लगती है) (छिपाकर) आर्यपुत्र, मुझे अपनी क्रूरता पर लाज लग रही है, इसके बन्धन तो आप खोल दें।

राजा—(प्रसन्नतासे) जो हुक्म। (बन्धन खोलता है)

वास०—अज्जउत्त अमच्चयौगन्धराअणेण एत्तिअं क्खु कालं दुज्ज-णीकिदम्हि । जेण जाणंतेण वि ण णिवेदिदम् । (आर्यपुत्र अमात्ययौगन्धरायणेनैतावन्तं खलु कालं दुर्जनीकृतास्मि । येन जानतापि न निवेदितम् ।)

(ततः प्रविशति यौगन्धरायणः ।)

यौगन्ध०—

देव्या मद्वचनाद्यदाऽभ्युपगतः पत्युर्वियोगस्तदा
सा देवस्य कलत्रसंघटनया दुःखं मया स्थापिता ।
तस्याः प्रीतिमयं करिष्यति जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः
सत्यं दर्शयितुं तथाऽपि वदनं शक्नोमि नो लज्जया ॥ २० ॥

एतावन्तम् = इयन्तम्, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । दुर्जनीकृता = कठोरभावं लम्भिता । येन = यौगन्धरायणेन । जानताऽपि=ज्ञानं रक्षतापि, अस्य सागरिका-परिचयमिति शेषः ।

देव्या मद्वचनादिति । मद्वचनात् मम यौगन्धरायणस्य वचनम् प्रतीत्य यदा लावाणकेऽग्निप्रयोगसमये देव्या वासवदत्तया पत्युः स्वामिनो वियोगः विरहः अभ्युपगतः अङ्गीकृतः तदा तस्मिन् समये सा देवी वासवदत्ता मया अन्यत् कलत्रम् वासवदत्ताऽतिरिक्ता रमणी तस्याः सङ्घटना राज्ञः पत्नीभावेन योजना तयाऽन्यकलत्र-सङ्घटनया दुःखं स्थापिता कष्टमयं जीवनं यापयितुं बाधिता । अन्यकलत्रयोगो हि पत्युः स्त्रियो मर्मान्तकृन्तनस्तमेव खेदं प्रापिता मया देवीति भावः । नन्वेवं कथमसौ स्वीकृतवती, कथं वा त्वया प्रार्थनापथं नीतं, तत्राह—अयम् सम्प्रति सम्पद्यमान-कारणः प्रभोः जगत्स्वामित्वलाभः मण्डलेश्वरपदप्राप्तिः तस्याः देव्याः प्रीतिम् सन्तोषं करिष्यति सम्पादयिष्यति (इति) सत्यम् । देवी स्वकष्टेन स्वामिनं चक्र-

---

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, यौगन्धरायणने इतने दिनों तक मुझे दुर्जन बना रखा था, जिन्होंने जानकर भी कुछ नहीं कहा ।

(यौगन्धरायणका प्रवेश)

यौगन्धरायण—देवीने हमारे कथनानुसार स्वामीका वियोग स्वीकार किया, सपत्नीके होनेसे होनेवाले कष्टका स्वागत किया, परन्तु उन्हें तो अब स्वामीके चक्रवर्ती होनेसे वह कष्ट भूल जायगा लेकिन मैं लज्जासे अपना मुख नहीं दिखा सकता हूँ ॥ २० ॥

(क्षणं विचिन्त्य ।) अथ वा किं क्रियते । ईदृशमत्यन्तमाननीयेष्वपि निरनुरोधवृत्ति स्वामिभक्तिव्रतम् । (विलोक्य ।) अयं देवः । यावदुपसर्पामि । (उपसृत्य ।) जयतु जयतु देवः । देव क्षम्यतां यन्मया देवस्यानिवेद्य कृतम् ।

राजा—यौगन्धरायण कथय किमनिवेद्य कृतम् ।

र्त्तित्वभाजं विधाय स्वीयं क्लेशं विस्मरिष्यतीति सत्यमित्यर्थः । तथापि एवं देव्याः सन्तोषस्य कारणे समुपस्थापितेऽपि लज्जया मदीयानुरोधरक्षार्थमेवास्या दाहप्रवाद उत्पन्नः, सपत्नीकष्टं चोपनतमिति त्रपया वदनम् स्वीयम्मुखं दर्शयितुम् न शक्नोमि क्षमे । मदीय एव दोषो देवीकष्टद इति लज्जया तस्याः पुरो गन्तुमशक्तिमिवानुभवामीति भावः । पुरा यौगन्धरायणेन एवं कृते वत्सराजः क्ष्माचक्रवर्त्तित्वभाक् स्यादिति प्रबोधिता स्वामिहितप्राणा देवी पत्युरल्पकालिकं वियोगं तस्य पत्न्यन्तरग्रहणं चान्वमन्यतेति कथात्रानुसन्धेया, तथा च कथासरित्सागरे—

'यौगन्धरायणो धीमान्सरुमण्वद्वसन्तकः ।
देव्या वासवदत्ताया विजने निकटं ययौ ॥
तत्र तां राजकार्येऽत्र साहाय्यं तत्तदुक्तिभिः ।
प्रह्वामभ्यर्थयामास भ्रात्रा पूर्वं प्रबोधिताम् ।
सानुमेने च विरहक्लेशदायि तदात्मनः' ॥ इति ॥

अत्र यौगन्धरायणेन स्वगुणानुकीर्त्तनाद् विचलनाख्यं सन्ध्यङ्गम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २० ॥

अत्यन्तमाननीयेषु = अत्यादरभाजनेषु । निरनुरोधवृत्ति=निरपेक्षव्यवहारम् । स्वामिभक्तिव्रतम् = स्वामिभक्तिपरायणता, स्वामिभक्तैः स्वामिहितसाधनत्वेन कर्त्तव्यं परमादरणीयजनाहितमप्याचर्यते, तेषां स्वामिहितमात्रानुध्यानबद्धदृष्टित्वादिति भावः ।

अथवा—क्या किया जाय? स्वामि-भक्तिव्रत ऐसा होता है कि अत्यन्त मान्य उनका भी अनुरोध नहीं रखता। (देखकर) येही तो महाराज हैं। (समीप जाकर) जय हो महाराजकी । महाराज, मैंने जो आपसे विना पूछे कुछ किया उसके लिए मुझे क्षमा करें।

राजा—यौगन्धरायण, यह तो बताओ, क्या मुझसे बिना पूछे किया?

यौगन्ध०—करोत्वासनपरिग्रहं देवः। सर्वं विज्ञापयामि।

(सर्वे यथास्थानमुपविशन्ति।)

यौगन्ध०—(कृताञ्जलिः।) देव श्रूयताम्। इयं सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धेनादिष्टा यथा योऽस्याः पाणिं ग्रहीष्यति स सार्वभौमो राजा भविष्यति। ततस्तत्प्रत्ययादस्माभिः स्वाम्यर्थं बहुशः प्रार्थ्यमानेनापि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चित्तखेदं परिहरता यदा न दत्ता—

राजा—तदा किम्।

यौगन्ध०—तदा लावाणकेन वह्निना देवी दग्धेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तदन्तिकं बाभ्रव्यः प्रहितः।

अत्र 'देव क्षम्यताम्, यन्मयाऽनिवेद्य कृतम्' इत्यादिना वत्सराजस्य रत्नावलीप्रापणकार्योपक्षेपात् ग्रथनाख्यमङ्गम्, किञ्च 'देव क्षम्यताम्' इत्यंशे प्रसादाख्यमङ्गञ्च वेदितव्यम्।

आसनपरिग्रहम् = सिंहासनोपवेशनम्। यथास्थानम् = स्थानमनतिक्रम्य, स्वोपयुक्तेषु स्थानेष्वित्यर्थः।

सिद्धेन = सिद्धिभाजा, एतेन तद्वचसोऽवश्यविश्वसनीयताऽऽवेदिता। 'अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वञ्चाष्ट सिद्धयः' इति सिद्धिनाम। पाणिं ग्रहीष्यति = वैवाहिकेन विधिना स्वीकरिष्यति। सार्वभौमः = सर्वस्याः भूमेः अधिपतिः चक्रवर्ती। 'अनुशतिकादीनाञ्च' इत्युभयपदवृद्धिः। तत्प्रत्ययात् = सिद्धवचसि विश्वासात्। चित्तखेदम् = सपत्नीसम्भवां मनःपीडाम्। परिहरता = अनभिलष्यता।

तदन्तिकम् = सिंहलेश्वरसमीपम्। अत्र 'देव, श्रूयताम्' इत्यारभ्य 'बाभ्रव्यः

यौगन्धरायण—आप आसनपर विराजें, सब निवेदन कर रहा हूँ।

(सभी यथास्थान बैठते हैं)

यौगन्धरायण—(हाथ जोड़ कर) सुनें महाराज, इस सिंहलेश्वर कुमारीके विषयमें सिद्ध पुरुषने कहा था कि जो इसे ब्याहेगा वह चक्रवर्ती होगा। उसकी कथापर विश्वास करके आपके लिये इसकी प्रार्थना हमने अनेक वार की। किन्तु सिंहलेश्वरने वासवदत्ता की मनोव्यथाके ख्यालसे बराबर अस्वीकार किया।

राजा—तब?

यौगन्धरायण—तब लावाणक वह्निमें देवी जल मरीं यह प्रवाद फैलाकर बाभ्रव्यको सिंहलेश्वरके पास भेजा।

राजा—ततः परं श्रुतं मया। अथेयं देव्या हस्ते किमनुचिन्त्य स्थापिता।

विदू०—भो अणाचक्खिदं वि एदं जाणीअदि जेव्व जधा अन्तेउरगदा सुहेण दे णअणपधं गमिस्सदित्ति। (भो अनाख्यातमप्येतज्ज्ञायत एव यथा अन्तःपुरगता सुखेन ते नयनपथं गमिष्यतीति।

राजा—(विहस्य) यौगन्धरायण गृहीताभिप्रायोऽसि वसन्तकेन।

यौगन्ध०—यदाज्ञापयति देवः।

राजा—ऐन्द्रजालिकवृत्तान्तोऽपि मन्ये त्वत्प्रयोग एव।

यौगन्ध०—देव एवम्। अन्यथाऽन्तःपुरे बद्धाया अस्याः कुतो देवेन दर्शनम्। अदृष्टायाश्च वसुभूतिना कुतः परिज्ञानम्। (विहस्य।) परिज्ञातायाश्च भगिन्याः संप्रति यथाकरणीयं तत्र देवी प्रमाणम्।

प्रहितः' इत्यन्तेन ग्रन्थेन यौगन्धरायणेन स्वानुभूतार्थकथनान्निर्णयाख्यमङ्गमुक्तम्।

इयम् = रत्नावली। अनुचिन्त्य = बुद्धौ निधाय।

अन्तःपुरगता = शुद्धान्तवर्तिनी, तत्र राज्ञो गमनस्य सम्भवादित्थं तर्कः।

गृहीताभिप्रायः = विदिताभिसन्धिः।

त्वत्प्रयोगः=त्वया विरचितं छद्म। देवी प्रमाणम्=वासवदत्ताया अधिकार इत्यर्थः।

अत्र 'भगिन्याः सम्प्रति यथाकरणीयं तत्र देवी प्रमाणम्' इत्यारभ्य 'वासवदत्ताप्रतीच्छ रत्नावलीम्' इत्यन्तेन सन्दर्भेण वत्सराजाय रत्नावली दीयतामिति कार्यस्य यौगन्धरायणाभिप्रायानुप्रविष्टस्य वासवदत्तया दर्शनात्पूर्वभावाख्यमङ्गम्।

राजा—इसके आगे मैं सब सुन चुका हूँ। इसके बीच इसे देवीके पास क्यों रखा ?

विदूषक—यह तो बिना कहे समझा जाता है. आप अन्तःपुरमें जानेपर इसे देख लेंगे इसलिये।

राजा—(हंसकर) यौगन्धरायण, तुम्हारा अभिप्राय वसन्तकने जान लिया।

यौगन्धरायण—महाराज ठीक कहते हैं।

राजा—मालूम पड़ता है यह इन्द्रजाल भी तुम्हारा ही प्रयोग रहा।

यौगन्धरायण—हां महाराज, अन्यथा अन्तःपुर में कैद की गई सागरिकाको श्रीमान् कैसे देखते ? और वसुभूति इसे पहचानते कैसे ? (हंसकर) पहचाननेके बाद अब देवी बहनके साथ जैसा चाहिये वैसा व्यवहार करें।

वास०—(सस्मितम् ।) अज्ज फुडं जेव्व किं ण भणासि जहा पडिवादेहि से रअणावली त्ति। (आर्य स्फुटमेव किं न भणसि यथा प्रतिपादयास्मै रत्नावलीमिति ।)

विदू०—भोदि सुठ्ठु तुए जाणिदो अमच्चस्स अभिप्पाओ । (भवति सुष्ठु त्वया ज्ञातोऽमात्यस्याभिप्रायः ।)

वास०—(हस्तं प्रसार्य ।) एहि रअणावलि एहि । एत्तिअंवि दाव मे बहिणीआणुरूवं भोदु । अज्जउत्त पडिच्छ एदम् । (एहि रत्नावलि एहि । एतावदपि तावन्मे भगिनिकानुरूपं भवतु । (रत्नावलीं स्वैराभरणैरलंकृत्य हस्ते गृहीत्वा राजानमुपसृत्य ।) आर्यपुत्र प्रतीच्छैनाम् ।)

राजा—(सपरितोषं हस्तौ प्रसार्य ।) को देव्याः प्रसादो न बहु मन्यते ।

वास०—अज्जउत्त दूरे क्खु एदाए पिदुकुलम् । ता तहा करेहि जहा ण बन्धुजणं सुमरेदि । (आर्यपुत्र दूरे खल्वेतस्याः पितृकुलम् । तत्तथा कुरु यथा न बन्धुजनं स्मरति ।) (इति समर्पयति ।)

राजा—यथाज्ञापयति देवी । (रत्नावलीं गृह्णाति ।)

प्रतिपादय = समर्पय ।

एतावत् = त्वत्समर्पणम् , एतेनान्यकष्टदानविषयकः पश्चात्तापः प्रकाश्यते । प्रतीच्छ = गृहाण ।

न बहु मन्यते=न आदरेण गृह्यते । अतोऽयमपि प्रसादो ग्रहीष्यत एवेति भावः ।

न बन्धुजनं स्मरति = पत्याऽनादृताः स्त्रियः स्वबन्धुजनं स्मरन्ति, अत आद्रि-

---

वासवदत्ता—(हंसती हुई) मन्त्रिप्रवर, खुलकर ही क्यों नहीं कहते कि इसे राजाको सौंपदें ।

विदूषक—आपने इनका अभिप्राय भली भाँति समझ लिया ।

वासवदत्ता—(हाथ फैलाकर) आओ रत्नावली, आओ यह भी तो मैं बहनकी तरह कर लूँ।

(अपने गहने पहनाकर रत्नावलीको थाम्हे राजाके समीप जाकर) आर्यपुत्र, इसे स्वीकार करें ।

राजा—(प्रसन्नतासे) दवीके प्रसादका तिरस्कार कैसे करूँ ।

वासवदत्ता—इसका पितृकुल दूर है, आप ऐसा करें जिससे यह बान्धवोंको भूली रहे ।

राजा—देवीकी जो आज्ञा । (रत्नावलीको ग्रहण करता है)

विदू०—(नृत्यन्।) ही ही भो पुहवी क्खु दाणिं हत्थगदा पिअवअस्सस्स। (ही ही भोः पृथ्वी खल्विदानीं हस्तगता प्रियवयस्यस्य।)

वसु०—आयुष्मति स्थाने देवीशब्दमुद्वहसि।

यौगन्ध०—इदानीं सफलपरिश्रमोऽस्मि संवृत्तः। देव तदुच्यतां किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि।

राजा—किमतः परमपि प्रियमस्ति। यतः—

नीतो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले
सारं सागरिका ससागरमहीप्राप्त्येकहेतुः प्रिया।
देवी प्रीतिमुपागता च भगिनीलाभाज्जिताः कोसलाः

यस्य सर्वथेमां येनेयं त्वयि बद्धस्नेहा बन्धुजनं नानुध्यायेदित्याशयः।

अत्र 'यथाऽऽज्ञापयति देवी' इति स्वप्रार्थितरत्नावलीसमागमस्य वत्सराजेन प्राप्तत्वादानन्दाख्यमङ्गम्। किञ्च वासवदत्ता—आर्यपुत्र...बन्धुजनं न 'स्मरतीति' राजा—को देव्याः प्रसादः' इति चान्योन्यवचसा लब्धायां रत्नावल्यां राज्ञः सुश्लिष्टये उपशमनात् कृतिर्नामाङ्गम्।

सफलश्रमः = फलवदायासः, श्रमफलञ्चात्र राजकर्तृकरत्नावलीप्राप्तिः।

नीत इति। विक्रमबाहुः सिंहलेश्वरः समस्य भावः समता तुल्यता आत्मनः समता आत्मसमता ताम् स्वतुल्यताम् नीतः प्रापितः। अत्र सम्बन्धतुल्यताहेतुरवगन्तव्यः। उर्वीतले पृथ्वीतले सारम् उत्कृष्टम् ससागरमहीप्राप्त्येकहेतुः सागरान्तधरित्रीलाभासाधारणकारणम् इयम् समीपवर्तिनी प्रिया प्रेयसी सागरिका च प्राप्ता समासादिता। तदिदमपरं प्रियमुपनतं वेदितव्यम्। च पुनः भगिन्याः सागरिकायाः समुद्रे यानभङ्गान्निमग्नायाः लाभात् पुनः प्राप्तेः हेतोः देवी वासवदत्ता प्रीतिमुपागता प्रमुदिता कोसलाः कोसलनाम देशा जिताः अधीनीकृताः। त्वयि यौगन्धरायणं अमात्यवृषभे मन्त्रिमुख्ये सति वर्त्तमाने (एतादृशं) किं नास्ति यस्मै स्पृहां करोमि यद्विषयेऽ

विदूषक—(नाँचता हुआ) ह ह ह, हमारे मित्रको समूची पृथ्वी मिल गई।

वसुभूति—आयुष्मति, तुम्हें उचित देवी-पद प्राप्त हुआ।

यौगन्धरायण—अब हमारा परिश्रम सार्थक हुआ, देव, और आपका क्या प्रिय करूँ, कृपया बतावें।

राजा—इससे बढ़कर क्या प्रिय होगा, क्योंकि—

विक्रमबाहुको अपना संबन्धी बनाया, पृथ्वीका सार यह सागरिका मुझे मिली जो समुद्रवसना पृथ्वीके लाभका कारण है। देवी प्रसन्न हुई कि उसकी बहन

किं नास्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्मै करोमि स्पृहाम् ॥२१॥
तथापीदमस्तु । (भरतवाक्यम् ।)
उर्वीमुद्दामसस्यां जनयतु विसृजन्वासवो वृष्टिमिष्टा-
मिष्टैस्त्रैविष्टपानां विदधतु विधिवत्प्रीणनं विप्रमुख्याः ।

भिलाषं पुष्येयमित्यर्थः । सम्बन्धिलाभप्रियाप्राप्तिपत्नीसन्तोषरूपाणां लभ्यानां त्वयोपपादितत्वात्ससागराया धरायाश्च त्वया प्राप्तेरुपपादितत्वान्ममाशास्यं पुनरुक्तभूतं स्यादिति भावः । अत्र कामार्थमानादिलाभादाभाषणाख्यं निर्वहणसन्धेरङ्गम् , तदुक्तं भरते-'दानमानविनिष्पन्नमाभाषणमुदाहृतम्' इति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥२१॥

उर्वीमिति । वासवः इन्द्रः इष्टाम् अभिलषिताम् वृष्टिम् वर्षणम् विसृजन् वितरन् उर्वीम् महीम् उद्दामसस्याम् समधिकसस्यशालिनीम् जनयतु करोतु । यथेष्टवृष्ट्या वासवः पृथ्वीं सस्यसमृद्धां सम्पादयत्वित्यर्थः । विप्रमुख्याः = ब्राह्मणश्रेष्ठाः इष्टैः यज्ञैः त्रिविष्टपे स्वर्गे भवाः त्रैविष्टपाः देवाः तेषाम् विधिवत् सविधि प्रीणनम् तर्पणम् विदधतु कुर्वन्तु । ब्राह्मणमुख्या यथावद्यज्ञैर्देवानर्चयन्त्वित्यर्थः । समुपचितसुखः विवर्धितानन्दः सज्जनानाम् सङ्गमः सत्सङ्गतिः च आकल्पान्तं प्रलयपर्यन्तम् भूयात् भवतु । वज्रस्य लेपः प्रसक्तिः इव लेपः प्रसक्तिः यासाम् तादृश्यः अश्मकठिनाः दुर्जयाः दुष्परिहाराः पिशुनजनगिरः खलवाचः निश्शेषम् सर्वभावेन शान्तिम् उपशमम् यान्तु नश्यन्तु इत्यर्थः । अत्राशीर्नाम नाट्याङ्गम् ॥ २२ ॥

यो जातो धरणीसुरान्वयसरोहंसात्प्रसर्पद्यशो-
ज्योत्स्नाद्योतितदिङ्मुखान्मधुरिपुध्यानैकबद्धाशयात् ॥
मिश्राख्यान्मधुसूदनाज्जयमणौ सीमन्तिनीनां मणौ
तस्य श्रीयुतरामचन्द्रसुधियो व्याख्या प्रसिध्यादियम् ॥ १ ॥
अङ्कव्योमखबाहुसम्मितशरद्याशातिथौ फाल्गुने
चन्द्रे पुष्यति शीतदीधितिदिने श्रीशारदानुग्रहात् ॥
सम्राड्धर्मसमाजसंस्कृतमहाविद्यालये पूर्णता-
मानीतेयमुमामहेश्वरपदाम्भोजेषु विश्राम्यतु ॥ २ ॥

मिल गई, कोसलको अधिकृत किया। तुम्हारे मन्त्रित्वमें मुझे क्या नहीं मिला जिसकी स्पृहा करूं ॥ २१ ॥

तथापि यह हो, (भरत-वाक्य)

यथेष्ट वृष्टि करके इन्द्र पृथिवीको सस्य-समृद्ध बनावे, ब्राह्मगगण यज्ञोंसे देवोंको

आकल्पान्तं च भूयात्समुपचितसुखः संगमः सज्जनानां
निःशेषं यान्तु शान्तिं पिशुनजनगिरो दुर्जया वज्रलेपाः ॥२२॥
(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इत्यैन्द्रजालिको नाम चतुर्थोऽङ्कः

इति श्रीहर्षदेवस्य कृतिः समाप्तेयं रत्नावली नाम नाटिका ।

'विद्वांसो वसुधातले परवचःश्लाघासु वाचंयमा'
उक्त्वैतद्विमुखीभवामि न मनागालोचनावर्त्मनः ।
ते हि स्वर्णपरीक्षणैकनिकषा निष्पक्षपातां दृशं
प्रक्षिप्यात्मगुणोचितादरभुवे कुर्युर्ममेमां कृतिम् ॥ ३ ॥
छिद्रान्वेषणमात्रसज्जधिषणानप्यत्र दोषान् बहून्
ग्रन्थे दर्शयतो न मत्सरितया निन्दामि किन्त्वर्थये ॥
निर्दोषेण पथा प्रशस्तरचनां निर्माय काञ्चित् कृतिं
लोकेभ्यः समुपाहरन्तु भविता भूयो यशोऽनेन वः ॥ ४ ॥
मान्यान्मान्यानहमाद्रिये नतशिरास्ते ते सखायश्च मे
येषामाग्रहतो विदन्नपि निजां शक्तिं प्रवृत्तोऽभवम् ॥
व्याख्यानेऽत्र न तैरियं मम कृतिः कार्यान्यथा दृक्पदं
सर्वानिन्दितकीर्त्तिलाभसुभगं भाग्यं कुतोऽस्मादृशाम् ॥ ५ ॥

इति मुजफ्फरपुरमण्डलान्तःपाति—'पकडी' ग्रामवासिना धर्मसमाजसंस्कृतमहाविद्यालये वेदान्तदर्शनाध्यापकेन व्याकरणवेदान्तसाहित्याचार्याद्युपाधिप्रसाधिना मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मणा विरचितायां 'रत्नावली' नाटिकायाः प्रकाशाभिधायां व्याख्यायां चतुर्थाङ्कप्रकाशः ॥

वृद्धि करें, सज्जनोंका सुखप्रद संगम सृष्ट्यन्ततक होता रहे, और वज्रलेप समान दुर्जय दुर्जन वाणीका अन्त हो ॥ २२ ॥

इति चतुर्थ अङ्क
रत्नावली नाटिकाका हिन्दी अनुवाद
समाप्त

विशेषविवरण (नोट्स)

प्रथम अङ्क

पृष्ठ १. रत्नावली—रत्नों की आवली पंक्तिको रत्नावली कहते हैं। फलतः 'मणिमयमाला' रत्नावली शब्द का अर्थ हुआ। मणिमाला-सादृश्यसे नायिकाको 'रत्नावली' नामसे व्यवहृत किया जाता है। 'रत्नावली' को अधिकृत करके किये ग्रन्थ को भी रत्नावली कहते हैं। रत्नावली शब्दसे 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इस सूत्रसे अण् प्रत्यय। उसका 'लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्' इस वार्तिकसे लुप्। लुब्विधायक वार्तिक में आख्यायिका पद सामान्यतः गद्यपद्यमय-काव्यपरक माना जाता है, इसीलिए यहाँ भी उसकी प्रवृत्ति हुई। 'न लुमताङ्गस्य' इस सूत्रसे प्रत्ययलक्षणका निषेध हो गया, अतः वृद्ध्यादि आङ्गकार्य नहीं हुए। नाटिकारूप विशेष्य के साथ अभेदान्वय होता है, अतः स्त्रीत्व उपपन्न हुआ। नाटिका उपरूपक है, लक्षण २१८ पृष्ठमें देखें।

पृ० ६ भारतीय नाट्याचार्यगणके मतानुसार प्रत्येक नाटकमें नाटक आरम्भ करनेके पहले कुछ प्रारम्भिक कार्य करने पड़ते हैं। जैसे पूर्वरङ्ग, सभापूजा, कवि तथा नाटक का परिचय और आमुख। इसी आमुख को प्रस्तावना भी कहते हैं। पूर्वरङ्गके प्रत्याहारादि बाईस अङ्ग होते हैं। उन्हींमें से नान्दी भी एक अङ्ग है, यह नाटकोंमें किये जाने वाले मंगलाचरणका पर्याय है। इसमें देवद्विजनृपगुरुस्तुतिके साथ नाटकीय घटनाओंकी ओर सङ्केत भी रहता है। प्रकृत नाटककी नान्दीमें गिरिजा शब्दसे सागरिका तथा पुष्पाञ्जलि-क्षेपसे सागरिका द्वारा की गई कामपूजाकी सूचना दी गई है। नान्दी आठ या बारह पदोंकी होती है। पद शब्दसे यहाँ क्या लिया जाता है इस विषयमें मतभेद है। कुछ लोग सुबन्त-तिङन्त को पद कहते हैं। अन्य लोग श्लोकपाद को पद कहते हैं। तीसरा मत है कि पद्यके अवान्तर वाक्य पद कहे जाते हैं। एक मत यह भी है कि पदादि नियम अमान्य है। इस नाटक में अन्तिम मतानुसार ४ श्लोक का मङ्गलाचरण किया गया है।

नान्दीपाठ के विषय में नाटकों में दो शैलियाँ दिखाई देती हैं कुछ नाटकोंमें 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' लिखकर मङ्गल पद्य दिया रहता है। कुछ में मङ्गल पद्योंके बाद 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' लिखा रहता है। भास कविके नाटकोंमें प्रथम शैलीका अनुसरण किया गया है और अधिकतर नाटककारोंने द्वितीय शैलीको ही अपनाया है। प्रकृत नाटकमें भी द्वितीय शैलीका ही समादर देखते हैं।

नान्दीपाठ कौन करे इस विषयमें नाटकोंमें कोई सूचना नहीं दी रहती है। भरत मुनिके मतानुसार सूत्रधारको नान्दीपाठ करना चाहिये, 'सूत्रधारः पठेन्नान्दीं मध्यमं स्वरमाश्रितः' संस्कृत नाटकोंमें नान्दी पद्यके बाद मिलनेवाले

'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' इस लेखका यही अभिप्राय है कि जिस सूत्रधारने नान्दीपाठ किया वही सूत्रधार नान्दी पढ़ लेनेके बाद आस्थापक-कर्त्तव्य कथावतार-भाषण करता है। यदि उपर्युक्त लेखका यह अर्थ होता है कि नान्दीपाठ करनेवाले पात्रके चले जाने पर सूत्रधार प्रवेश करता है, तो 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' यही लिखनेकी प्रथा होती। पूर्वरङ्ग अथवा तदङ्गभूत नान्दीपाठ करके सूत्रधार चला जाय और उसके बाद आस्थापक नामका पात्र प्रवेश करके आगेका कार्य करे, यह प्रथा अब लुप्त सी हो चली है। इसी बातको दृष्टिकोणमें रखकर साहित्य-दर्पणमें लिखा है—'इदानीं पूर्वरङ्गस्य सम्यक् प्रयोगाभावादेक एव सूत्रधारः सर्वं प्रयोजयति' इति व्यवहारः। रङ्गशालाके व्यवस्थापकको सूत्रधार कहते हैं।

'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते'॥

पृ० १३. 'भरतपुत्र', यह सूत्रधारका सम्बोधन है। भरत नाट्यकलाके आचार्य माने जाते हैं, उनका पुत्र होना नाट्यकलाकी स्वाभाविकता बताता है। स्वाभाविक नाट्यकला होनेसे सूत्रधारका गौरव बढ़ जाता है। इसीलिये यह पद उसकी प्रतिष्ठाका द्योतक है। 'सरस्वतीपुत्र' कहकर जिस तरह 'भवभूति' का सम्मान प्रकट किया जाता है, 'भरतपुत्र' कहकर उसी भाँति सूत्रधारको आदृत किया गया है।

पृ० १४. सिंहल—एक द्वीप। यह लङ्काके समीप था। सिंहल लङ्का ही है यह समझना भ्रम है। भागवतमें लिखा है—'जम्बूद्वीपस्य च राजन्नुपद्वीपानष्टौ एक उपदिशन्ति, तद्यथा—स्वर्णप्रस्थश्चन्द्रशुक्ल आवर्त्तनो रमणको मन्दरहरिणः पाञ्चजन्यः सिंहलो लङ्केति'। इसमें आठ द्वीप गिना दिये गये हैं। अगर लङ्का, सिंहल ही होता तो आठ द्वीपोंका उपक्रम करना असङ्गत होता।

पृ० १५. कौशाम्बी—यह नगर प्राचीन समयमें आधुनिक इलाहाबादके समीप कहीं पड़ता था। वह 'कुश'के पुत्र द्वारा बसाया गया था। दक्षिण पाञ्चालकी राजधानी द्रुपदके बाद हस्तिनापुर में मिल गई। महाभारत–अश्वमेधपर्व में कौशाम्बी का नाम आया है। 'यो गङ्गयाऽपहृते हस्तिनापुरे कौशाम्ब्यां निवत्स्यति'।१४।२१।३। मालूम पड़ता है पाञ्चालों की राजधानी हस्तिनापुर के बाद कौशाम्बी हुई, जो आज-कल इलाहाबाद से ३० मील पर 'कोसम' नाम से अवस्थित है। कुछ इटालियन पण्डितों ने रामायण के पाठ में 'कुशव' लिखकर कुशाम्ब का रूप विकृत कर दिया है। परन्तु वामन तथा काशिकाकार ने 'कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी नगरी' यही पाठ माना है। 'जेनरल कनिङ्घम' साहबके शोधके सिलसिले में प्रस्तरशिला मिली थी जिसपर कौशाम्बी का उल्लेख था। कथासरित्सागर के निम्नलिखित अवतरण से पता चलता है कि कौशाम्बी वत्सदेश के मध्य में थी।

अस्ति वत्स इति ख्यातो देशो दर्पोपशान्तये।
स्वर्गस्य निर्मितो धात्रा प्रतिमल्ल इव क्षितौ॥

कौशाम्बी नाम तत्रास्ति मध्यभागे महापुरी।
लक्ष्मीविलासवसतिर्भूतलस्येव कर्णिका ॥
तस्यां राजा शतानीकः पाण्डवान्वयसम्भवः।
जनमेजयपुत्रोऽभूत्पौत्रो राज्ञः परीक्षितः ॥

कथासरित्सागरः। ९।४।६

इसी उपपत्ति के आधार पर उसे वत्सपत्तन भी कहते थे, जैसा कि हेमचन्द्र ने अपने कोश में लिखा है।

'कौशाम्बी वत्सपत्तनम्' इति।

पृ० २१. प्रद्योत को इस नाटक में वासवदत्ता का पिता माना है 'प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति'। कथासरित्सागर में वासवदत्ता के पिता का नाम 'उज्जयिनीश्वर चन्द्रमहासेन' लिखा है। कथासरित्सागर का आधार गुणाढ्य की बृहत्कथा मानी जाती है। बृहत्कथा लोककथाओं का संग्रह है। अतः हो सकता है कि उसमें वैसी ही कथा हो। इस कथा को वास्तविक बताकर यहां के ग्रन्थको दूषित करना अनुचित होगा। कालिदासने भी मेघदूत में वासवदत्ता के पिता के रूप में प्रद्योत का ही उल्लेख किया है 'प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे'।

पृ० २६. संस्मरयति—स्मृ धातु से णिच् प्रत्यय। उत्कण्ठा अर्थ में स्मृ धातुको घटादि माना गया है। घटादि होने से स्मारयति में ह्रस्वता करके स्मरयति बन जाता है। यहां पाताल-विषयक उत्कण्ठा का कारण समर्थन करनेके लिये पौराणिक कथा आधार है। उदयन को बाल्यावस्था में किसी सर्प ने पाताल लोक में पहुँचा दिया था, वहां से उन्हें किसी मान्त्रिक की कृपासे मुक्ति प्राप्त हुई थी। इसीलिये उन्हें पाताल लोक का प्रत्यक्ष दर्शनावसर मिला था। यह बात रत्नावली की-विधुभूषण गोस्वामी वाली टीका में लिखी है।

पृ० २७. मुकुलायित—मुकुल शब्दका पाठ भृशादि में नहीं है, इसको लोहितादि या शब्दादि भी नहीं माना गया है, ऐसी दशा में क्यङ् अथवा क्यष् प्रत्यय प्राप्त नहीं है, अतः यह पद असाधु है ऐसा कहा जाता है। परन्तु मैं इस पद की साधुता का इस प्रकार उपपादन करता हूँ—मुकुल से मतुप् प्रत्यय 'मुकुलवत्'। इससे 'मुकुलवन्त इव आचरन्ति' इस विग्रह में 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च'। 'विन्मतोर्लुक्' से 'मतुब् लुक्' रह गया मुकुल+य। 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' से दीर्घ। मुकुलाय से क्तप्रत्यय = मुकुलायित। यद्यपि 'मुकुलाय' अकर्मक है तथापि उससे णिच् प्रत्यय करके तब क्त प्रत्ययसे सकर्मकता भी समर्थित की जा सकती है।

पृ० ३७. मूले इत्यादि। इस श्लोक में कुछ कविसमय को मानकर कल्पना की गई है। संस्कृत साहित्य की कुछ मान्यतायें हैं जिन्हें (convention) कहा जा सकता है। उनके विषय में कविश्रेष्ठों की कविताओं के आधार पर कुछ नियम बन गये हैं जिन्हें नहीं मानने पर प्रसिद्धि-विरोध का अपराधी बनना पड़ता है। 'स्त्रियों के

स्पर्श से प्रियङ्गुलता फूलती है, मद्यकी कुल्ली से बकुल फूल प्रकट करता है, पादाघात से अशोक की कलियां प्रकट होती हैं, क्रोध का वर्ण रक्त होता है, वियोग की पीड़ा से युवकों की छाती फट जाती है' इत्यादि इत्यादि इसी तरह की मान्यताएं हैं। कविसमय के विषय में इयत्तापरिच्छेद नहीं किया जा सका है। प्राचीन परम्परा की रक्षा के लिये ही इनको मानते आना कर्त्तव्य हो गया है। इनकी विशेष जानकारी के लिये रीति ग्रन्थ देखें।

पृ० ४१. मदनमहोत्सव। यह एक प्रकार का उत्सव है जो प्रेम के देवता 'काम' की आराधनामें मनाया जाता था। इसका समय वसन्तागमन ही था। अब इस उत्सव का स्थान 'होली' को मिल गया है। मदनमहोत्सव का प्रचार पुराने जमाने में भारत में ही नहीं यूरप में भी था। राजाओं की विलासिता का यह एक प्रकार भेद ही माना जा सकता है। राजागण की देखा-देखी आम जनता में भी कुछ दूर तक इस तरह के उत्सवका प्रचार रहता था।

पृ० ४२. कुसुमावचय। अव उपसर्ग 'चि' धातुसे अच् प्रत्यय। चि-धातु से घञ् प्रत्ययके लिये एक खास सूत्र है—'हस्तादाने चेरस्तेये'। जहां अवचाय पदका प्रयोग होगा, वहाँ इतना अर्थ व्यङ्ग्य होगा कि फूल हाथ से ही तोड़ लेने की योग्यता में है। उन्हें पाने के लिये पेड़ पर चढ़ना या और कोई उपायान्तर नहीं करना पड़ता है और चोरी नहीं है। जैसे 'अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि' ऐसी स्थिति में यहां 'अवचय' पदका प्रयोग वैयाकरणोंको खटकेगा, अतः यही मानना पड़ेगा कि सागरिका कुछ ऊँचे वृक्षों पर चढ़कर फूल लेती थी या लग्गी की सहायता लेती थी। ऐसा मान लेनेके बाद कोई आपत्ति नहीं रहेगी, चोरी से फूल लेकर अपने प्रेमी की पूजा कर रही थी यह बात भी इस पक्ष में सहायक ही होगी।

पृ० ४५. विभ्राजसे। इस श्लोक में अलङ्कार दोष है। 'लता इव त्वं विभ्राजसे' इसमें सामान्य धर्म-समर्पक क्रिया मध्यमपुरुष की है, उसका अन्वय त्वं के साथ होगा किन्तु लता के साथ उसका अन्वय बिना पुरुषव्यत्ययके नहीं होगा। यही हुआ अलङ्कारगत भग्नप्रक्रमता दोष। यदि यह दोष हटाना हो तो प्रिये—इस सम्बोधन पदके बाद 'भवती' इसका अध्याहार करके श्लोकमें विभ्राजते यही पाठ कर देना चाहिए। वैसा कर देनेसे किसी प्रकारका दोष नहीं रहेगा।

द्वितीय अङ्क

पृ० ५४. श्रीपर्वत—श्रीपर्वत शिवजीका एक प्रसिद्ध मन्दिर है जो डेक्कन (Deccan) प्रान्तमें अवस्थित है। इसकी बड़ी प्रशंसा है। लोक इसे द्वादश ज्योतिर्लिङ्गोंमेंसे एक मानते हैं। मालतीमाधवमें भवभूतिने इसका उल्लेख किया है। ध्वन्यालोककी लोचन नामक टीकामें आचार्य अभिनवगुप्तने 'श्रीपर्वतादयोऽपि नैवंविधां सिद्धिं विदध्युः' लिखा है, जिससे उस स्थानकी सिद्धिक्षेत्रता प्रकाशित होती है।

पृ० ६९ दोहद—गर्भावस्थामें स्त्रियोंके अभिलाषको दोहद कहा गया है। दोहद के देनेसे सन्तानमें गुणाधिक्य होता है ऐसा आयुर्वेदवाले मानते हैं।

'दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात्।
वैरूप्यं मरणं वापि तस्मात्कार्यं प्रियं स्त्रियाः'॥

कवियोंने दोहद शब्दका कुछ व्यापक अर्थ मानकर 'पुष्पोद्गमकमौषधम्' 'क्रियाविशेषो वा येनाकाले स्यात्कुसुमोद्गमः' के अभिप्रायमें प्रयोग किया है, लिखा है—

'महीरुहा दोहदसेकशक्तेराकालिकं कोरकमुद्गिरन्ति'।
'कुसुमं कृतदोहदस्त्वया यदशोकोऽयमुदीरयिष्यति'।

दोहदशब्द पर 'हौर्नले' साहब ने लिखा है कि—'It means certain peculiar appliances such as drugs etc by virtue of which trees and creepes put forth untimely flowers' (दोहद उस मदादि को कहते हैं जिसके प्रभावसे द्रुम-लता असमयमें फूलते हैं)।

पृ०.७८. कुरकुरायते—पक्षिरवका अनुकरण कुर हुआ, उससे डाच् प्रत्यय करने पर द्वित्व हो जानेसे कुरकुरा हुआ, अब 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' करने से उभयपद होता है, कुरकुरायति, कुरकुरायते। कुछ लोगोंने 'कुरकुरायति' यह पाठ भी माना है। 'डाचि बहुलं द्वे भवतः' इसी वार्तिकके बलपर द्वित्व होता है। 'पटपटायते' इत्यादि प्रयोगोंके समान यहाँ भी व्यवस्था जाननी चाहिये।

पृ० ९२. तावक—तव इदं तावकम्। एकवचनान्त युष्मद् से अण् प्रत्यय, 'तवकममकावेकवचने' इससे तवकादेश। यदि 'युष्माकमिदम्' ऐसा विग्रह रहेगा तो यौष्माक रूप होगा। युष्मद् शब्द एकवचनान्त से खञ् प्रत्यय होने पर तावकीन रूप होगा। बहुवचनान्त युष्मद् से खञ् प्रत्यय करने पर 'यौष्माकीण' होगा। इसी तरह की व्यवस्था 'मामक' 'मामकीन' 'आस्माक' 'आस्माकीन' के बारे में भी होगी। युष्मद् और अस्मद् शब्द से छ प्रत्यय करने पर 'त्वदीय' 'मदीय' 'युष्मदीय' 'अस्मदीय' रूप होते हैं, यहाँ भी एकवचनान्त तथा बहुवचनान्त प्रकृतिकृत ही अर्थभेदसे रूपभेद होता है।

पृ० १०६. घुणाक्षर—लकड़ीमें घुन लग जाता है, उसके काटनेसे कभी-कभी कोई अक्षराकार चिह्न बन जाता है। उस चिह्नके देखनेसे किसी अक्षर की प्रतीति

हो जाती है। घुन की इच्छा अक्षर लिखने की नहीं रहने पर भी जिस तरह अक्षर बन जाते हैं, उसी तरह अकस्मात् कुछ से कुछ हो जाने पर घुणाक्षर रीति कही जाती है। इसे अंग्रेजी में Accidental coincidence कहते हैं। इसका व्यवहार 'घुणाक्षर न्याय' शब्दसे भी होता है।

तृतीय अङ्क

पृ० ११६. कुसुमधन्वन्—'कुसुमं धनुः यस्य' इस विग्रहमें बहुव्रीहिसमास होनेसे 'कुसुमधनुष्' ऐसा रूप हुआ, उसमें 'धनुषश्च' इस सूत्रसे समासान्त अनङ् होता है। यह वैकल्पिक है, अतः 'कुसुमधन्वा' और 'कुसुमधनुः' दोनों रूप होते हैं।

पृ० ११६. विप्रतीपम्—'विप्रतिगता आपो यस्मिन्' इस विग्रहमें समासान्त 'अ' प्रत्यय होगा। अप् शब्दगत अकार 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' इस सूत्रसे ईकारके रूपमें बदल गया। समीपं, द्वीप, इत्यादिवत्। विप्रतीपका अर्थ होता है 'विरुद्ध'।

पृ० ११६. पञ्चताम्—पञ्च शब्दसे भाव में तल् प्रत्यय होकर अर्थ हुआ एक का पञ्च होना। इस शब्दसे मृत्युरूप अर्थ प्रकट होता है। यह संसार क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर या Earth, air, fire, water, ether नामक पाँच तत्त्वोंके समन्वय से बना हुआ है, इनका एक होना ही इसका जन्म तथा इनका पाँच होना, अलग-अलग होना, मृत्यु है। इसीलिए पञ्चता या पञ्चत्व मृत्युपर्याय बन गया है। 'पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु ध्रुवं, धातारं प्रणिपत्य नम्रशिरसा तत्रापि याचे वरम्। तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गण-व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मसु धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः'॥ इस पद्यमें भी इस पञ्चभूत विलयनके आधार पर ही कल्पना की दीवार खड़ी की गई है।

पृ० १२३. प्रत्यायनाम्—यहाँ प्रत्यायना शब्द का अर्थ है प्रतीति कराना, बुझाना, तसल्ली देना या आश्वासन। इसीलिये यहाँ इण् धातु को गम् आदेश नहीं हुआ। 'प्रति+इण्+णिच्+युच्' यही इसकी साधन-प्रक्रिया है। इण् धातु से णिच् प्रत्यय करने पर गम आदेश होता है। किन्तु अबोधन बुझानेसे भिन्न अर्थमें। 'णौ गमिरबोधने' यही सूत्र है।

पृ० १२३. सरोरुहिण्याः—'सरसि रुहन्ति' इस विग्रहमें 'रुह' धातुसे इगन्तत्व-प्रयुक्त कप्रत्यय। 'सरोरुह' से तद्धित इनुप्रत्यय। जैसे कमलिनी वैसे सरोरुहिणी।

पृ० १२३. प्रावृषि—प्रकर्षेण वर्षन्ति यत्र सा प्रावृट्। अधिकरणे क्विप्। प्र+वृष्+क्विप्। 'नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ' इससे प्र में अको दीर्घ। जैसे—उपानत्, नीवृत् इत्यादि।

चतुर्थ अङ्क

पृ० १५६. लज्जावति—किसी किसी पुस्तकमें 'लज्जालुके' ऐसा पाठ है। उसकी साधनाके लिये लज्जा उपपद ला धातुसे औणादिक कुप्रत्यय करना होगा। इसी कष्टकल्पना को देखकर हमने उस पाठका आदर नहीं किया।

पृ० १७०. हास्तिक—हस्तिनां समूहो हास्तिकम्। 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्' इससे ठक्। इन् भागका टिलोप।

पृ० १७७. ऐन्द्रजालिक—इन्द्राणाम् इन्द्रियाणाम् जालम् आवरकम् कर्म इन्द्रजालम्, 'इन्द्रजालेन दीव्यति' इस विग्रहमें ठक्प्रत्यय। आजकल इन्द्रजालको Magic और ऐन्द्रजालिकको Magician कहते हैं। पुराने जमानेमें भी इस विद्याका वहुत ही प्रचार था, इसके द्वारा मनोरञ्जनका काम अच्छी तरह होता था। इस विषय पर संस्कृतसाहित्यमें वहुत लिखा गया है, इसके द्वारा सभी तरह के तन्त्र-मन्त्रके कार्य होते थे, ऐसा पुस्तकोंमें लिखा गया है। आजकल भी कुछ पढ़े-लिखे लोग इस कार्यमें सफलता पा रहे हैं, परन्तु अब इनका उपयोग केवल हस्तलाघव तथा कुछ व्यायामिक अभ्यासके ऊपर निर्भर करता है। तन्त्र मन्त्र वाली बात अब Magic में नहीं रह गई है।

पृ० १७९. त्रिदश—त्रिदश शब्दका अर्थ है देवता। देवोंकी वेदोक्त संख्या ३३ है, इसीलिये 'त्रिरावृत्ता दशाधिका च संख्या येषाम्' इस रूपमें उन्हें त्रिदश कहते हैं। समासान्त अच् प्रत्यय हुआ है, अतः यह अदन्त शब्द है। कुछ लोग 'तिस्रः दशाः येषाम्' ऐसा अर्थ करते हैं, उनके मतमें देवोंकी तीन ही अवस्थायें—बाल्य, कैशोर, यौवन-होती हैं। उनका वार्द्धक्य नहीं होता है, इस बातको कालिदासने भी कहा है—'वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति'।

पृ० १८९. लावाणक—लावाणक एक स्थानका नाम है, यह वत्सकी राजधानीके आस-पासमें था। उस स्थानमें उदयन मृगयाविहार और मनोविनोदके लिये यदा कदा रहा करते थे। एक बार ऐसी ही स्थितिमें यौगन्धरायणने अफवाह फैला दी थी कि उदयनकी पटरानी वासवदत्ता आवासमें आग लग जानेसे जल गई। इस कथाका विस्तृत रूप कथासरित्सागरमें है।

पृ० २०७. त्रैविष्टप—त्रिविष्टपे भवाः त्रैविष्टपाः = देवगण। त्रिविष्टप का अर्थ हुआ तृतीय लोक = स्वर्ग। उसे तृतीय लोक इसलिये कहते हैं कि पाताल हुआ १, मर्त्यलोक २, स्वर्गलोक ३। पुराने जमानेमें लोक स्वर्गके साथ सम्बन्ध रखते थे। अनेक राजा-महाराज स्वर्गसे यातायात कायम रखते थे। इन बातोंको तथा आर्योंके आदिवास-प्रभृति विषयोंको लक्ष्यमें रखकर विद्वानोंने आधुनिक तिब्बतको ही प्राचीन स्वर्गलोक माना है।

रत्नावली-नाटिका-गतानि च्छन्दांसि सलक्षणानि

१ **अनुष्टुप्**—'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुःपादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः' ॥
(१ मे अङ्के २२ शः श्लोक उदाहरणम्)

२ **आर्या**—'यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या' ॥
(१ मे अङ्के ६ ष्ठः श्लोक उदाहरणम्)

३ **इन्द्रवज्रा**—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' ।

४ **उपेन्द्रवज्रा**—'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' ।

५ **उपजातिः**—'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' ।
(द्वितीये अङ्के १५ शः श्लोकत्रयाणामेषामुदाहरणम्)

६ **पुष्पिताग्रा**—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा'
(यथा प्रथमेऽङ्के चतुर्थः श्लोकः)

७ **पृथ्वी**—'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः'
(यथा द्वितीये अङ्के षोडशः श्लोकः)

८ **प्रहर्षिणी**—'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्'
(यथा द्वितीयेऽङ्केऽष्टमः श्लोकः)

९ **मालिनी**—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः'
(यथा द्वितीयेऽङ्के चतुर्दशः श्लोकः)

१० **वसन्ततिलका**—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः'
(यथा प्रथमेऽङ्के विंशः श्लोकः)

११ **शार्दूलविक्रीडितम्**—'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्'
(अस्या नाटिकाया आद्यः श्लोक उदाहरणम्)

१२ **शालिनी**—'मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः'
(यथा द्वितीयेऽङ्के त्रयोदशः श्लोकः)

१३ स्रग्धरा--'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्तितेयम्' ।
(यथा प्रथमेऽङ्के तृतीयः श्लोकः)

१४ हरिणी—'नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता'
(यथा तृतीयेऽङ्के नवमः श्लोकः)

१५ शिखरिणी—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी'
(यथा द्वितीयेऽङ्के त्रयोदशः श्लोकः)

रत्नावली-नाटिकागताः सूक्तयः

१ द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥

२ कष्टोऽयं खलु भृत्यभावः ।

३ न कमलाकरं वर्जयित्वा राजहंस्यन्यत्राभिरमते ।

४ अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः ।

५ दुर्वारां कुसुमशरव्यथां वहन्त्या
कामिन्या यदभिहितं पुरः सखीनाम् ।
तद्भूयः शुकशिशुसारिकाभिरुक्तं
धन्यानां श्रवणपथातिथित्वमेति ॥

६ इयमनभ्रा वृष्टिः ।

७ किं पुनः साहसिकानां पुरुषाणां न सम्भाव्यते ।

८ घुणाक्षरमपि कदापि सम्भवत्येव ।

९ प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति ।

१० मनश्चलं प्रकृत्यैव ।

११ तीव्रः स्मरसन्तापो न तथादौ बाधते यथासन्ने ।
तपति प्रावृषि नितरामभ्यर्णजलागमो दिवसः ॥

सलक्षणा नाटकीया विषयाः

स्वगतम् (आत्मगतम्)— 'अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्'।

प्रकाशम्— 'सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्'।

अपवार्य— ....'तद् भवेदपवारितम्।
रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते।
त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम्'।

जनान्तिकम्— 'अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्'

नेपथ्यम्— 'नटानां वेषपरिग्रहस्थानम्'।

नाटिका— 'नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्किका।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः॥
स्यादन्तःपुरसम्बद्धा सङ्गीतव्यापृताऽथवा
नवानुरागा कन्याऽत्र नायिका नृपवंशजा॥
सम्प्रवर्त्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः।
देवी पुनर्भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा॥
पदे पदे मानवती तद्वशः सङ्गमो द्वयोः।
वृत्तिः स्यात् कौशिकी स्वल्पविमर्षाः सन्धयः पुनः'॥

अङ्कः— 'प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः।
भवेदगूढशब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः॥
नानेकदिननिर्वर्त्यकथया सम्प्रयोजितः।
आवश्यकानां कार्याणामविरोधाद्विनिर्मितः॥
प्रत्यक्षचित्रचरितैर्युक्तो भावरसोद्भवैः।
अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्त्तितः'॥

नान्दी— 'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥
मङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत'॥

सूत्रधारः— 'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते ।
सूत्रं धारयते यस्तु सूत्रधारः स उच्यते' ॥

प्रस्तावना— 'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा' ॥

विष्कम्भकः— 'वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः' ॥

प्रवेशकः— 'प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा' ॥

नायकः— 'त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता' ॥

विदूषकः— 'कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः ।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः' ॥

काव्यस्थापना— 'पूर्वरङ्गं विधायैव सूत्रधारो निवर्त्तते ।
प्रविश्य स्थापकस्तद्वत्काव्यमास्थापयेत्ततः ।
दिव्यमर्त्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः ।
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा' ।

अत्र बीजम्— 'द्वीपादन्यस्मादपि' इति ।

स्थापककार्यम्— 'रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।
रूपकस्य कवेराख्यां गोत्राद्यपि स कीर्त्तयेत् ॥
ऋतुं च कञ्चित् प्रायेण भारतीं वृत्तिमाश्रितः' ।
अत्र प्रायेणेति कथनादत्र नाटिकायां नर्त्तुकीर्त्तनम् ।

भारती वृत्तिः— 'भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः' ।

भारत्यङ्गानि— 'तस्याः प्ररोचना वीथी तथा प्रहसनामुखे ।
अङ्गान्यत्रोन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना' ।

अत्र प्ररोचना— 'श्रीहर्षो निपुणः कविः' इत्यत्र ।

प्रस्तावनाभेदाः— 'उद्घात्यकः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा ।
प्रवर्त्तकावलगिते पञ्च प्रस्तावनाभिदाः' ।

अत्र कथोद्घातः।

कथोद्घातः—　　'सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्य वा।
भवेत्पात्रप्रवेशश्चेत् कथोद्घातः स उच्यते'।

अत्र 'द्वीपादन्यस्मादपि' इति सूत्रधारवाक्यमादाय यौगन्धरायणप्रवेशः।

पताकास्थानकम्—　　'यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत्'॥
तद्भेदेष्वत्र चतुर्थं घटते।

चतुर्थपताकास्थानम्—'द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः।
प्रधानार्थान्तरापेक्षी पताकास्थानकं परम्'।
अत्र 'उद्दामोत्कलिकाम्' इत्यादिपद्ये भाव्यर्थसूचना।

बीजम्—　　'अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजमित्यभिधीयते'॥

अत्र वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तौ हेतुर्यौगन्धरायणव्यापारो बीजम्।

बिन्दुः—　　'अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्'॥

यथात्रानङ्गपूजासमाप्तौ कथार्थविच्छेदे सति 'उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते'

इति श्रुत्वा सागरिका-'कथमेष स उदयनः' इत्यादि भवान्तरार्थं स्मरयति।

कार्यम्—　　'अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः।
समापनं तु यत्सिद्ध्यै तत्कार्यमिति सम्मतम्'॥

कार्यावस्थाः—　　'अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्ति-फलागमाः'॥

आरम्भः—　　'भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये'।
अत्र रत्नावल्यन्तःपुरप्रवेशार्थं यौगन्धरायणस्यौत्सुक्यम्।

प्रयत्नः—　　'प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः'।
अत्र रत्नावल्याश्चित्राङ्कनादिर्वत्सराजसङ्गमोपायो यत्नः

प्राप्त्याशा—　　'उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशाऽप्राप्तिसम्भवः'।

अत्र वेषपरिवर्त्तनाभिसरणे उपायो, वासवदत्ताभयमपायस्ततश्च सङ्गमाशाऽनिश्चयः

प्राप्तिः—　　'अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिस्तु निश्चिता'।

अत्र देवीलक्षणापायस्य तत्प्रसादनेन निवारणान्नियता फलस्य प्राप्तिः।

फलागमः—'सावस्था फलयोगः स्याद्यः समग्रफलोदयः ॥'
अत्र रत्नावलीलाभश्चक्रवर्त्तित्वलक्षणफलान्तरसहितः ।

सन्धिः— 'अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति' ।

पञ्च सन्धयः— 'मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः ।
इति पञ्चास्य भेदाः स्युः' ।

मुखम्— 'यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्त्तितम्' ।
अत्र प्रथमेऽङ्के ।

प्रतिमुखम्— 'फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः ।
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखञ्च तत्' ॥
अत्र द्वितीयेऽङ्के ।

गर्भः— 'फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन ।
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान् मुहुः' ।
अत्र द्वितीयेऽङ्क एव ।

विमर्शः— 'यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः ।
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः' ॥
अत्र तृतीयेऽङ्के, नाटिका स्वल्पविमर्शेति कृत्वा नास्य स्फुटता ।

निर्वहणम्— 'बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्' ॥
अत्र चतुर्थेऽङ्के ।

एषामङ्गानि यान्यत्र प्रकाशे समागतानि तानि लक्षणनिर्देशपुरस्सरमुपक्रम्यन्ते—

परिकरः— यदुत्पन्नार्थबाहुल्यं ज्ञेयः परिकरस्तु सः ।
युक्तिः— सम्प्रधारणमर्थानां युक्तिरित्यभिधीयते ।
समाधानम्— बीजार्थस्योपगमनं तत्समाधानमुच्यते ।
परिभावना— कुतूहलोत्तरा वाचः प्रोक्ता तु परिभावना ।
करणम्— करणं पुनः प्रकृतार्थसमारम्भः ।
विलोभनम्— गुणनिर्वर्णनञ्चैव विलोभनमिति स्मृतम् ।
उद्भेदः— बीजार्थस्य प्ररोहो यः स उद्भेद इति स्मृतः ।

प्राप्तिः—	प्राप्तिः सुखागमः ।
तापनम्—	उपायादर्शनं यत्तु तापनं नाम तद्भवेत् ।
प्रगमनम्—	प्रगमनं वाक्यं स्यादुत्तरोत्तरम् ।
उपन्यासः—	उपन्यासः प्रसादनम् ।
परिसर्पः—	इष्टनष्टानुसरणं परिसर्पश्च कथ्यते ।
विरोधनम्—	कार्यात्ययोपगमनं विरोधनमिति स्मृतम् ।
वज्रम्—	प्रत्यक्षनिष्ठुरं वज्रम् ।
उदाहरणम्—	यत्सातिशयवद्वाक्यं तदुदाहरणं स्मृतम् ।
मार्गः—	तत्त्वार्थकथनश्चैव मार्ग इत्यभिधीयते ।
संग्रहः—	सामदानार्थसंयुक्तः संग्रहः परिकीर्त्तितः ।
अधिबलम्—	कपटेनाभिसन्धानं ब्रुवतेऽधिबलं बुधाः ।
क्रमः—	क्रमः सञ्चिन्त्यमानाप्तिः ।
	'भावज्ञानं क्रमः' इत्यपरे ।
अनुमानम्—	लिङ्गादूहोऽनुमानता ।
त्रोटकम्—	त्रोटकं पुनः संरब्धवाक् ।
उद्वेगः—	नृपादिजनिता भीतिरुद्वेगः परिकीर्त्तितः ।
अपवादः—	दोषप्रख्यापवादः स्यात् ।
शक्तिः—	विरोधप्रशमो यस्तु सा शक्तिः परिकीर्त्तिता ।
छलम्—	प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्यच्छलनाच्छलम् ।
व्यवसायः—	व्यवसायश्च विज्ञेयः प्रतिज्ञाहेतुसम्भवः ।
प्रथनम्—	उपन्यासस्तु कार्याणां प्रथनम् ।
निर्णयः—	निर्णयः पुनः, अनुभूतार्थकथनम् ।
पूर्वभावः—	यथोक्तार्थोपदर्शनम् ।
भाषणम्—	सामदानादिभाषणम् ।
आशीः—	आशीरिष्टजनाशंसा ।

इतोऽन्यानि सन्ध्यङ्गानि जिज्ञासमानैराकरा अनुशीलनीयाः ।

रत्नावली-शब्दकोष

शब्दाः	अर्थाः
अग्रहस्त	हाथ का अग्रभाग।
अतिवाहयति	विताता है।
अत्याहित	अनर्थ।
अध्यवसित	कार्य, चेष्टा।
अनभ्र	मेघ के बिना।
अनवरत	सदा।
अनुबन्ध	सम्बन्ध।
अनुभाव	कृपा, प्रभाव।
अनुरणन	गूंज, पीछे होनेवाला शब्द।
अनुवृत्ति	सरोकार।
अनुहरन्ति	अनुकरण करते हैं।
अन्तिक	समीप।
अपेक्षा	प्रतीक्षा, आवश्यकता।
अभिजात	सुशील, सुन्दर, भद्र।
अभिसरति	अपने से छिपकर प्रेमी के पास जाती है।
अभ्यर्ण	समीप।
अर	गाड़ी के पहिये में लगा दण्ड Spoke
अरण्यरुदित	निरर्थक निवेदन।
अलीक	मिथ्या।
अवगुण्ठन	घूंघट।
अवचय	चुनना।
अवधारित	निश्चित।
अवष्टभ्य	रोककर।
अवष्टम्भ	तैयारी, गर्व।
अश्वपाल	घोड़ों की रक्षापर नियुक्त।
आजि	युद्ध।

शब्दाः	अर्थाः
आतङ्क	भय।
आत्त	गृहीत।
आपीडबन्ध	व्यूहाकार रचना।
आबन्ध	गाढ़ता।
आभिजात्य	भद्रता।
आभिमुख्य	सम्मुखीभाव।
आमोद	सुगन्ध।
आयासयति	दुःख देता है।
आली	सखी।
आलेख्य	चित्र।
आवर्जित	आकृष्ट।
आवहति	उत्पन्न करता है।
आवास	घर-डेरा।
आस्थानी	सभा, दरबार।
इद्ध	प्रदीप्त।
इन्द्रजाल	माया, एक प्रकार का मैजिक।
ईहते	चाहता है।
ईहित	इच्छित।
उच्छित्ति	विनाश, विजय।
उज्झति	त्याग करता है।
उडुपति	तारों का स्वामी, चन्द्रमा।
उड्डीन	उड़ा।
उत्कलिका	उत्कण्ठा, कोरकित।
उत्कृत्त	काटा गया।
उत्क्षिप्त	बेकाबू, फेंका गया, पराधीन।
उत्ताम्यति	परेशान होता है।
उत्तमाङ्ग	शिर।
उत्तरीय	चादर।

उत्तान	चित्त, ऊपर की ओर उठा हुआ
उत्सृष्ट	छोड़ा गया, त्यक्त ।
उदात्त	निर्मल, महान् ।
उद्घाटयति	खोलता है, प्रकट करता है ।
उद्दाम	उच्छृङ्खल, बढ़ा चढ़ा, अदम्य ।
उद्देश	प्रदेश, उपपादन ।
उद्बन्धन	फांसी लगाना ।
उद्वलत्	निकलता हुआ ।
उद्वहसि	धारण करते हो ।
उद्वेग	भय, पीड़ा, उत्कण्ठा ।
उद्वेल्लत्	चलता हुआ, कम्पमान ।
उपकरण	सामग्री ।
उपचय	वृद्धि ।
उपरत	समाप्त, निवृत्त, मृत ।
उपराग	ग्रहण, संपर्क ।
उपसर्ग	उपद्रव, बाधा, सम्बन्ध ।
उपालभते	कोसता है ।
उष्णीष	पगड़ी ।
ऊष्मा	गर्मी ।
ऋजु, ऋजुक	सरल, सीधा ।
कक्षा	कोठरी, वर्ग ।
कक्ष	बगल, कांख ।
कञ्चुक	लबादा (एकप्रकारकापहनाव)
कटक	भूषण विशेष, सेना ।
कटुकित	दुखाया गया ।
कण्ठग्रह	गले लगाना, आलिङ्गन ।
कनीयान्	छोटा ।
कमलाकर	कमलोंकी उत्पत्ति का स्थान ।
कलयति	जानता है, पाता है, देखता है । (कलतिः कामधेनुः)
कषण	सङ्घर्ष, टकराना, जोतना ।
किङ्किणी	घुघरू, क्षुद्रघण्टिका ।
किरात	वनमानुष, भील ।

कुटिल	टेढ़ामेढ़ा ।
कुट्टिम	फर्श, गचकी जमीन ।
कुब्ज	कुबड़ा ।
कुरकुरायते	कुछ शब्द करता है ।
कुल	वंश, समुदाय ।
कैङ्किरात	किङ्किरातसम्बन्धी, किङ्किरात = अशोक ।
कोटि	सीमा, हद ।
कौसुम्भ	केसरिया रङ्गमें रँगा ।
क्षत	आहत, कटा हुआ ।
क्षितिभृत्	राजा, पहाड़ ।
क्षीव	मतवाला ।
क्षोद	चूर्ण, बुकनी ।
खण्ड	टुकड़ा, खांड़ ।
खेल	क्रीड़ा, विलास ।
गण्डूष	कुल्ली, मुंहमें रखकर फेंका गया ।
गद्गद	अस्पष्ट शब्द ।
गर्भदासी	जन्मसे दासी वृत्ति करनेवाली (निन्दा में)
गाथा	एक प्रकार का छन्द ।
गुल्म	झाड़ी ।
गोचर	विषय, प्रत्यक्ष ।
गोष्ठी	सभा, बैठक ।
ग्लपन	म्लान करना ।
घटयति	जोड़ता है, घटित करता है, बनाता है ।
घटा	हाथियों का दल ।
घन	पुञ्जीभूत, निबिड़, कसा हुआ
घुणाक्षर	घुनके काटनेसे खुदा हुआ । अक्षर, आकस्मिक ।
चक्र	पहिया ।
चक्रवाल	मण्डल ।

चतुर्वेदिन्	चारों वेदों का ज्ञाता।
चर्चरी	एक प्रकारका बाजा, हाथ की ताली।
चर्चिका	लेप, खौर।
चापयष्टि	धनुष।
चित्रशालिका	चित्र बनानेका घर।
चिरयति	विलम्ब करता है।
चेटी	नौकरानी, सहेली।
छद्म	बहाना, व्याज।
छोटिका	चुटकी बजाना।
जृम्भा	जँभाई, विकास।
झटिति	शीघ्र।
झषकेतन	समुद्र, कामदेव।
तनु	शरीर, कृश।
तपस्वी	तपस्या करने वाला।
तावक	तुम्हारा।
तिरयति	छिपाता है।
तुला	तुलना, तराजू।
तूष्णीक	मौन, चुपचाप।
तोरण	बाहर का दरवाजा।
त्रिवली	पेटपरकी रेखा।
त्रैविष्टप	देवता, स्वर्गीय।
त्विष्	कान्ति।
दक्षिण	दहिना, दक्षिण दिशा, होशियार, दयालु।
दण्डकाष्ठ	डंडा।
दधिभक्त	दही का लोभी।
दाक्षिण्य	चतुरता।
दाम	रस्सी, सीकड़।
दास्याः पुत्र	दासी का लड़का (निन्दामें)।
दिवसमुख	प्रातः, प्रत्यूष।
दीर्घिका	छोटा जलाशय।
दुरवगाह	दुष्प्रवेश।
दुर्नय	अनीति।
दुर्वार	जो रोका न जाय।
दुर्विनीत	अविनयी।
दुष्कर	कठिन।
देवराज	इन्द्र।
दोहद	अभिलाष, गर्भधारण करवाने का उपाय।
द्विपदी	ताल, लय, छन्द।
धाता	ब्रह्मा।
धारायन्त्र	पिचकारी।
धृति	सन्तोष, धैर्य।
नागर	चतुर, शहरी।
निगड	बेड़ी।
निचय	समूह।
निदर्शन	दृष्टान्त।
नियोग	ड्युटी, कर्त्तव्य।
निरनुरोध	बेमुरौअत।
निरन्तर	सदा।
निरपेक्ष	बेसरोकार।
निर्भर	आश्रित, अवलम्बित।
निर्वर्ण्य	देखकर।
निर्वापय	शीतल करो, बुझाओ।
निर्वृति	चैन।
निर्ह्रादि	गूंजने वाला, अनतिस्फुट
निशानाथ	चन्द्रमा।
निष्पन्न	सिद्ध।
निःस्पन्द	स्थिर, अचञ्चल।
निह्नूयते	छिपाया जाता है।
नेपथ्य	पर्दे के अन्दर।
पञ्चता	मृत्यु, पञ्चत्व।
पटल	समुदाय, प्रकार।
पटवास	अबीर, गुलाल।
पट्टांशुक	रेशमी वस्त्र।
पतङ्ग	शलभ, फतिङ्गा।
पत्ति	पैदल सेना, पदाति।

परिकर	तैयारी, समूह।
परिणत	पका हुआ, समाप्त।
परिच्छद	आवरण, सामान, पहनावा।
परिणाह	विशालता।
परिदधाति	पहनता है।
परिभव	अनादर।
परिभावी	अनादर करने वाला।
परिभूत	अनादृत।
परिमिलन	भली भाँति संयोग, सटना।
परिहास	दिल्लगी।
पाणिग्रहण	विवाह।
पाद	किरण, चरण।
पादाग्र	पैरका अग्रभाग, अंगुलियाँ।
पारित	सका।
पाली	पांत, झुण्ड।
पिच्छिका	मयूरपुच्छका पंखा।
पिञ्जरित	पीतवर्ण
पिण्डीकृत	एकत्रित, पुञ्जीभुत।
पिशुन	खल, सूचक।
पिशुनित	सूचित, प्रकटित, अनुभापित।
पिष्टातक	अबीर।
पीवर	मांसल, स्थूल, भारी।
पुरुषकार	पराक्रम, बहादुरी।
पुलक	रोमाञ्च।
पृतना	सेना।
प्रकृष्ट	उत्तम।
प्रजापति	ब्रह्मा।
प्रतिपादयति	देता है, सौंपता है।
प्रतिपालयति	प्रतीक्षा करता है, इन्तजार करता है।
प्रतिभाति	मालूम पड़ता है।
प्रतिवचन	जवाब, उत्तर
प्रतिष्ठापयति	पधराती है, स्थापित करती है

प्रतीप	विरुद्ध।
प्रतीच्छति	सहता है, रोकता है।
प्रत्यग्र	नवीन।
प्रत्यभिज्ञा	पहचान।
प्रत्यभिज्ञान	जिसके द्वारा पहचाने, स्मारक।
प्रत्यय	विश्वास।
प्रत्यायन्ति	स्वाभाविक स्थिति में आना।
प्रत्यायन	आश्वासन, तसल्ली।
प्रयोग	अभिनय, इन्तजाम, जाल।
प्रवाद	अफवाह।
प्रश्रय	विनय, नम्रता।
प्रस्ताव	मौका।
प्रस्तूयताम्	आरम्भ करो।
प्रहरण	अस्त्र।
प्राङ्गण	आंगन, कम्पाउण्ड।
प्लोष	दाह।
फलक	लकड़ी का टुकड़ा, तख्ता।
बहल	अधिक।
ब्रह्मसूत्र	यज्ञोपवीत।
भरतपुत्र	नट, अभिनेता।
भागधेय	भाग्य।
भागिनेय	भाञ्जा।
भूमिका	वेष बनाया गया रूप।
मकरकेतन मकरकेतु मकरध्वज	कामदेव
मध्यस्थ	बीचमें पड़नेवाला।
मन्त्रयति	बातें करता है, बोलता है।
मन्दुरा	वाजिशाला, अस्तबल।
मरकत	एक मणि, नीलम।
मर्दल	मृदङ्ग, एक बाजा।
मसृण	चिक्कन।
मह	उत्सव।

महाब्राह्मण बड़ा ब्राह्मण (निन्दामें)।
महीध्र पर्वत।
महीयस् बहुत बड़ा।
मानयति आदर करता है।
मानस मानसरोवर, हृदय।
मार्गण बाण।
मुकुलायिन् मञ्जरित, कोरकित।
मुखर सशब्द, वाचाल।
मुधा व्यर्थ, मिथ्या।
मुषित चुराया गया
मृगलाञ्छन, मृगाङ्क चन्द्रमा।
मृणालिका कमलदण्ड
मृदुल कोमल।
मृष्ट पोंछा गया, मार्जित, हटाया गया।
मेधावी जिसकी स्मरणशक्ति भली हो वह।
मेलक मिलाने वाला।
मोदक मिठाई, लड्डू।
म्लापित मुरझाया हुआ।
यान सवारी।
रतिमान् अनुरागी, रतिसे युक्त।
रथ्या गली।
रभस वेग, उत्साह।
रूक्ष रुखड़ा।
ललाम रमणीय।
लाक्षा लाह।
लालित दुलारा, पोसा गया।
लीयन्ते छिपते हैं, लीन होते हैं।
वज्रलेप जो नहीं मिट सके ऐसी लिखावट।
वर्तिका कूंची, बत्ती।
वर्धयति बढ़ाता है।
वर्म कवच, जिरहबख्तर।
वर्षवर नपुंसक।
वलन चलना।
वलभी छज्जा, छत।
वातावली आंधी हवा का झोंका।
वामन बौना, छोटे कदका मनुष्य।
वारविलासिनी वेश्या।
वास्यते सुगन्धित किया जाता है।
वासव इन्द्र।
वासित सुगन्धीकृत।
विग्रह शरीर, झगड़ा।
विच्छाय उदास, म्लान।
विजनीकृत एकान्त, जनशून्य।
विज्ञान बुद्धिमत्ता, कला।
विटप वृक्षशाखा
विटपी वृक्ष।
वितान चंदोवा, फैलाव, विस्तार।
वित्तेश कुबेर।
विदग्ध चतुर, रसिक।
विद्रुम मूंगा।
विधुर दुःखी।
विपाटल रक्तवर्ण, तमतमाया हुआ।
विप्रतीप उलटा, विरुद्ध।
विप्रलब्ध ठगाया हुआ, वञ्चित।
विभ्राजसे शोभा पाती हो।
विमर्द मसला जाना।
विलक्ष लज्जित, अपमानित।
विलेपन चन्दन।
विविक्त पवित्र, स्वच्छ, एकान्त।
विशद स्फुट।
विश्रब्ध विश्वस्त, अव्यग्र, इतमीनान से।
विसंष्ठुल बिना क्रमके, गलत, असंगत।
विस्फारित फैला हुआ, विस्तारित।

वीथिका, वीथी	गली, पांत।
वृषभ	बैल, प्रशंसा (उत्तरपद में रहने पर)।
वेदिका	वेदी।
वेधस्	विधाता।
वैतालिक	दरबारी वन्दी, चारण।
वैदग्ध्य	चातुरी, रसिकता।
वैलक्ष्य	लज्जा, अपमान।
व्यग्र	बेचैन।
व्यपदेश	छल, बहाना।
व्यलीक	दुःख, आपत्ति।
व्याज	बहाना।
व्याहार	उक्ति।
शपे	शपथ करती हूं।
शरण	रक्षक, आश्रय, घर।
शातकुम्भ	सोना, सुवर्ण।
शिक्षय	सिखा दो।
शिरस्त्र	जंगी टोपी।
शिलीमुख	वाण, भ्रमर।
शृङ्गक	पिचकारी।
शेखर	शिरोभूषण।
श्यामल	काला।
श्रद्धालु	विश्वासी, आदर करनेवाला।
श्री	लक्ष्मी, शोभा।
संरम्भ	कोप, वेग।
संवाद	सन्देश।
संसक्त	सटा हुआ, आसक्त।
संगीतक	नाच, गान और वाद्य मिलित रूप में।
सघटना	योजना, मिलाना।
सज्ज	तैयार।
सन्धि	मेल।
सन्निवेश	पड़ाव, स्थापन।
समावेशयितुम्	स्थापित करने के लिए।
समुद्गक	बक्सा।
सम्पतन्	एक साथ आता हुआ।
सम्भावन	पा लेना, आश्वासन देना।
सरोरुहिणी	कमलिनी।
सश्रीकता	शोभायुक्तता, रमणीयता।
सहन	बरदास्त करना।
सहभू	स्वाभाविक, जन्मजात।
सामाजिक	नाटक देखने के लिये उपस्थित जन।
सारिका	मैना।
सार्थ	दल, समुदाय।
सावष्टम्भ	गर्व के साथ।
साहसिक	साहसवाला, हठकर्मी।
सिद्ध	जिसे अणिमादि आठों सिद्धियाँ प्राप्त हों वह महात्मा।
सैन्दूर	सिन्दूर से रँगा या सिन्दूर-निर्मित।
स्थगयति	व्याप्त करता है।
स्मेर	विकसित, मुस्कुराता हुआ।
स्वयंग्राह	अपनेसे पकड़ना, आलिङ्गन।
स्वस्तिवायन	आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये दिया गया ब्राह्मणोपहार।
हताश	मुआ, (क्रोधपूर्वक निन्दा में)
हारि	मनोहर।
हास्तिक	हाथियों का झुण्ड।
हुतवह	अग्नि।
हेला	तिरस्कार, अतत्परता।

नोटः—इस कोष में शब्दों के अर्थ वही दिये गये हैं जिससे प्रकरण का समन्वय हो जाय। इसका उपयोग सभी कर सकते हैं। अति प्रसिद्ध शब्द छोड़ दिये गये हैं।